

GOVERNMENT OF INDIA

DEPARTMENT OF ARCHAEOLOGY

**CENTRAL ARCHAEOLOGICAL
LIBRARY**

CALL No. 934.0183 Pan

D. G. A. 79.



Wm. L. Brown M.D.
1862

Wm. L. Brown

Wm. L. Brown

Wm. L. Brown

Wm. L. Brown
1862

विद्याभवन राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला

२५



विक्रमादित्य

[संवत्-प्रवर्तक]



लेखक

डॉ० राजबली पाण्डेय, एम. ए., डी. लिट्.

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति तथा पुरातत्व विभाग
और प्राचार्य, भारतीय महाविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

25-10-72
For

चौरवम्बा विद्याभवन वाराणसी-१

सं० २०११]

[ई० १९९०]

MANOHAR LAL

General & Foreign Book-Sellers

22, 1st Floor, 1st Cross, Old, P.O.

प्रकाशक—चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

मुद्रक—विद्याविनायक प्रेस, वाराणसी

प्रथम संस्करण, संवत् २०१६

CENTRAL ARCHAEOLOGICAL
LIBRARY, NEW DELHI.

Acc. No. 179/3

Date 11.3.68

Call No. 934. P183/Pan

व्याख्यान दुरहित

The Chowkhamba Vidya Bhawan
Chowk, Varanasi-1 (India)

1993

समर्पण

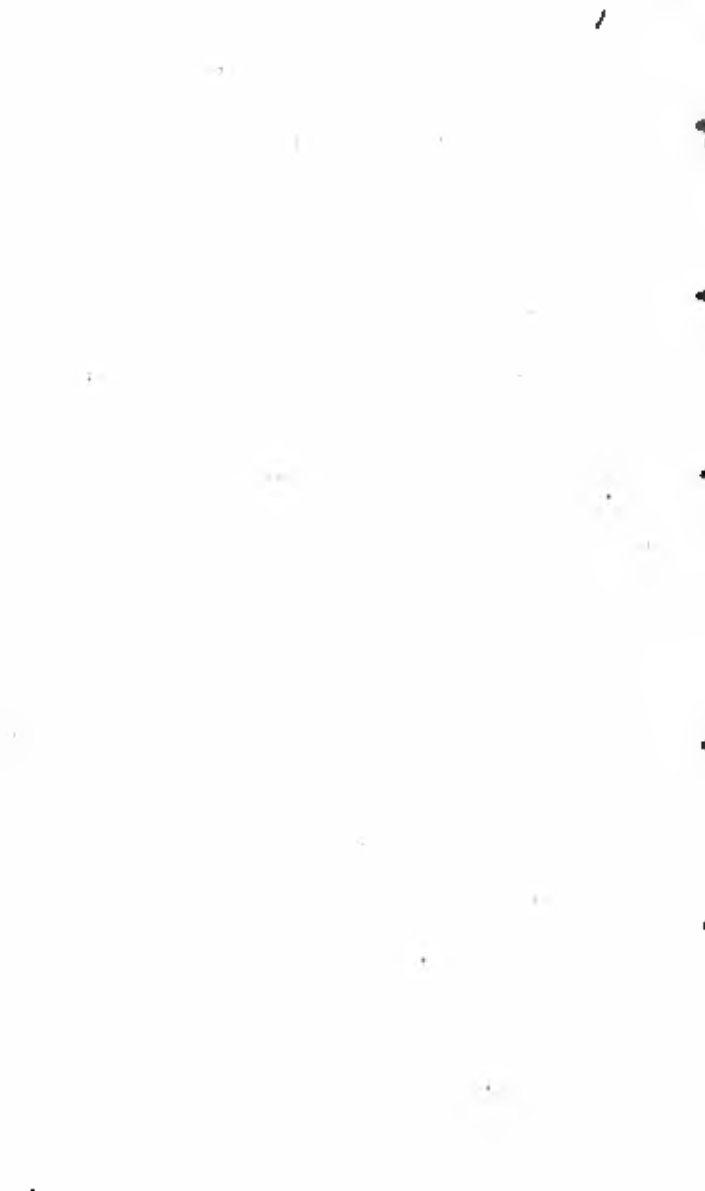
स्वतन्त्रता

के

अतीत, वर्तमान तथा भावी

संरक्षकों

को



आमुख

प्रस्तुत ग्रन्थ का मूल एक विचारगोष्ठी में निहित है। अखिल भारतीय ग्राम्य विद्या-परिषद् (आल-इण्डिया ओरियण्टल कॉन्फेस) का तेरहवाँ अधिवेशन (१९५३ ई०) वाराणसी में हुआ था। इस वर्ष विक्रम-संवत् की दो सहस्राब्दियाँ पूरी हो रही थीं। 'कॉन्फेस' के तत्वावधान में उक्त गोष्ठी का आयोजन हुआ था, जिसका विषय था 'विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता।' लेखक ने भी गोष्ठी में भाग लिया था। उसका यह मत था कि ईसा-पूर्व प्रथम शती में विक्रमादित्य हुये थे, जिन्होंने, पीढ़े अपने नाम से प्रतिष्ठित, विक्रम-संवत् का प्रवर्तन किया; उनके अस्तित्व की अस्वीकार करने अथवा 'विक्रमादित्य' विरुद्धारी किसी परवर्ती मृपति से उनकी अभिषेकता सिद्ध करने में किञ्चित् भी औचित्य नहीं है। गोष्ठी के विचार-विमर्श से उत्साहित होकर लेखक ने विक्रमादित्य की घटिल एवं गूढ़ समस्या-विषयक अपना अनुसंधान जारी रखा। उसी वर्ष लेखक का अंग्रेजी में लिखा हुआ 'विक्रमादित्य के व्यक्तित्व और शासन-सम्बन्धी ऐतिहासिक तथ्य' नामक निबन्ध भारतवर्ष के मुख्य इतिहासकारों के निर्णय पर, 'जन्मभूमि', बम्बई द्वारा आयोजित प्रथम 'अखिल भारतीय विक्रम पुरस्कार' से पुरस्कृत हुआ। तभी से विक्रमादित्य की समस्या लेखक के मस्तिष्क में घूमती रही। छ-सात वर्षों के सतत अध्ययन एवं चिंतन के परिणामस्वरूप 'विक्रमादित्य आफ् उज्जयिनी : काउपडर आफ् दि विक्रम एरा' (उज्जयिनी के विक्रमादित्य : संवत्-प्रवर्तक) नामक ग्रन्थ अंग्रेजी में १९५१ ई० में प्रकाशित हुआ। उसी का हिन्दी रूपान्तर इस समय प्रस्तुत हो रहा है।

विक्रमादित्य भारतवर्ष के अतीत के सर्वाधिक प्रतिष्ठित और लोकप्रिय पुरुष हैं। भारतवर्ष के महाकाव्यों में रामायण और महाभारत के महान् नायकों-राम और कृष्ण-के अतिरिक्त कोई भी दूसरा व्यक्ति विक्रमादित्य के समान जन-साधारण में समादृत और स्मृत नहीं है। विदेशी आक्रमण के विरोध में उनके द्वारा देश की स्वाधीनता की रक्षा, उनकी सैनिक एवं राजनीतिक उपलब्धियाँ, उनका आदर्श शासन, उनका अनुपम न्याय-विवेक तथा साहित्य एवं कला के प्रभव में उनकी उदार-हृदयता ने

उनके नाम को अगर बनाकर केस के नाम-नाम से प्रतिष्ठापित कर दिया है।

विश्व के अन्य महान् हुत्नों की भाँति विकलादित्व का इतिहास भी अपनी महत्ता एवं लोकप्रियता से ही बाधित हुआ है। उनकी उपलब्धियों सामान्य मानवीय बुद्धि का अतिक्रमण कर गयीं हैं, जिसके कारण लोगों ने उनकी देवोत्पत्ति का प्रारम्भ कर दी। बर-मूत्रा के नाम ने विकलादित्व के प्रशंसकों को उनके यथार्थ हुत्न के प्रति भी उदासीन एवं अनभिज्ञ बना दिया। यद्यपि उनके विषय में विपुल ऐतिहासिक सामग्री का जमाव नहीं, किन्तु शताब्दियों के प्रवाह में उनके अनुपम व्यक्तित्व के चारों ओर अनेकों रत्न-कामधे-कुछ तत्व, कुछ गद्दी हुई, कुछ काल्पनिक, कुछ विचित्र और कुछ असंभव भी-संचलित हो गयी हैं।

विकलादित्व-विषयक इन उत्पत्तियों से हुए कथा-वक्तों ने आधुनिक इतिहास-कारों को तो भ्रमभीत कर ही दिया और विकलादित्व के अस्तित्व के विषय में भी शंका उत्पन्न कर दी। उन्होंने सोचा कि विकल-संसार का संस्थापक उन्मत्तियों का विकलादित्व लोगों का एक अन्ध-विश्वास है। उन्होंने इन कथाओं को विपुल इतिहास का सोल मानने से ही इनकार नहीं किया, इन कथाओं में दबे हुए ऐतिहासिक तथ्यों को भी अमान्य ठहराया। वैज्ञानिक इतिहासकारों में परम्परा मानित विकलादित्व के विरुद्ध एक धर्मसुख सा कल पड़ा और विकलादित्व की ऐतिहासिकता के एक में कुछ भी कहना इतिहास-विज्ञान के विरुद्ध एक अवरोध समझा जाने लगा। परम्परा के प्रभाव ने तो भी प्रचुरागार से विकलादित्व के अस्तित्व को मानने के लिए उन्हें विवश किया, यद्यपि वे उनकी अभिप्राय भारतवर्ष के परवर्ती इतिहासविदित विकलादित्वों से करते थे।

यहाँ यह स्पष्ट रूप से कह देना आवश्यक है कि ऐतिहासिक तथ्यों के अनुसन्धान में विकलादित्व-तन्त्रन्त्री सभी परम्पराओं और साहित्य को विचार के अयोग्य ठहराकर उनका लक्षणन एवं सत्य के प्रति अभ्यास तो है ही, इतिहास-कला के प्रति भी अत्याचार है। प्राचीन अतीत में इतिहास और कथाएँ प्रायः मिल जाती हैं। आज भी व्यक्तियों और घटनाओं के सम्बन्ध में कथाकथाओं एवं पौराणिकता की सत्ता मिटी नहीं है। लोगों की कल्पना और मानना उनको सदैव लीनित रखेगी। ऐसी परिस्थितियों में ऐतिहासिक तथ्यों एवं सत्य का एक बहुत बड़ा जंश कथाओं और

कहानियों में उलझा हुआ अवका एवं विवेकशील अनुसन्धान की प्रतीक्षा कर रहा है। केवल इसलिए कि उनके चारों ओर कमाये उड़ लड़ी हुई हैं, विक्रमादित्य को काल्पनिक नहीं माना जा सकता। कोई भी इतिहास-प्रेमी उदयन, भोज, पृथ्वीराज, तथा भारतीय इतिहास के अन्य महापुरुषों की ऐतिहासिकता के विषय में इसलिए शंका नहीं करने लगता कि अनेक कथाओं के वे प्रेरक एवं नायक हैं। तब भला विक्रमादित्य को अलग करने एवं कतिपय इतिहासकारों की समक एवं पक्षपात पर उनकी बलि देने में क्या औचित्य है? विक्रमादित्य के इतिहास के पुनर्निर्माण के लिए केवल बड़े विवेक के साथ सामग्री के ज्ञान, संग्रह, विवेचन और उपयोग की आवश्यकता है। यह सत्य है कि विक्रमादित्य-सम्बन्धी अधिकांश सामग्री प्रत्यक्ष स्थूल न होकर साहित्यिक एवं परम्परामूलक है। किन्तु अतीत के पुनर्निर्माण में साहित्य और परम्परा का अपना मूल्य और स्थान है। इतिहास में परम्परा के महत्त्व के विषय में ओल्बेनबर्ग के निम्नांकित लेख का उद्धरण असंगत नहीं होगा।

‘एक मौखिक सूत्र, जिसने अनेकों विस्तृततम विवेचनों को पन-भट किया है..... इस बात में निहित है कि वे परम्परा को स्मरण के मुख्यतः जागरूक और फिर वैज्ञानिक रीति से इस प्रश्न का विवेचन करने के बजाय कि क्या कोई गम्भीर आपत्ति इसके विपक्ष में उभरती है, प्रत्यक्ष एवं स्पष्ट रूपसे परम्परा का केवल आलोचक बन के स्पर्शमात्र करते हैं। (इंडियन ऐंथ्रोपमेट्री, विषय १-४-२१०)।

सुगो से चली आयी हुई परम्पराओं के विरोध में जबतक स्थूल और निर्बिवाद तथ्य नहीं प्राप्त होते जबतक उनका परित्याग तर्कों के विरुद्ध और इतिहास को विज्ञात करना है।

विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता के विरोध में दो सबल आपत्तियाँ प्रस्तुत की गई हैं—(१) उनके अस्तित्व पर प्रकाश डालनेवाली पुरालेख एवं मुद्रा-प्रक प्रत्यक्ष सामग्री का अभाव और (२) प्रारम्भ में विक्रम-संवत् के साथ उनके नाम का असम्बन्ध। प्रथम आपत्ति से यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि विक्रमादित्य नाम का कोई भी व्यक्ति नहीं था। नकारात्मक प्रमाण पर आधारित वह निष्कर्ष प्रामाशिक नहीं; क्योंकि प्राचीन भारत के कितने ही प्रसिद्ध व्यक्तियों ने, जिनका अस्तित्व शंका का विषय नहीं, प्रत्यक्षदर्शी इतिहासकार के लिए न तो अभिलेख ही छोड़े हैं और न मुद्राये ही। यह केवल भारतीय इतिहास के लिए ही लागू नहीं,

विश्व इतिहास के लिए भी सम्यक् है। विस्मय, अज्ञानरूप, मरण, चन्द्रगुप्त माव्य प्रभृति भारतीय इतिहास के महान् व्यक्तियों ने भी अपने इतिहास के निर्माण के लिए तथाकथित प्रत्यक्ष सामग्री नहीं दी है। फिर भी उनके अस्तित्व के विषय में कोई शंका नहीं करता। यदि हम इस अनुमान की सत्यता का पूर्णतः स्वीकार करें तो अशोक-पूरे भारत का समस्त इतिहास ही काल्पनिक उद्धार का विषय हमारी कल्पना विषय हो जायगा। यहाँ हम आरंभ संकलन का दना उचित होगा कि यद्यपि विक्रमादित्य विषयक मुख्य निजी मूल प्रमाण अत्यन्त मूल्य नहीं है, तथापि इसकी पु० प्रथम शताब्दी के अर्ध-तत्पर्व समर्थन का दान से सम्बन्धित इस प्रकार के स्थान प्रमाणों का अभाव नहीं है। आरंभ के विक्रमादित्य की सांस्कृतिकता सिद्ध करने से हमारी सहायता करे। अतः विक्रम संवत् की प्रारम्भिक शताब्दियों से उसके साथ विक्रमादित्य के नाम के सम्बन्ध का प्रश्न है। यह आरंभ दन योग्य है कि केवल विक्रम-संवत् के साथ ही गया नहीं है। शक संवत् अपने प्रचलन के ५०० वर्षों से पहले ही जाकर इस नाम से आरंभित हुआ, इसके पूर्व केवल 'गर्ग' से उसका निर्देश होता था। गुप्त-संवत् का काल भी इससे भिन्न नहीं है। गुप्त-संवत् २२१ तक के पश्चात् निर्देशों से ही (गर्ग १० से अथवा २२१ की पूर्वी) उन्हें दस निर्देश 'वर्ग' से निर्दिष्ट करने, सीमांत निर्देश केवल संवत् कहने तथा केवल तीन निर्देश गुप्त-काल की संज्ञा देने हैं। कौन कह सकता है कि गुप्त-संवत् की स्थापना किसी गुप्त कृति से नहीं की तथा शक-संवत् किसी शक (या साक्य) कृति से नहीं प्रचालित किया। विक्रम संवत्-विषयक महत्त्वपूर्ण प्रमाण भी नहीं मिल सकता कि इनकी स्थापना विक्रमादित्य द्वारा नहीं हुई थी। ईसवी सन् के साथ भी ऐसा काल ५६१ वर्ष का बाद जुड़ा।

इस पक्ष में अतिथि, लोक-कथाओं, बाह्य साहित्य की परम्पराओं, जैन-परम्पराओं, पुराण, एशिया में आरंभ-संस्कृति के इतिहास तथा प्राचीन भारत के गुप्त साहित्य आदि विभिन्न प्रकार के साक्ष्यों के अध्ययन पर विक्रमादित्य के इतिहास की समसामयिक सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन के पुनर्निर्माण का एक प्रमाण दिया गया है। इन साक्ष्यों की विश्वसनीयता एवं उनके उपयोग की प्रामाणिकता पर यथास्थान विश्वास किया गया है। यहाँ यह कथनीय है कि प्रस्तुत लेखक विक्रमादित्य की विक्रमादित्य का

समकालीन मानता है तथा ईसा पू० की प्रथम शताब्दी के समाज एवं संस्कृति के विमर्श के लिए उसने कालिदास के मन्त्रों का उपयोग किया है।

मोटे तौर पर सम्पूर्ण मन्त्र का विभाजन तीन भागों में किया जा सकता है। प्रथम दो अध्यायों में विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता की सविस्तर विवेचना है, क्योंकि विक्रमादित्य के इतिहास का यह पक्ष अब भी सर्वाधिक विवादमय है। तीन से आठ तक के एवं चौदहवें अध्यायों में न्यूनाधिक रूप से उनके वैयक्तिक आर शान्तकीर्ण इतिहास तथा शेष में समकालीन इतिहास का वर्णन है। इस प्रकार प्रस्तुत ग्रंथ ईसा पूर्व की प्रथम शताब्दी के इतिहास का, जो भारतीय इतिहास के कतिपय सर्वाधिक अन्धकारपूर्ण युगों में से एक रहा है, पर्याप्त रूप से, पुनर्निर्माण उपस्थित करता है।

लेखक डा० रमेशचन्द्र मजुमदार के प्रति अपनी हार्दिक शान्तिता प्रकट करता है, जिन्होंने इस मन्त्र के अंशों की संस्करण में विशेष रुचि लेने के साथ-साथ उसका प्राक्कथन लिखने की भी इत्सा की थी, लेखक उन सभी लोगों के प्रति भी कृतज्ञता प्रकट करने में प्रसन्नता का अनुभव करता है, जिन्होंने विक्रमादित्य की मयम्बा के समाधान में योगदान दिया है, क्योंकि उनके उस प्रारम्भिक कार्य के बिना इन ऐतिहासिक चित्र का पुनर्निर्माण सम्भव नहीं था। स्व० डा० अनन्त सदाशिव अल्लेकर, तथा स्व० प्रो० एस० बी० पुन्नाभेकर से प्रेषण एवं आलोचना के रूप में मूल्यवती सहायता मिली थी। लेखक उनका विरोधरूप में ऋणी है। डा० रमेशचन्द्र त्रिपाठी, भूतपूर्व प्राचार्य मंडल हिंदू कला तथा अभ्युदय, इतिहास विभाग, काशी विश्वविद्यालय से मध्याह्नक आकस्मिक परामर्श मिलता रहा है। हिन्दी संस्करण की १२वां प्रति तैयार करने में कृपण शिष्य एवं मित्र धीरचन्द्रभास पाण्डेय एस० ए०, श्रीधरगंगाधर सिंह एन० ए० तथा श्री लक्ष्मीकान्त त्रिपाठी एम० ए० से विशेष सहायता मिली। इनके सिधे लेखक उनका आभारी है। श्री चोन्ध्या त्रिपाठी मदन, बंगाली न इस ग्रंथ का प्रकाशन बड़ी प्रसन्नता और श्रद्धा के साथ किया, एतदर्थ यह उसका कृतज्ञ है।



विषय-सूची

प्रासुख

प्रथम अध्याय : विक्रमसिंह का राज्य	..	१
(१) संवेदनाद निराकार	..	१
(२) विक्रम संवत् का शासन	...	१
(क) चारसिया	..	४
(ख) हुस, मालम तथा विक्रम संवत् का ऐक्य	..	४
(३) पूर्ववर्ती राज में विक्रम संवत् के समाप्त का कारण	...	७
(१) लोकाधिक कला	..	१०
(२) साहित्यिक परम्परा	..	११
(क) भाषाशास्त्र	..	१५
(ख) वृहत्कला	...	१५
(ग) वृहत्कला-मंजरी	..	१५
(घ) कलाधरितागर	..	१६
(ङ) वृहत् कला साहित्यिक ग्रन्थ	...	११
(५) मुद्राओं का शासन	..	१२
(६) जैनों की साहित्यिक अनुभूति	...	१४
(अ) पद्मचक्रों का शासन	...	१४
(आ) जैव इतिहास का शासन	..	१५
(इ) प्रभावक-धरित	..	१६
(७) भारतीय मुद्राशास्त्र का शासन	..	११
(अ) अभिलेखों का शासन	..	११
(आ) मुद्राशासन	..	१७
(८) मालों के इतिहास का शासन	..	१८
(९) राज-प्रशासन का शासन	..	४१
(१०) राज इतिहास और जैन साहित्य	..	४४
(११) निष्कर्ष	...	४५

द्वितीय अध्याय : कुछ प्रचलित मतों की समीक्षा	४४
(१) पर्युसन का सिद्धान्त	४७
(२) कोलहार्न का सिद्धान्त	४८
(३) कनिंघम तथा स्पीड का मत	४९
(४) माशील का सिद्धान्त	५१
(५) गोशम ग्रन्थर का सिद्धान्त	५२
(६) लायसमान का सिद्धान्त	५४
(७) अण्डारकर का सिद्धान्त	५५
तृतीय अध्याय : उत्पत्ति तथा माता-पिता	६८
(१) गर्दभिक्षा	६८
(२) गर्दभिक्षा, मातृओं की एक राका	६९
(३) मूलमंत्र : गर्दभिक्षा	७१
(४) मातृओं की उमर। सम्भावित सम्बन्ध	७०
(५) विदेशी मूल का प्रभाव	७१
(६) विक्रमादित्य के माता-पिता	७२
चतुर्थ अध्याय : जन्म तथा प्रारम्भिक जीवन	७५
(१) वृद्धभूति	७५
(२) विक्रमादित्य का जन्म	७६
(३) मातृ और पिता	७७
(४) शिक्षा	७८
(५) विवाह और पत्नियों	७९
(६) एक महती विपत्ति	८१
(७) भारतपर्यं में प्रथम शाक-शासन	८०
(८) वैरा-विष्कासन तथा गर्दभिक्षा महेन्द्रादित्य के कष्ट	८१
(९) विक्रमादित्य की बुद्धि तथा शक्ति-संचय	८१
पंचम अध्याय : अश्वत्थी की पुनर्प्राप्ति तथा मालवगण की स्थापना	८३
(१) वृद्ध-संकल्प	८३
(२) मालव गण की जीवित थे	८३

	६४
(३) मालों के मित	८४
(४) संघ-निर्माण	८७
(५) शक्तों का विष्कासन	८८
(६) राष्ट्रीय संघर्ष का प्रवर्तन	८९
(७) विजय मुद्राओं का प्रवर्तन	९०
पाठ सभायाय : राज्यारोहण तथा उपाधियों	९१
(१) विक्रमादित्य का नेतृत्व	९१
(२) राजतान्त्रिक उपाधियों विविध	९१
(३) विक्रमादित्य को उपदेश	९१
सप्तम अध्याय : युद्ध तथा प्रभुत्व—	९३
(१) शक्ति आक्रमणों से युद्ध का निवारण	९३
(२) युद्ध तथा विजय के साहित्यिक वर्णन	९८
(३) विजित प्रदेशों और लोगों का प्रमोदरण	१००
(४) विस्तृत विजय की सम्भावना	१०१
(५) भारत के बाहर आक्रमण	१०१
(६) अभिमान-पथ	१०३
(७) विक्रमादित्य के विजय सम्भावना पर शिष्यता	१०६
(८) राष्ट्र के विविधता से तुलना	१०७
(९) विक्रमादित्य के विविधता के समानान्तर उदाहरण	१०९
(१०) विक्रमादित्य के युद्धों का अन्त	११०
अष्टम अध्याय : विक्रमादित्य के समकालीन राज्य	११२
(१) अन्तर्जातीयिक विषय	११२
(२) राज्य के मूलधार	११२
(३) राज्य का संविधान	११३
(४) राजतन्त्रों का संघ	११५
(५) राज्य के भाग	११७
(६) राज्य-प्रभुत्व	११६
(७) आदर्श	११७

		पृष्ठ
(८) गुण-विमर्शा	***	११८
(९) कर्तव्य	***	११८
(१०) मन्त्रिपरिषद्	***	११९
(११) केंद्रीय शासन का संगठन	**	११९
(१२) प्रादेशिक विभाग	***	१२१
(१३) राजमकर-सम्बन्धी प्रशासन	**	१२१
(१४) म्हाय का प्रशासन	**	१२२
(१५) सैनिक प्रशासन	***	१२५
(१६) कारागृह प्रशासन	***	१२९
१७) राज्य की वैदेशिक नीति	*	१३२
सप्तम अध्याय : सामाजिक जीवन	*	१३५
(१) सामाजिक संगठन	*	१३५
(१) (क) जात	***	१३५
(ख) क्षत्रिय	***	१३६
(ग) वैश्य	***	१३७
(घ) शूद्र	***	१३९
(ङ) संस्कार वर्ग	***	१३९
(क) सम्बन्ध व्यवस्था समान की सीमा के बाहर रहने वाली जातियाँ		१४०
(१) जाति व्यवस्था	***	१४५
(२) विवाह व्यवस्था	***	१४६
(३) वैवाहिक जीवन का आदर्श	*	१४७
(४) समाज में स्त्री का स्थान	*	१४८
अष्टम अध्याय : धार्मिक जीवन	*	१५४
(१) भूमिध	***	१५४
(२) वैदिक धर्म	***	१५४
(३) वैदिक धर्म में नई प्रवृत्तियाँ	*	१५९
(४) ब्राह्मण-सम्प्रदाय	**	१५९
(अ) बौद्ध सम्प्रदाय	*	१५९

	पृष्ठ
(आ) वैष्णव सम्प्रदाय	१६०
(इ) शैव सम्प्रदाय	१६२
(५) जैन धर्म	१६४
(६) बौद्ध धर्म	१६६
(७) विक्रमादित्य का व्यक्तिगत धर्म	१६९
दशमोऽध्याय : भाषा और साहित्य	१७७
(१) भाषा	१७४
(२) साहित्य एवं ज्ञान की विभिन्न शाखाएँ	१७५
(३) विक्रमादित्य का ज्ञान और साहित्य की प्राप्ति देना	१७७
(४) विक्रमादित्य और उनके रचयिता	१७८
(५) युग की साहित्यिक कृतियाँ	१८१
(६) बौद्ध साहित्य	१८८
(७) जैन साहित्य	१९१
अध्याय : वास्तु और कला	१९३
(१) वास्तुशास्त्र	१९३
(२) वास्तु	१९३
(३) मूर्तिकला	१९६
(४) चित्रकला	१९८
(५) संगीत	२००
(६) नृत्य	२०१
(७) रंगशास्त्र	२०२
(८) साहित्यिक तथा कलात्मक कार्यों की पृष्ठभूमि	२०४
अध्याय : आर्थिक दृष्टि	२०५
(१) अर्थशास्त्र की भौतिक दृष्टि	२०५
(२) प्रथम शतक अभिमान तथा उसके आर्थिक परिणाम	२०६
(३) विक्रमादित्य द्वारा आर्थिक पुनर्स्थापना	२०६
(४) विभिन्न प्रकार की पृष्ठभूमि	२०६
(५) कृषि	२०७

	पृष्ठ
(६) समान-कला	२१०
(७) वल	२१२
(८) कृमि कवचा काकार	२१३
(९) पशु-पालन	२१४
(१०) लक्ष्मी और व्यवसाय	२१६
(११) धन	२१७
(१२) व्यापार तथा वाणिज्य	२१८
(१३) अधिपक्षीय तथा कुषीद	२१९
(१४) विविध तथा कलार्थ (कौटिली)	२२३
चतुर्थः अध्यायः : उपसंहार	२२४
(१) विजयसिंह के अंतिम दिन	२२४
(२) विजयसिंह के जीवन की प्रमुख विशेषतायें	२२८
(३) एक आदर्श शासक	२३०
(४) कला तथा संस्कृति के अक्षयकाल	२३१
(५) बहुमुखी तथा अपूर्व व्यक्तित्व	२३१
(६) विजयसिंह एक कावर्त्त	२३२
प्रथम परिशिष्ट : प्रभावक-वर्तित का कालकावर्त्तप्रबन्ध	२३२
द्वितीय परिशिष्ट बुद्धकथामेंगरी का विषयशील-सम्बन्ध, प्रथम गुण	२४४
तृतीय परिशिष्ट कथासहितसुगन्द का विषयशील सम्बन्ध, प्रथम तन्त्र	२४६
प्रमाण ग्रन्थ-सूची	२४५
अनुक्रमिका	२४६

विक्रमादित्य

[संवत्-प्रवर्तक]

प्रथम अध्याय

विक्रमादित्य का काल

१. संदेहबाध निराधार

अति प्राचीन एवं विस्तृत कथ से प्रचलित भारतीय अनुश्रुतियों में प्रथम वाली ईस्वी पूर्व की विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता में अमन्य अनादर के साथ सन्देह किया गया है। संदेहवादी एवं स्वतन्त्रता की भक्ति कर देनेवाले इतिहासकार या तो उसका अस्तित्व ही नकारा करते हैं अथवा विजय संवत् का प्रवर्तन तथाकथित ऐतिहासिक पद्धति से प्राप्त प्राचीन भारतीय गणना में से किसी पर श्रेय देने का प्रयास करते हैं। यह संदेहबाध विक्रमादित्य तथा उसके संवत् की समस्या से संलग्न प्राथमिक अन्वेषण कार्य पर पतला आधारित नहीं है जिसका उन्नीसवीं सदी के युरोपीय प्राच्य-विद्वानों द्वारा उठाये गये अनुमानों पर, जिसका कुछ भारतीय इतिहासकारों ने भी बड़े विश्वास के साथ विज्ञापन किया है। आगामी पृष्ठों में यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि वे अश्वमेधयज्ञ तथा संदेहबाध एवं प्राच्य साधनों के आधार पर प्राथमिक सिद्ध नहीं होते, अपितु वे बहुत ही दुर्लभ हैं। विक्रमादित्य-सम्बन्धी भारत की दृष्टिकोण परंपराओं को भी ही नहीं उजागर जा सकता; वे विक्रमादित्य के प्रथम वाली ईस्वी पूर्व के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त विश्वसनीय एवं पुष्ट प्रमाण प्रस्तुत करती हैं।

२. विक्रम संवत् का साक्ष्य

विक्रमादित्य के अस्तित्व पर प्रकाश डालने वाला सर्वाधिक स्पष्ट, पुष्ट तथा औचित्य प्रमाण उन्नीसवीं के द्वारा प्रचलित विक्रम संवत् है। भारत में अन्य संवत्‌ों का भी प्रचलन रहा है। चंद्रमण्ड, सप्तमि संवत् (मन्त्रों से संबंधित), कलि संवत् (कलि के मारुत से दूर होने वाला संवत्), बुधिर संवत्, भातम् संवत्, पुत्र संवत्, भौष संवत्, शक संवत्, कनिष्क संवत्, एत

- (२) छोटा राज्य में उपलब्ध ब्रह्म-यूप-अभिलेख की तिथि कृत संवत् २९५ है^१।
- (३) उदयपुर राज्य में उपलब्ध बरनाल के धूप-अभिलेखों की तिथियाँ २८४ तथा ३३५ संवत् है^२।
- (४) भरतपुर राज्य में उपलब्ध विजयगढ़-अभिलेख की तिथि ३९२ कृत संवत् है^३।
- (५) साकवा में उपलब्ध मन्दसोर (प्राचीन ब्यापुर) के अभिलेख की तिथि कृत संवत् ३६१ है^४।
- (६) राजपूताना में ग्राह गंगधारा-अभिलेख की तिथि कृत संवत् ४८० है^५।

- (७) नगरी अभिलेख की तिथि ४८१ कृत संवत् है।^६

संवत् ४६१ के पश्चात् ५३६ तक इस संवत् का नाम मालवगण संवत्, मालवों का संवत् अथवा मालवेयों का संवत् रहा :

- (१) ४६१ के मंदसोर लेख में संवत् का नाम कृत तथा मालव दोनों हैं^७।
- (२) कुमारगुह के मंदसोर अभिलेख में तिथि मालवगण संवत् में है^८।
- (३) बसोभर्मन के मंदसोर के अभिलेख की तिथि मालवगण संवत् ५८९ है^९।
- (४) छोटा राज्य में उपलब्ध विजयगढ़ के कनकवा अभिलेख की तिथि 'मालवेयों के संवत्सर' में है^{१०}।

१. कृति दि। कृति। २०० + ९९ + ५ फागुन शुक्ल ५ द० ३०, भा० २६ पृष्ठ ४६।

२. कृति दि ३०० + ३० + ५ अश्वि (पौष) शुक्ल पञ्चम्या।

३. कृतिपु बार्जुनवर्षसतेष्वधिविद्येयु ४०० + ३९ + ८ काष्ठ्युनवसुतस्य पञ्चदशमेतस्वी पूर्वाषाढ्

४. श्री मालवगणनाते पञ्चरते कृतसंविदि।

५. पाठेषु बार्जुनवर्षसतेषु

६. कृतिपु बार्जुनवर्षसतेषु.....

७. अस्मिन्मालवगणनाते पञ्चरते कृतसंविदि, फ़ोर्ट + कारपस इतिपुस्तकम् इतिमेरम, भाग ३, सं० ३३।

८. मालवानां गणविश्या याते कृतचतुष्टये। नदी सं० ३४

९. मालवगणविश्वामित्राकाकाननाम विहितेषु।

१०. संवत्सरसतेयति.....मालवेयानां ३० दस०, भा० २९, पृ० ५९।

संस्कृत के नाम से अभिहित किया गया? किन्तु इस प्रश्न का उत्तर नहीं करके का दिया का कहता है जो इस प्रकार है।

(५) पूर्ववर्ती काल में 'विकास' नाम के अन्वय का कारण

विकासहित, ऐसा कि बाद में स्पष्ट होगा, केवल सामान्यतया ही है, विरुद्ध दार्शनिक नाम नहीं है^१। यद्यपि सामान्य संस्कृत की स्थापना में उन्होंने का हाथ था, किन्तु उसके संस्कारण का संस्कृत ओर से न हो सकते थे। सामान्यतया सामान्यतया में नाम (सामान्यतया) ऐसा ही अधिक महत्वपूर्ण है, चाहे वेदा विज्ञान की प्रमाणिकता की क्यों न हो। महत्वपूर्ण सिद्धियों के—वशा, पुत्र में सम्मिलित आदि—संस्कृत अनन्त का भाग होता था। यदि एक व्यक्ति अनेक संस्कृत वश का भागी बनने की चेष्टा करता तो सम्भवे में ही नहीं होनी पड़ी होती। ऐसी परिस्थिति में संस्कृत का नाम सामान्यतया का दिया गया किन्तु प्रत्यक्ष विकासहित है। यह संस्कृत सभी पर साक्ष्यों के विकास के उपक्रम में स्थापित किया गया था। सर्वर सभी के विकासित के एक विशेषी सामान्य के कुछ हुआ तथा इस में कालि एवं कालि के पुत्र का प्राप्ति हुआ किन्तु सामान्यतया भाषा में इस 'कुलपुत्र' (कर्णपुत्र) का कहते हैं। इसविषय प्राप्ति में इस संस्कृत का नाम कुल संस्कृत कार्यक ही था।

हिन्दू-संस्कृत में कुल केवल विधि-कालिक विभाजन नहीं है यद्यपि एक वैदिक विचारपूर्ण रूप ही है जो कुल-सम्पत्त एवं वैदिक-पुत्र की ओर संकेत करता है। वैदिक सामान्य में एक कोष के यही यद्यपि विकास है। कोष का अनुपात इस प्रकार किया का कहता है : सम्पत्त करता हुआ (सम्पत्त) कालि है, संभाई केतु हुआ हावर, वज्रता हुआ वैसा भी सम्पत्त हुआ कुल है।^२ किन्तु पुत्र में, भारतीय सामान्यतया के केवल में यह सभी हुए भी उन्होंने इस के स्थापन सभी के विकास और किया तथा अपने विकास-काल का अनुपात ही किया, निमित्त ही यह पुत्र 'कुल' पुत्र के नाम से अभिहित होने योग्य था।

भारत विदेशी सामान्यतया के कुछ और १३५ वर्ष तक (५० ई० पूर्व से लेकर ७८ ई० तक) सम्पत्त काल सम्पत्ति औरता रहा। इस काल के सम्पत्त सभी के पुत्र सामान्यतया करता प्राप्ति कर दिया तथा इस में किसी

१. यह भीर अन्त सम्पत्त देखिये।

२. कालि सम्पत्ति सम्पत्ति सम्पत्ति हावर:

विकसित सम्पत्ति कुल सम्पत्ति कर ११, ७, १५.

ई० से प्रारंभ होता है। किन्तु उस स्वातंत्र्य की भावना, जिसके लिए कभी साक्षात् कहा था, अब भी राजपूताना तथा माछवा के जन-जन के चरित्र में गूँज रही थी। उन्होंने गुप्त साम्राज्य के अधीन होते हुए भी अपना साक्षर संवाद जारी रखा। यहाँ तक कि महाम् लज्जाद् कुमारगुप्त को भी उस क्षेत्र में साक्षर संवाद को ही मान्यता देने के लिए बाध्य होना पड़ा।^१ बड़ी सती से हमों ने गुप्त साम्राज्य को नष्ट कर दिया और अब भारतीयों की 'कुल' पुनः की भाषा विकसित समाप्त हो गई। भारतीय गुप्तों को भूल गये किन्तु साक्षर अब भी उनकी स्मृति में बसे हुए थे, क्योंकि उनका इतिहास हिंदी सामान से उत्पन्न होने, उनके राजनीतिक आदर्श, इसके लिए उनके चरित्र, उनकी दुर्गम कठिनाईयों तथा उनके साक्षर विक्रमादित्य के उदात्त व्यक्तित्व से उनका इतिहास मान्य हो गया था। गुप्तों का साम्राज्य समाप्त हो गया पर भारतीयों का संवाद जीवित रहा तथा साक्षरजन-संवाद (साक्षर के लोग अथवा साक्षर के स्वामी) के नाम से अभिहित रहा।

आर्यों तथा बर्षों सती से कायम भारत में गिरावट राजतंत्र की अपने सर्वोच्च चरम में एक स्थापना हो गयी, राजनीतिक राज्य-व्यवस्था की कल्पना भारत के सामाजिक चरित्र से इस लुकी थी। बर्षों सती से अभिहित युद्ध में साक्षर जन विक्रमादित्य के वास्तव्यताय व्यक्तित्व में कुछ हो गया था, जिसकी स्मृति जन-जन की अब भी अभिभूत किए हुए थी। अतः इस संवाद का नाम अब हमें उनके नाम पर रखा। विक्रमादित्य स्वयं एक राजा माने जाने लगे थे तथा अब राजा विक्रम अथवा विक्रमादित्य के नाम पर ही संवाद भी 'विक्रम संवाद' के नाम से अभिहित हुआ। गणप्रचार से राजतंत्रवाद में परिवर्तन भारतीय जनमानस के लिए एक नयी बात नहीं थी। कुछ बोधों से विद्वानों की शोधक, यह हीन मानता है कि कीकृत एक गणतंत्र के नेता थे तथा कुछ अवधारण के विता भी एक गण-मुख्य थे।

इतिहासकारों में विक्रम संवाद के अभाव का उल्लेख भी सरकारी से विषय का लक्ष्य है। यद्यपि भारतीयों द्वारा लक्षों को प्रथम बार के आक्रमण में हरा कर उनका विष्कासन किया गया था, किन्तु उन्होंने (शकों ने) पुनः ३८ ई० में आक्रमण कर अचली को जीत लिया तथा उज्जयिनी को अपनी राजधानी बनाया।

हम जैनग्रन्थ प्रभावक-चरित से भी जानते हैं कि लक्षों ने लक्ष-संवाद का प्रारम्भ ३८ ई० में किया था। इस समय उज्जयिनी शैविक-अध्यात्म तथा

मिया का महत्त्वपूर्ण केन्द्र थी। ज्योतिषी राज्य शासकियों की भूमिति लक्ष्मी के समक्ष में श्री हनुमन्त में लक्ष्मीकाधिक संख्या में आते थे। इस समय प्राप्त अवस्था में नहीं थे। उत्तर-पूर्व की ओर डेढ़ दिने गये थे तथा ज्योतिषी मण्डी शासकों द्वारा संस्थापित संघ के सम्बन्ध-विच्छेद करने के लिए राज्य थी। तीन ही वर्ष के कठोर कार्य के पश्चात् अब एक जयन्ती तथा शौराह में शासन कर रहे थे, शासक संघ की पुनर्जीवन प्राप्त करने का छोड़ें मार्ग नहीं था। ज्योतिषियों के राजकीय संघ का प्रयोग प्रारंभ में राज्य होकर ही किया किन्तु बाद में यही प्रचलन हो गया। अभी तक कर इस संघ का सम्बन्ध साक्षिवाहन के रूप तथा। इस संघ के साथ साक्षीय वसिष्ठ की आधार भी हो गई। गुप्तों ने जयन्ती को भीता तथा शासन वेद की वर्ष तक नहीं शासन किया। गुप्तों का स्वयं अपना राजकीय संघ था किन्तु ज्योतिषी-जन इस समय तक कटिवाही हो गये थे, अतः उनका साक्षिवाहन-शासक-संघत् ग्रहण किये रहता समाधानिक ही था। उन्होंने अपना कार्य-व्यवहार इसी में किया तथा गुप्त संघ को नहीं अपनाया। अब गुप्तों की शक्ति समाप्त हो गई थी तब भी शासकसंघ प्रचलित था, किन्तु ज्योतिषियों के अपने सिद्धि-मिश्रण का हंग प्रचलन नहीं। यह अवस्था केवल दक्षिण तथा मध्यभारत की ही नहीं थी, तथा कथसंघ विलुप्त कर के प्रचलित तथा लोकप्रिय हो चुका था, किन्तु उत्तरी भारतवर्ष में भी, यहाँ विक्रमसंघ को वर्तमान इलाक़े मिली तथा यहाँ वह व्यापक हुआ, यही अवस्था रही ज्योतिषी तथा मध्य-विश्वान्वेषा अपने लक्ष्यों में सिद्धिनिर्वाह १२ की शक्ति तक भी एक संघ में ही करते आये। इसका प्रमुख कारण साक्षिवाहन-सक-संघ के कटिवाहन और लक्षिक कारण कथित राजनीतिक इति का प्रभाव था।^१

३. लोकप्रिय कथायें

भारत भारत के अत्यधिक प्रसिद्ध व्यक्तियों में विक्रमादित्य ने बहुत ही लोकप्रिय कहानियों को प्रचुर सामग्री दी है। अनामित कथाओं में उनके किसी न किसी रूप में कथा का विवरण बताया गया है। आद्यतन असंस्कृत प्राचीन भी वेद की कथा में बैठता है तथा अपने प्राचीन कोशागम को विक्रमादित्य की कहानियाँ सुनाता है। ये कहानियाँ विक्रमादित्य के जीवन के विभिन्न पक्षों की स्पष्ट करती हैं। उनके राज्य के आधार, अनुपम

१. मार्कण्डेय से केवल गौतम शासक तक ज्योतिषियों के व्यक्तित्व इतिहास आने के किये हुए करके काकी के रूपकर दिनेरी गुप्त 'शासक-राजिनी' देखें।

न्याय, अमित जनसेवा, साहस तथा प्रेम, दूसरों को दुःख तथा अपरति से मुक्त करने के लिए संघर्ष मोक्ष योग तथा उनके जीवन के अन्य बहुत से इन्होंने के लोकप्रिय कहानियों के लिए मेरला तथा अमुर सामग्री प्राप्त होती है। यहाँ यह कहना आवश्यक है कि वे लोकप्रिय हस्त-कथनों तथा किन्नित कहानियों एक दूसरे को प्रभावित करती रही हैं। बहुत ही लोकप्रिय कहानियों को किन्नित साहित्यिक अनुष्ठितियों में रूढ़ि का सकता है। बहुत से ऐसा होता है कि किन्नित कहानियों को बार-बार दुहराने-सुनाने से, लोग इनको नीतिक रूप से ग्रहण कर लेते हैं। इनमें सम्देह नहीं कि लोकप्रिय कहानियों में बहुत सत्यता कम तथा कल्पना का पुत्र अधिक होता है। किन्तु यह भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि कहानीकार तन्हीं के ही अपनी सामग्री लेते हैं। वे केवल कहानियों के ऐतिहासिक तथ्यों को अपनी कल्पना-प्रसृत आवनाओं से अलंकृत कर देते हैं। तब विक्रमादित्य के संश्लिष्ट लोकप्रिय कहानियों का संघर्ष, विभावन तथा आनंदीय होती है तथा इनमें से जनता का दिल जीता जाता है तब वे निरक्षरिण तन्हीं की प्रशंसा करती हैं, किन्तु कुछ ऐतिहासिक प्रमाणों से ही जा सकती है

- (१) विक्रमादित्य के विरा तन्धर्वसेन उज्जयिनी के प्रतापक थे ।
- (२) विक्रमादित्य ने भी उज्जयिनी में शासन किया तथा बड़े-बड़े विजय किये ।
- (३) विक्रमादित्य के समय श्लेष्मी^१ ने भारत पर आक्रमण किया था और उनको हराकर विक्रमादित्य ने अपना संघर्ष जकाया था ।
- (४) विक्रमादित्य का जीवन आहसिक और प्रेमपूर्ण कायों से भरा था ।
- (५) विक्रमादित्य एक आदर्शवादी राजा थे, जिन्होंने जनसेवा के लिए अपने को उत्सर्ग कर दिया था ।
- (६) वे स्वयं भाषों में पारंगत थे तथा काकिदास सरस कवियों के रचक, योगक तथा मेरक थे ।

(७) विक्रमादित्य के एक पुत्र भी था (राजनीतिक ?) जिसका नाम सारवाह्व (सावित्राह्व) था, तथा जिसके लिए उल्लेखितियों में अभिप्रायवाची की थी कि वह अपने पिता से भी पराक्रम, बुद्धि तथा प्रसिद्धि में भागे होगा ।

अपुन्य तन्हीं के समग्र परीक्षण से विक्रमादित्य के इतिहास की बहुत ही महत्वपूर्ण बातें विभाई देती हैं

१ संस्कृत साहित्य में 'श्लेष्मी' शब्द किंदिकियों के लिए प्रुया है प्रुक्त होता था

- (१) प्रथम विक्रमादित्य की पैतृक राजधानी उज्जयिनी थी ।
 (२) उनके समग्र में एक विषय विशेषी आक्रमण हुआ था, जिसमें उन्होंने
 काकमणकारियों को परास्त तथा एक संवत् की स्थापना की थी ।
 (३) विक्रमादित्य दक्षिण के जोधराज सातवाहन अथवा सातवाहन
 (= प्रथम सातकर्णि) के ज्येष्ठ समकालीन थे ।

४. साहित्यिक परम्परा

दिग्गुप्तों ने अपनी क्लृप्त अनुश्रुतियों में विक्रमादित्य का संस्मरण
 तथा इतिहास संक्षिप्त कर रखा है । ये अनुश्रुतियाँ न केवल कोकशिव
 कहानियों को बत देती हैं, अपितु वे विक्रमादित्य के जीवन के सुविस्तृत तथा
 वास्तविक चित्रों की पूर्ति भी करती हैं । कुछ चुनी हुई क्लृप्त अनुश्रुतियों को
 यहाँ रखा जाता है ।

(१) गांधा-सातवाही

विक्रमादित्य के बारे में सबसे प्राचीन क्लृप्त अनुश्रुति प्रतिज्ञान के
 राजा ह्वाल सातवाहनरचित गांधा-सातवाही की है, जिसमें नगर रस के क्लृप्त
 पदों का संग्रह है । इसमें एक श्लोक विक्रमादित्य का उल्लेख करता है ।
 क्लृप्ता अनुवाद यहाँ दिया जा सकता है^१ :

[जयिका, जिसके कारण संवाहन (यथार्थ) से संतुष्ट है और जिसके
 हारों में कष्ट (आक्रमण) विद्यमान है, तुम्हें विक्रमादित्य के आचरण
 का वाद बताती है ।]

हीनाकार शत्रुधर उपर्युक्त श्लोक की व्याख्या निम्नप्रकार से करते हैं :

'विक्रमादित्य के इस संदर्भ में संवाहन का अर्थ है सङ्घर्ष (संवाहन)
 तथा क्लृप्त का अर्थ है क्लृप्त सुधार । विक्रमादित्य अपने शत्रुओं के परास्त
 होने से सन्तुष्ट होकर अपने सेवकों के द्वारा मैं सुधारें देते हैं'^२ ।

उपर्युक्त उद्धरण से आसानी से यह अर्थ निकाला जा सकता है कि जिस
 समय गांधा-सातवाही की रचना हुई, कवियों में यह परम्परा प्रचलित थी कि
 विक्रमादित्य नाम का एक राजा था, जो अपने विजयों तथा उदारता के
 लिए प्रसिद्ध था ।

१. संवाहन सुधारालोचनेन शत्रुधरं तुह करे क्लृप्तम् ।

यत्कलम विक्रमादित्य-वर्णनं अनुसिद्धिस्तु तिल्ला ॥ गांधा ० ५९४

२. पक्षे संवाहनं संवाहनम् क्लृप्तम् कथम् । विक्रमादित्योऽपि भावकर्तृकेन सुद्ध
 सम् वाचनं करे त्वं ददातीत्यर्थः ।

इतिहासकारों ने समानरूप से स्वीकार किया है कि गाथा-सप्तसती का केवल एक सातवाहन प्रथम सती के अन्तिम दिनों में राज्य कर रहा था^१। विक्रमादित्य की प्रतिष्ठा तथा नाम के फैलने के लिए वेद ही वर्षों की पर्याप्त समझे तो उनकी तिथि यही आसानी से प्रथम सती ई० पू० २५० एकी हो सकती है।

डा० आन्डरकर ने डा० सातवाहन के गाथा-सप्तसती के कर्तृत्व तथा गाथा की तिथि प्रथम सती ई० पू० होने में सम्यक् किया है। आपका कथन है कि इसका रचयिता डा० (सातवाहन) राजा था, केवल परम्परा मात्र है। अतः प्राचीन भारतीय साहित्यकारों के सम्बन्धित परम्पराओं की जाँच यह भी स्वाभाविक है वास्तविक ईर्ष-परित की भूमिका का ठीक-ठीक स्वरूप सातवाहन को एक गीत-वीर का रचयिता बताता है, किन्तु वृत्त सम्बन्धता का कोई आधार नहीं कि वह वीर डा० की सप्तसती ही है, जैसा कि प्रो० वेबर ने इस सम्बन्ध में शीक कहा है (अब हम सप्तसतसत्तम दिन डा०, पृ० २-४)।

यह ग्रन्थ का अन्तःसाधन भी सिद्ध करता है कि ग्रन्थ की रचना बहुत बाद में हुई। यहाँ दो बातें ध्यान देने की हैं। प्रथम तो यथोक्त १-८५ में कुल तथा रात्रिका का उपलोक तथा दूसरे, सप्ताह के एक दिन, संक्रान्ति (१-११ में) का प्रयोग। रात्रिका का सबसे प्राचीन उपलोक पञ्चतन्त्र (प्रथम तन्त्र पृ० ३८, नाम्ने संस्कृत सीरीज नं० ४) में दिखाया जा सकता है, जिसका संकलन ईसा की चौथी सती में हुआ है। उसी प्रकार तिथि दिखाने, तथा अन्य सर्वसाधारण कार्यों में दिवसीय के प्रयोग का नहीं सती में सम्भव हुआ, यद्यपि बुधशुक्र के परम के अभिलेख में तिथिप्रयोग का सर्वप्राचीन उदाहरण मिलता है (अ० १०० पृ० लो० १९१२ पृ० ३०४४-४५)। अतः हम लोग यदि डा० की गाथा-सप्तसती की तिथि यही सती ई० के आरम्भ में निर्धारित करें तो अधिक पुष्टिपूर्ण नहीं होगा^२।

अपुन्य उद्गार में डा० आन्डरकर अब भारत के प्राचीन जमीनियों के सम्बन्ध परम्पराओं को हटा देने की बात करते हैं तो वे परम्पराओं के प्रति सर्वपूर्ण रूप नहीं अपनाते। प्रो० वेबर के तर्कों को अपने तर्कों की पुष्टि के लिए जाना ही कोई मूल्य नहीं रखता, जिसके कितने ही सिद्धान्त कामाभर में अमूर्त सिद्ध हुए हैं। गाथा-सप्तसती में कोई असंगति नहीं है, जिसका

१. अ० न० पृ० दूरप्रसारकाकी पृ० ६० भा० १२-पृ० २६० तथा अ० न० पृ० गी० पृ० ओला : प्राचीनभारतिका पृ० १६२ : ये ही यही तिथिस्वीकार की है।
२. रा० गी० मन्डारकर पृष्टि-ग्रन्थ पृ० ६८८-८९।

उत्तर-पूर्व-चरित को देना पड़ता है। वस्तुतः यह उचित पक्षों का क्षेत्र है। हमें अन्य साधनों से ज्ञात होता है कि कुछ सातवाहन माहृत्य साहित्य के बहुत बड़े संरक्षक तथा स्वयं एक बहुत बड़े कवि थे। विष्णुसूक्त का सर रामकृष्ण गोपाळ भाण्डारकर ने भी पूर्व-चरित को सातवाहन की हाथ सातवाहन बताया है। प्रबन्धचिन्तामणि के लेखक मेरुगुप्त तथा कबीर का भी यही मत है।

यहाँ तक गाथा-सप्तशती में शक्तिका के उल्लेख का प्रश्न है यह दिखाया जा सकता है कि कल्पना की किसी उपाय में भी गाथा की तिथि बार में सिद्ध नहीं होती। पूर्व-चरित जहाँ के उल्लेख में शक्तिका के उल्लेख से यह भाव देना आवश्यक नहीं कि यह सर्वप्रथम उल्लेख है। पूर्व-चरित जहाँ में शक्तिका के उल्लेख का वर्ष यह है कि उसके पूर्व ही शक्तिका की मान्यता लोकप्रिय हो चुकी थी तथा किसी कदाभीकार की सामग्री वगैरह प्रयोग का रूप कारण करने के लिए सतिर्वीकरी होगी। अतः असाध्य नहीं प्रतीत होता कि गाथा का सम्प्रदाय प्रथम जहाँ ई० में प्रचलित रहा हो, जिस समय गाथा की रचना हुई। अतः ई० सप्तशती के दिनों के उल्लेख के सम्बन्ध में डॉ० भाण्डारकर यह स्पष्ट स्वीकार करते हैं कि इसका सर्व प्राचीन उल्लेख हनुमत् के दान वाले अभिलेख में होता है। इससे भी प्राचीन अभिलेख, जक-वज्रप, कदाचन के अभिलेख में तिथि जक-संवत् ५२ (१३० ई०) दिन शुक्रवार उल्लिखित है। अतः गाथा-सप्तशती में शक्तिका तथा सप्तशती के विषय का उल्लेख उल्लेखी तिथि कड़ी जहाँ में नहीं बीच जाता, जिससे डॉ० भाण्डारकर के सिद्धांत का प्रमाण हो कि विष्णु संस्कृत का संरक्षक गुप्त राजा द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य था।

१. अभिलेखिनमप्रसन्नमनकरीलसप्तशतीः ।

विष्णुसप्तशतीति। कोट्ट एनेरिष सुभाषितैः ॥

२. श्रीभूवनाकराजस्य राज्ञेय प्रह्लादादिभिः, श्रीन, सरस्वतीकण्ठाभरण (भाण्डारकरः) काव्यादित्यः । दलीखरः)

३. भाष्ये शब्देतिष्वर मास० १, सप्त २, दृ० १० ।

४. दृ० २१ ।

५. जे० कार० दृ० पृष्ठ० १९१६ दृ० ८२०

६. वर्षे दि-पञ्चाशे (५० + २) काष्ठान् शुक्रस्य श्री २ शुक्रवास (२०) तिथिगुप्तस्य कोपकस्य गोत्रस्य । अन्ये मास में प्राप्त, तथा वज्रप की श्रुतिवत् द्वारा तैयार किया गया । प्राचीन भारतीय तिथिमासा दृ० १९८ ।

(२) वृहत्कथा

दूसरा प्राचीन साहित्यिक ग्रन्थ श्री विजयादित्य के प्रथम शती के पूर्व होने का प्रमाण प्रस्तुत करता है वह गुणात्मक द्वारा वैशाखी मास में निहित वृहत्कथा है। यह वृहत्कथा अग्रगण्य है, किन्तु इसका विहित है कि इसका संस्कृत में अनुवाद आदर्शों वाली है। श्री पूर्व हुआ होगा, जिसका विकास श्री परम्पराओं में हुआ—(१) कारमोरी और (२) मेवाड़ी। प्रथम का संस्कृत के दो ग्रन्थों की प्रतिनिधित्व होता है—(१) वैजयन्त की वृहत्कथा-मञ्जरी तथा (२) श्रीमद्देव का कायासरित्सागर। दूसरी परम्परा की केवल एक ग्रन्थ सुरक्षित रहने का सब प्रमाण है। यह ग्रन्थ है वृहत्कथा का श्रीमद्देव-संस्कृत, जिसका सम्पादन आर्त्तश्री कॉलेज ने किया है। यदि हम ग्रन्थों का उचित तरीका तथा गुणात्मक अध्ययन हो तो यह वृहत्कथा की पुनर्निर्मित करना सम्भव है तथा यह सब विचार तथा निष्कर्ष के साथ कहा जा सकता है कि वृहत्कथा में विजयादित्य के जीवन के बारे में सब विचार के साथ करने है। परम्परा के अनुसार गुणात्मक हाक सातवाहन के समकालीन थे तथा उन्होंने उनकी राज-प्रथा को सुलभित किया था। गुणात्मक की स्थिति के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है, किन्तु हम इसे प्रथम या दूसरी शती के साथ जोड़ कर नहीं कर सकते। इस प्रकार वृहत्कथा के द्वारा विजयादित्य के अस्तित्व का प्रमाण शती ई० के पूर्व होने का प्रमाण मिलता है।

(३) वृहत्कथा-मञ्जरी

यह ग्रन्थ त्वाग्दूरी शती में कारमोरी स्थित वैजयन्त द्वारा किया गया था। केवल स्वीकार करता है कि ग्रन्थ गुणात्मक द्वारा प्राचीन ग्रन्थ वृहत्कथा पर आधारित है। हम लोगों ने पहले ही देखा किया है कि गुणात्मक हाक सातवाहन के समकालीन थे तथा उनकी स्थिति प्रथम शती ई० है। वृहत्कथा-मञ्जरी में (१०-१०८-११) विजयादित्य की निम्नलिखित कहाणी है :

‘हृन्द् के मेवुत्त में देवताग्न केकाल पर विराजमान स्थित में यहाँ पहुँचे और उन्होंने कहा : देवाधिदेव ! स्थिति के कुछ असुरों ने, जिसका आपने लंघन किया था, स्त्रीयों के रूप में पुनः जन्म ग्रहण किया है। उन्होंने देवताओं को घस्त कर रखा है। अब केवल आप ही कारण हैं। अगस्त्य किश ने देवताओं की आर्त्तवाणी सुनकर मातृवचन को वृन्दी का नाम उतारने की आज्ञा दी। मातृवचन प्रथम तो हिचकिचाया, किन्तु स्थिति की आज्ञा तथा पार्वती की प्रेरणा पाकर उसने उग्रविनी के वैभवतापी अविरति महेन्द्रादित्य के पुत्र के

रूप में अवतार धारण किया। उज्जयिनी के अधिपति को स्वयं में इस समाचार से अवगत कराया जा चुका था। पुनरोत्थति के पश्चात् पुनः का नाम विक्रमादित्य तथा विजयनाथक रखा गया। कालान्तर में यह कति सन्निधायी, नसोमिधि तथा समस्त ज्ञान का संरक्षक हुआ। × × × विक्रमादित्य ने अवस्था धारण श्लेषकों का संहार किया।^१

कदाची के साधारण पाठकों को रोचक लगने योग्य बृहत्कथामञ्जरी के उपर्युक्त अवतरण में इस मानवीय तथा अतिमानवीय दोनों तथ्यों का समावेश पाते हैं। किन्तु अतिमानवीय को, जिसका वर्णन महापुरुषों के सम्मकाक को चित्रित करने के लिए किया जाता है, दृष्टा देने पर मानवीय एवं ऐतिहासिक तथ्यों का विकसित होना हमारे सम्मुख आ जाता है :

(अ) विक्रमादित्य के पिता महेन्द्रादित्य थे, जो उज्जयिनी में नासक करते थे।

(आ) विक्रमादित्य के नाम के पूर्व शेष को विदेशी आक्रमण का भय था।

(इ) चरित-नाथक का नाम विक्रमादित्य था तथा उनका विरह विजयमहील था।

(ई) जननी का कीर्तियुक्त धर्म सौचरम था।

(व) जब विक्रमादित्य अवस्था धारण करे हुए तो उन्होंने विदेशी आक्रमणकारियों को हराया तथा उनको हथ ले करके दिया :

कदाची के अतिमानवीय तथ्यों से भी विकसित ऐतिहासिक तथ्य सामने आते हैं :

(अ) विक्रमादित्य के पिता तथा उनकी प्रजा सौम थी।

(आ) शिव का 'राम' राज्य के एक प्रकार 'राम-राज्य' का प्रतीक है।

(इ) सत्यवन्त नाम संभवतः यह सङ्केत करता है कि यह राम-राज्य किसी विक्रमादित्य संबंधित थे, 'मारुत' था।

(४) कथा-सदृशता

इस ग्रंथ की रचना अत्यन्त ही कठिनी में होमवेध नामक एक अन्य कश्मीरी पण्डित द्वारा हुई थी। बृहत्कथामञ्जरी में उपलब्ध विक्रमादित्य के जीवन तथा उनके कार्यों के बारे में प्राप्त सामग्री से भी विस्तृत सामग्री इस ग्रंथ में प्राप्त होती है। इस ग्रंथ की प्राथमिकता तथा स्वरूप के संबंध में होमवेध ग्रंथ के कथा-वीड (ग्रंथ-भूमिका) में कहते हैं : 'यह ग्रन्थ गुणात्मक-रचित

सुरक्षा के ही बांधे पर है, जहाँ से इसकी सामग्री प्राप्त की गई है। जहाँ तकिक भी अतिक्रम नहीं है। केवल ऐसी भाषा का प्रयोग किया गया है जो प्रत्यक्ष-विस्तार के अनुकूल हो। अतिसिद्ध, स्वाभाविक संस्कृत तथा कमिटरली को इस प्रकार जोड़ने की ओर, जो कथा के प्रवाह में बाधक नहीं, जहाँ तक संभव था अधिक ध्यान रखा गया है। यह प्रयास अपनी कालुरी की प्रकृति की प्रकृति के नहीं, किन्तु विभिन्न तथा अधिक कथानकों की प्रकृति को जाना-बनाने के लिए ही किया गया है।

सोमदेव के विश्वसाहित्य के जीवन से संबंधित कथाओं का उल्लेख अपने ग्रंथ के कई भागों में किया है। विश्वसाहित्य के जीवन का प्रमुख संस कथा-प्रतिस्पर्धा के अन्तर्गत संभव से दिया जा रहा है, जो इस प्रकार है।

'अवस्था में कथाविनी नाम की प्रतिष्ठा जगती है, जिसकी विचारणा ने पुनरावृत्ति में ही प्रभावा था तथा जिसमें विश्व का काल था। यह एक आत्मी की की जाति किसी भी अवस्थिति के लिए अमेज, लोकमत के लक्ष्य अतिशय, कथाओं के बहुत हृदय की भांति पुनरावृत्ति और प्रकृति की तरह बहुत ही अत्यंत प्रकृति की भरी थी। एक भागी में विश्वकी सोमदेवशाहित्य नामक एक राजा रहते थे। जहाँ तक उनकी वीरता का प्रश्न है वे विशिष्ट प्रकार के आयुध धारण करते थे और लौहर्ष में सर्व प्रमुख (कालदेव) थे। उनकी छुट्टी दाम में सर्वदा खुली रहती थी, किन्तु प्रयास पर कल जाती थी। राजा की एक धर्मपत्नी थी, जिसका नाम लौहर्षना था। यह राजा के किये हृदय की लक्ष्मी, विश्व की गीरी तथा विश्व की भी के समान थी। राजा के महामातृ सुमति तथा मगर-रक्षक ब्रह्मावृत्ति थे, जिसके हृदय में मगर-रक्षक पैदा हो गया था। उनके साथ रहकर राजा विश्व की लक्ष्य रखते हुए राज्य-संभाल करते थे तथा पुनोत्पत्ति के लिए मित्र-मित्र प्रकार के मन्त्र-दानादि किया करते थे। उसी समय कैलास पर, जिसकी कानिदों में प्रेक्षा इस बांध कर सर्वदा जाता करते हैं, जो प्रकृति की प्रकृति से लक्ष्य उत्पन्न रहता है, जो विश्व में सर्वदा उद्घाटित है, विश्व और सर्वदा बैठे हुए थे। प्रेक्षाओं के प्रसन्न होकर हृदय के प्रेक्षा में प्रेक्षागत उनके पास थावे। अमरी में विश्व को नभस्कार किया तथा बैठ कर उनके पुनरावृत्ति करने लगी। विश्व ने उनके आगमन का कारण पूछा तो उन्होंने प्रार्थना की : हे देवाधिपते ! हे अमर जिसको आप तथा विश्व ने मार बाधा था, प्रेक्षाओं

के रूप में धूमिली पर हुआ जलज हो गये हैं। वे बाइलों को मार सकते हैं, पञ्चादिक में फिर सकते हैं तथा काबुलों की कम्पानियों को उठा ले सकते हैं। जब धूमिली को विचरिनों के झुंझ की उठा नहीं सका है। जल जलते ही हैं कि अन्तर्लोक धूमिली के ही दोषम पाता है, क्योंकि धूमिली पर जब जलपादि होता है तो उसी के गर्मवाणी देवता संतुष्ट रहते हैं।

‘ज्योत्स्नी ने धूमिली को रीढ़ रखा है, पञ्च-कुलों के चारों ओर कहीं की मांगलिक जगहों का उच्चारण नहीं होता। पञ्च-भाग तथा अन्य जगहों के धर्मिकों के देवताजल वस्तु हैं। जिसने भीरु रूप की अवतरित कीधित, जो ज्योत्स्नी को बल करने के लिए वसति अभिजाती हो।’

‘जब देवताओं ने फिर से धर्मन की हो उन्होंने कहा कि जल कीम काहने। जल जगहों को चिमिट होने की आवश्यकता नहीं। जल विहित हैं कि कठिनाइयों के हटाने का भीज ही कोई कथा होगा।’

‘जब वे जल गये ही पञ्च में बंटी हुई धर्मन के जल बंटी हुए जल की वे जलजल जलजल जल की जलजल तथा बंटी जलजल की कि जल, जलजल का जल जलजल कर जलजल में जलजलजल के जल के जल में अवतरित हो।’

‘उसी समय जलजल जलजलजल जलजल ने जलजल के जल में कहा कि मैं तुम्हें जलजल हूँ, जलजल तुम्हें एक जलजल जल जलजल, जो जलजल जलजल के धूमिली के जलजल जलजल का विजय करेगा। वह जल-जलजल नहीं, विजयजल, राजजल, जलजल तथा जलजल-जलजल की भी जलजल जल में करेगा तथा जलजल-जलजल का जल करेगा; वह कारण वह विजयजल के जल के अभिहित होगा तथा जलजल जलजल के कारण जलजल जल विजयजल होगा।’

‘जिस जलजल जल-जल में, जिस जलजल जलजलजल के होता है, जलजल का लीजल जल जलजल है उसी जलजल जलजल भी जलजलजल हूँ। उसके जलजल जलजल काहे वह गये जो जलजल जल जल की जोर जलजल करते थे कि (जलजल) जलजल के लिए, जिसने वह जलजलजल हूँ की, जलजल जल हो गया। जलजल में उन्होंने जल-जलजलजलजल के जलजल होकर जलजल जलजल की जल जलजल। जब जलजल विजय जलजल तो उन्होंने जल जल ही जलजल जल जल जलजल, जिसने जल जल को उसी जलजल जलजल कर दिया जिस जलजल जलजल जल जलजलजल जल जलजल है।’

‘जिस जलजल जलजल जलजल जलजल, जलजलजल जलजल लीजलजलजल हो गया था। उस जलजल जलजलजल में जलजल होकर जलजल के जलजल की जलजल की जलजल

हुनुमि बजाई। उस समय सम्पूर्ण नगरी मारे प्रसन्नता के लुकी व समझी थी। बताया था कि प्रसन्नता की हवा बह गई है। उस समय राजा ने जब की कलाकार हुनो मरने की खी बीड़ी को जोर कर कोई 'मनीषा' नहीं रह गया। (अनीकर नाम जब बीड़ी के किये प्रयुक्त होता है तो उसका अर्थ 'नास्तिक' है, किन्तु इसका दूसरा अर्थ मनहीन भी है)। राजा मेघेन्द्रादित्य ने वाक्य का भाव 'विक्रमादित्य' तथा विलम्ब 'विपमकीक' जैसा कि निम्न में बताया था, ऐसा।

X X X X

'जीव कुमार विक्रमादित्य प्राण, साहस तथा शक्ति के संयुक्त वन की मणिपुत्री के साथ जीवा करते हुए वनरोपर समाने हो चके। उनका चपलपन तथा विचारगम किया गया। विशादराज के ही उन्होंने विना प्रयास ही सभी बाधाओं को पार किया। जिस साधक का कार्य में हुनकी बताया जाता था वसन्त उस भाव तथा कार्य के पराक्रम हुनमें सबसे प्रतीत होते थे। जब लोगों ने कुमार की ऐसी आयुषी का प्रयोग करते देखा तो वे महान चतुर्धारी राजा तथा अन्य देवों की कीर्तियों की कहानियों पर कम ध्यान देने लगे। उनके पिता ने उन्हें बीदेवी जैसी सुन्दर-सुन्दर राजकुमारियों काकर दी, जिन्हें राजाओं ने पराजित होने पर समर्पित किया था।'

'राजा मेघेन्द्रादित्य ने जब देखा कि उसका पुत्र पूर्ण युवा, अति साहसी, क्षत्रियता तथा प्रजा का मित्र हो गया है तो वह निराश होकर उसका पुत्रास बनाया और वे, कुछ होने के कारण पत्नी तथा अपने मन्त्रियों के साथ वाराणसी चले गये। वहाँ उन्होंने भगवान् शिव की पूजा की।'

'जिस प्रकार पूर्ण भाकास में चढ़ कर चमकने लगता है उसी प्रकार राजा विक्रमादित्य भी पिता का राज्य पाकर चमकने लगा, वहाँ तक कि गर्वोभीरु कुछ भोका जब उनकी प्रयुक्त की बोरी चढ़ी हुई देस लेते थे तो झुक जाते थे।'

'ऐसी शक्तियों को भी उन्होंने वस में कर रखा था। वहाँ तक कि वेताल तथा अन्य विक्रान्तता भी उनके वश में थे। जो भी अपर्ध की राह पर चला उसको उन्होंने धर्मपूर्वक दण्ड दिया। विक्रमादित्य की सेवा सुभवस्था स्थापित करती हुई पूर्ण की किरणों की अति विचारण करती थी। जबकि राजा पराक्रमी और युद्ध में किन्तु परलोक से चले थे। यद्यपि वे शूर थे, किन्तु क्रूर नहीं थे (क्रूर प्रहण में क्रूर)। यद्यपि जीवन्त नहीं थे, किन्तु उनकी पत्नियाँ उन्हें प्यार करती थीं। सम्पूर्ण प्रजा में वे पित्रहीनों के लिये पिता, मित्रहीनों के लिये मित्र तथा निराश्रितों के लिये करण थे। अस्तुतः

हमके वैभव की दृग्गता ने कहा को सामग्री प्रदान की जिससे उन्होंने शीत ह्रीमि, शीत सागर, ओकास पर्वत तथा हिमालय का निर्माण किया ।'

× × × ×

'महाराज ! आपने इक्ष्विक् तथा पश्चिमी सीमा, जम्बू देश, सीराहू तथा गङ्गा के पूर्वीय सभी प्रदेशों को जीत लिया है । उत्तर का प्रदेश तथा कश्मीर कब तक रहे हैं । मित्र-मित्र दुर्ग तथा ह्रीमि जीत लिये गये हैं, ज्योत्स्नों का विनाश समूह बन्ध कर दिया गया है तथा अन्य राज्यों ने भी आत्मसमर्पण कर दिया है । बहुत से लोग विक्रमादित्य के सिद्धि में आ गये हैं । वे स्वयं यहाँ सब नरेशों के साथ आ रहे हैं और राजन् ! वे अब ही ही लोग पर रहें ।'

और कि कथा-परिचयगत की भूमिका में विभाजित किया गया है कि कथामय गुणात्मक गुण-सुहाकर, जिसकी रचना धर्मन अनाम्नी ई० में हुई की और जो विक्रमादित्य के इतिहास से पूर्ण परिचित थी, ही आधारित है । किन्तु वह ही मानता है परेगा कि कहानी की भाषा काव्य की भाषा है तथा साहित्यिक अकस्मिक के वास्तविक तथ्यों की प्रति पुँचाती है । फिर की विरलेपन से कथापरिचयगत में विक्रमादित्य के बारे में निम्नलिखित अन्य समुदाय आते हैं^१ ।

- (१) विक्रमादित्य के पिता का नाम महेन्द्रादित्य तथा माता का नाम श्रीमद्वर्षा का ।
- (२) महेन्द्रादित्य तथा विक्रमादित्य दोनों ने अवधती की राजधानी उज्जयिनी पर काबज किया ।
- (३) उस क्षेत्र का प्रचलित धर्म शैवधर्म था ।
- (४) विक्रमादित्य के जन्म के अचर पर देश में विदेशी आक्रमण हुआ था ।
- (५) विक्रमादित्य ने अवधता ग्राह करके दुर्गों से देश को मुक्त किया । उन्होंने विभिन्नजन्म की तथा देश को एकत्रण सासन में आक्रम किया ।
- (६) विक्रमादित्य अपनी मीरता तथा अन्य स्त्रियों से, जो बादर्ष सासन तथा सासन के किने आत्मावश्यक हैं, सम्पन्न थे ।
- (७) वे कई साक्षात् तथा कला-साहित्य के संरक्षक थे ।

१ कथापरिचयगत, कम्पक २० पृ० ५६६-७ सी० पृ० २६० टिप्पणी द्वारा अनुद्धित ।

२ विप्लव का० साक्षात्कार में विक्रमादित्य को ७८ ई० का सातवाहन सिद्ध करने का प्रयास किया है । उनका आधार केवल नामसाध है जो गिरावर है ।

देखिए - जनका के० ने० मर० पृ० २० भाग १६ पृ० ११५-१०० पृ० ।

कपासरिस्तागर में उपलब्ध विक्रमादित्य का वृत्तान्त मोटे तौर से बृहत्कथा के वृत्तान्त से मिलता-जुलता है, क्योंकि बृहत्कथा दोनों का समान रूप से स्रोत है। फिर भी कथा-सरिस्तागर से हमें बहुत महत्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्यों का पता चलता है : लोमदेव जैसा कि वे स्वयं स्वीकार करते हैं बृहत्कथा के कथापत्र (जो भी उन्हें प्राप्त हो सका था) के प्रति बहुत ईमानदार रहे हैं। चरन्तु करता है कि गुप्तकाल की कई जगहों के कथा-बृहत्कथा में प्रचित भंग करते गये, जो लोमदेव के समय लोकप्रचलित हो गये थे। इन प्रचलितों में एक तो वादविपुल के विक्रमादित्य की कहानी है। लोमदेव ने इनका इस्तेमाल जगह से किया है। इस के कम उनके अतिरिक्त में दोनों विक्रमादित्यों के बीच अतिरिक्त में तथ्य भी कम नहीं है। स्वयं स्वीकारा जाहिये कि यह तथ्य वादविपुल के द्वितीय चरन्तुगुप्त विक्रमादित्य से उद्भवितों के विक्रमादित्य की अभिप्राय दिखाने वाले सिद्धान्त के लिए प्रामाणिक है। कथा-सरिस्तागर में प्राप्त वादविपुल के विक्रमादित्य का वृत्तान्त द्वितीय चरन्तुगुप्त विक्रमादित्य के इतिवृत्त के वाक्यों के साथ सम्बन्ध का स्वरूप दिखाता है। चरन्तुगुप्त वाक्यों की संख्या के एक क्व नहीं जीत सके थे, किन्तु उन्हें बृहत्कथा से जीता था। कथापत्र में कुछ अन्य का पुनर्दिखाई देता है, जब वसन्त जगह की विकास गल तथा इन लेखकों का, जिसके लिए जगह प्रसिद्ध था, तथा प्रतिष्ठान की गुप्तगामी वृत्ति-लेखकों का, जिसके लिए महाराष्ट्र प्रकाश था, इस्तेमाल मिलता है।

(५) कुछ अन्य साहित्यिक ग्रंथ

विष्णुओं के कुछ अन्य ग्रन्थ भी विक्रमादित्य के साहस तथा ज्ञान-कथाओं के बारे में विस्तृत रूप से वर्णन करते हैं। सिद्धासन्यासविद्या, वैतालपञ्च-विद्या, ब्रह्म-सप्तति आदि बहुत ही लोक-प्रिय ग्रन्थ हैं, जिनका मिश्र-मिश्र नामों से भारत की जनजात सभी प्रादेशिक भाषाओं में अनुवाद हो गया है। किन्तु वे ग्रंथ बहुत ही लोकप्रिय के और आभारन कोटि के लेखकों द्वारा लिखे गये थे, इनमें बहुत ही परिवर्तन तथा परिवर्तन होता गया, अतः इनका ऐतिहासिक मूल्य समझ हो गया है। इनमें विक्रमादित्य का वृत्तान्त कल्पविक्रम बन जाता है, किन्तु वे सभी एक स्वर से उद्भवितों के विक्रमादित्य का अतिरिक्त तथा इनके जीवन के विभिन्न अंशों में इनकी महत्ता सिद्ध करते हैं। इन ग्रंथों के विक्रमादित्य अस्पष्ट हो सकते हैं, किन्तु अवास्तविक नहीं।

(६) पुराणों का साक्ष्य

पुराणों का एक अभिन्न भङ्ग बंशानुचरित है। अतः कोई भी द्वाभ्याविक रूप से पुराणों में भारतीय विक्रमादित्य तथा उसके वंश के बारे में वर्णन की आशा कर सकता है। कुछ विद्वानों की धारणा के अनुसार पुराण विक्रमादित्य के अस्तित्व के बारे में सही हैं। यह उनके अस्तित्व का प्रमाण समझा गया है। किन्तु उसके लिए यह उधार दिया जा सकता है कि किसी साक्षक के अस्तित्व को केवल पुराणों से उद्धिहित न होने से अप्रतीकार नहीं किया जा सकता। उदाहरणस्वरूप यह किताब स्पष्ट तथ्य है कि पुराण गणराज्यों का जो प्राचीन भारत में विद्यमान थे, अपने बंशानुचरित में उल्लेख नहीं करते, किन्तु उनका इतिहास बौद्ध तथा जैन साधनों से ज्ञात होता है। अतः पुराणों में उल्लेख न होना, किसी भी राज्य, जाति अथवा पुरुष के अस्तित्व का पुष्टिकारक प्रमाण नहीं है। फिर तो भारतीय पुराण विक्रमादित्य के इतिहास पर प्रकाश डालते हैं। आर्यों के इतिहास का वर्णन करते हुए पुराणों उल्लेख करते हैं कि उन्होंने की साक्षात्ताओं की लेकर आर्यों के समकालीन का वंश होने को निश्चित किया है—

(अ) आर्य आर्य।

(आ) यक्ष, जामीर।

(इ) सप्त (दस) गर्भमिश्र।

(ई) दश शत।

(उ) अष्ट पञ्चन।

(क) अश्वमेध सुधार, जलोद्भूत सुवर्ण तथा अष्टादश जीवन।

जैन पदपत्र^१ से पता चलता है कि विक्रमादित्य गर्भमिश्र के वंशज थे और जब पुराणों में गर्भमिश्र का उल्लेख है तो स्पष्ट है कि वे विक्रमादित्य के अस्तित्व को शक नहीं करते। इन पुराणों से विक्रमादित्य के वंश के स्रोत के अतिरिक्त कुछ और स्पष्ट उल्लेख भी पाते हैं। अभिष्यपुराण^२ में उनका दो

१. ब्रह्म-पुराण १७, १५२-१५८, अष्टावक्र-पुराण ७४, १७१-१७८।

२. अभिष्यपुराण संस्करण; पत्र सेवा बंशानुचरित पुनः। अष्टावक्र-पुराण।

३. अभिष्यपुराण

४. अभिष्यपुराण द्वितीय अध्यायवर्णन नाम विद्वत्। तत्कालीन तपसा प्राप्तः शक्रतः स्वशूरं यवी ॥
अपन्तो मर्त्यैरुदे सप्तसर्पैर्न वन्दन्। सुम्भा मर्त्यैरुदे सप्तसर्पैर्न वन्दन् ॥
विक्रमादित्य एवास्य सुम्भा राजवमकः ॥ २२ २३ ॥

कार्य प्रशस्त है। एक स्थान पर वे विद्यार्थियों की विज्ञानिकता का बतलाते हैं।

‘इस समय एक कपल नाभिक साक्ष्य रहता था। चोर चपरावा से उसे हथ्थ के बाईं से एक फल प्राप्त हुआ, जिसके कानों से कीड़ी की धमक हो सकता था। फल को शकर साक्ष्य अपने घर फल गया। बचपन में उसे भर्तृहरि को भेष दिया, जिसे काकर भर्तृहरि योगासीन होकर दान में चक्रे गये। तब विश्वनाथिन् ने अपने हाथ पर विराट् कासन किया।’

एक समय स्वामि पर निम्न प्रकार की वक्तवा कीचन-वृत्त किया हुआ है। 'कठिपुत्र के आरम्भ होने के २०१० वर्ष पश्चात् धरन्ती के ग्रहों में एक समय नागिक राजा राज्य करता था। उसके बाद क्रमशः महाभय, वैशाख, वैशाख और वैशाख-वर्षों में वे शासन किया। धरन्तीनुसार तत्कालीन में राज्य की राज्य वैशाख-वर्षों में किया। हनुमान् ने (उसकी वरदानों के अधीन होकर) धरन्ती नागिक राज्य की। धरन्ती के काल में विष्णुनाथिन्व नामक पुत्र राज्य हुआ। विष्णुनाथिन्व ने राजा की वृत्त कर कार्य-कर्म का पुनर्स्थापन करने के किन्तु समय किया। तत्पश्चात् के एक समय विष्णुनाथिन्व ने विष्णुनाथिन्व के काल में स्वयं अवतार धारण किया था। अग्राह्य शिव ने विष्णुनाथिन्व को एक सिद्धास्य दिया जिसमें बलीय पुत्रविशेषों की वृत्त थी। विष्णुनाथिन्व की राजा के किन्तु धरन्ती की वे वैशाख नागिक राज्य में। विष्णुनाथिन्व ने बहुत दिनों तक राज्य किया। उन्होंने धरन्ती को भीता तथा अवशेष वृत्त किया।'

विक्रमादित्य का जन्म उसके एक-पुत्र के द्वारिका-राज में हुआ है, जहाँ कहा गया है कि वे कवि शारदा होने के तीन शतक बाद राज्य कर रहे थे। अश्वि-पुराण की तिथि में मतभेद है। शर्मिष्ठा के अनुसार दूसरी शताब्दी तक साम्राज्य राजा चक्रवर्ती के समय में अपनी रचना हुई थी। इस प्रकार यह विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता के लिए अच्छा प्रमाण है। किन्तु बहुत से विद्वान् शर्मिष्ठा द्वारा मिलित तिथि में सन्देह करते हैं तथा उनका मत है कि अश्वि-पुराण की रचना में बहुत से भविष्यसूचियों को जोड़ा गया। यदि यह मान लिया जाय कि अश्वि-पुराण में बहुत परिवर्तन हुए, तब भी यह कहा जा सकता है कि पुराण के परवर्ती सम्पादकों को विक्रमादित्य की परम्परा का स्मरण था, यद्यपि अतीत की कथाओं के बारे में कभी-कभी आशंका होती थी। स्वतन्त्र विक्रमादित्य के द्वितीय उल्लेख में शामिल है, जहाँ उन्हें इन प्रमर (प्रसार) से सम्बन्धित करने का प्रयास करते हैं। इस नाम के पीछे एक उल्लेखित वस्तु लक्ष्मी ही है, जहाँ दोनों राजाओं ने शासन किया।

भा । फिर भी दोनों का अलग-अलग विचार करने से दोनों ऐतिहासिक पुरुष ज्ञान पकते हैं ।

(६) जैनों की साहित्यिक अनुभूति

ब्राह्मण परम्परावादी हिन्दुओं के ही नहीं, अपितु जैनों के ऐतिहासिक तथा नीति-सामाजिक साहित्य में भी विक्रमादित्य को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है । बहुत दिनों तक जैनों का सम्बन्ध अचान्ती तथा समीपवर्ती स्थानों से रहा है । अतः स्वयम्भूतः विक्रमादित्य की परम्परा को उन्होंने अपने साहित्य-ग्रन्थों में समित कर रखा है । यद्यपि उन ग्रन्थों में से बहुत से विक्रमादित्य के बहुत बाद के हैं, तथापि उनमें हम प्राचीन परम्पराओं का उल्लेख वही ईमानदारी से करते हैं । उनमें कुछ ऐतिहासिक इति से कम मूल्य की है और उनमें अतीत का भ्रान्त वर्णन है । उनमें अधिक महत्वपूर्ण परम्पराओं का ही यहाँ उल्लेख हो सकेगा :

(१) पद्मावतियों का साक्ष्य

पद्मावतियों तिथि-परक योगियों हैं, जो अधिकतर प्राकृत में बड़ी ही सारी तथा सामाजिक जाया में किची गई हैं । उनमें महत्वपूर्ण व्यक्तियों का वर्णन अनुक्रम से मिलता है, यथा, जम्भ, कासक आदि । इस प्रक्रिया में वे महावीर के निर्वाण से लेकर मध्ययुग तक प्रसिद्ध राजवंशों तथा शासकों की श्रेणियों में विक्रमादित्य की तिथि-मूलक स्थिति को स्पष्ट करते हैं । जब हम पद्मावतियों को साथ रख कर तुलना करते हैं तो अचान्ती का निरुक्तिगत इतिहास सम्मुख आ जाता है :

महावीर का निर्वाण

- | | |
|------------------------|--|
| शासक | |
| १. कासक ('अण्डमघोत') | |
| २. जम्भ | |
| ३. दीर्घ | |
| ४. पुण्डमित्र | |
| ५. बलमित्र, भागुमित्र | |
| ६. महावहन | |
| ७. सार्वभिल | |
| ८. शाक | |

(५२७ ई० पूर्व में)

शासन-काल	
६० वर्ष	
१५५ "	
१०८ "	
३० "	
६० "	
४० "	
१३ "	
४ "	
५२० वर्ष	

१ श्रीपद्मावती-समुच्चय, भाग १, पृ० २३, ४३, १५०, २६३, १९८, २०० (मुनि धर्मेन्द्र विजय शर्मा संपादित)

९. विक्रमादित्य	६० वर्ष : ५७ ई० पू०
१०. विक्रमचरित अवकाश धर्मादित्य	२० "
११. सैत्र	११ "
१२. सैत्र	१४ "
१३. माहृत	१० "
	<hr/> १०५ "

१४. उज्जयिनी पर लक्ष्मी का पुनः अधिकार तथा वाक-
संबन्ध की स्थापना

७८ ई० पू०

यह्यदित्यों की विचारपूर्ण योजना के अनुसार विक्रमादित्य ने ५७ ई० पू० से अवकाश प्राप्त किया, जिसका विक्रमसंवत् की तिथि से विस्तृत ज्ञात हो जाता है। यह स्पष्ट है कि माहृत परम्परावादी ज्योतिषियों तथा जैन गुरुओं ने अवकाश आधार वैशम्पायी वररत्नाशौ की ही बनाया था।

(२) जैन इतिहास का साक्ष्य

एक महान् जैनी केजक चिनसेन ने इसकी रचना वाक संवत् ७०५ (७६६-६७ ई०) में की थी, जिसमें अचमत्ती के इतिहास का तिथि-क्रमित वर्णन दिया गया है। उसके आधार पर निम्नलिखित तालिका बनाई जा सकती है :

वीर निर्वाण काल	(५२७ ई० पूर्व)
कालक	सासन काल
१. वाकक	६० वर्ष
२. विजय (विषय) राजा वण	१५५ "
३. पुरिन्द (मीर)	४० "
४. पुष्यमित्र	३० "
५. कसुमित्र तथा कलिमित्र	६० "
६. दासम (गर्दमिह)	१०० "
	<hr/> ४४५ वर्ष ८२ ई० पू०
७. वरबाह	४१ "
	<hr/> ४८६ वर्ष : ४० ई० पू०

१. शाकेभ्यश्चतेषु सप्तसु दिक्षु पञ्चोपदे इत्यादि (भूमिका)

२ ६०, ४८७-४९०

जैन हरिवंश की विधिबद्धिक सूची में विष्णुमादित्य के नाम का उल्लेख नहीं है, किन्तु उसमें राजस्य (= मर्मसिद्ध) का स्पष्ट उल्लेख मिलता है, जिस प्राप्ति या बंध में विष्णुमादित्य उत्पन्न हुए थे। भ्याम देने की आवश्यकता है कि पञ्चचक्रियों तथा जैन-हरिवंश दोनों में विचारपूर्ण सामाजिक ऐतिहासिक लेख है। अतः उपमें साम्प्रदायिक अभिव्यक्ति तथा जातुक्ति नहीं है। भिक्ष-भिक्ष राजाओं तथा राजवंशों के वास्तव काल के किम् वे विभिन्न संस्थाओं का प्रयोग करते हैं, परम्परागत गोकमोक संस्थाओं का नहीं। इन स्थलों को भ्याम से रखने पर क्याकिम् ही समझ करने के किम् अवसर मिलता है। चूँकि वे ग्रन्थ विधिबद्धिक साहित्य तथा जीवन की कपरेका के ही किम् हैं, अतः हम इनमें जीवनवृत्तात्मक विस्तार की आका नहीं कर सकते। इसके किम् हमें जैन-साहित्य के दूसरे भद्र प्रकाशसाहित्य की ओर दृष्टि दौकानी होगी, जिसकी रचना बहुत बाद में हुई, किन्तु यह देस की सामाजिक परम्पराओं पर आधारित है तथा अतीत का वास्तविक चित्र उपरिष्ठ करता है। जैनसाहित्य के इस भद्र में अनेक ग्रन्थ हैं, किन्तु उनमें से कुछ बहुत प्रसिद्ध का ही यहाँ उल्लेख किया जा सकता है।

(१) प्रभाकर-चरित

इसकी रचना प्रभाकरचरित के द्वारा हुई थी। पाठमसंब के पुस्तकालय में इसकी सबसे प्राचीन हस्तलिपि है, जिसकी तिथि विष्णु की जीवदृष्टी सती' मिलित की जाती है। स्पष्टतया यह ग्रन्थ बहुत बाद का है, किन्तु इसका लेखक कहता है कि उसकी रचनामें प्राचीन ग्रन्थों, ऐतिहासिक तथा जीवन-वृत्तात्मक साहित्य' तथा बहुतसुत सुनिचों द्वारा सञ्चित परम्पराओं पर ही आधारित है। यह हेमचन्द्रचरितज्ञ स्वविराजसिचरित का अनुकरण करता है तथा प्रसिद्ध ऐतान्तर जैन सत्तों, विज्ञानों तथा उसके रोषकों तथा राजाओं के जीवन-वृत्तों का वर्णन करता है, जो प्रथम सती तथा तेरदृष्टी सती किष्करी के बीच के हैं। इस ग्रन्थ की अलंकृत करनेवाके प्रसिद्ध शासकों में विष्णुमादित्य, हर्षवर्धन, आत्मसत्य, भोजदेव, भीमदेव, सिद्धराज, कुमारपाक इत्यादि हैं। वे प्राचीन भारत के प्रतिप्रसिद्ध शासक रहे हैं। उनके

१. विनविनन मुनि द्वारा सम्पादित प्रभाकर-चरित की सूचिका पृ० १।

२. बहुतसुतमुनिदेव्यः शास्त्रवेम्बक कानिचित्।

अपहृत्येतिवृत्तानि बर्णयिष्ये किमनन्तरि ॥ (प्रस्ताविक, पृष्ठ १५)

रस का प्रभावक-चरित में वर्णन उनके ऐतिहासिक स्वरूप को सुदृश्य से प्रमाणित करता है ।

इस ग्रन्थ में वीरों के बहुत प्रसिद्ध सन्त काककसूरि का जीवन-चरित^१ दिया गया है, जो भारत में काक-भाजमण, विश्वमाधिरस्य द्वारा उज्जयिनी के पुनः विजय तथा विक्रम संवत् की स्थापना का वर्णन करता है । इस जीवनचरित का संगत अंश संक्षिप्त रूप से दिया जा रहा है ।

‘श्रीधररावर्ष’ नामक एक नगरी थी । वहाँ बीरसिंह नामक राजा राज्य करता था, जो आत्मशक्ति शक्तिसाही था । उसके एक पुत्र काकक तथा एक पुत्री सरस्वती थी । गुणाकर नामक जैन धर्म से प्रभावित होकर कुमार ने जैन-धर्म ग्रहण कर दिया तथा रक्षित के नाम प्रशस्ति हो गया । एक बार वह उज्जयिनी गया । उस समय उज्जयिनी का राजा शर्वाभिज्ञ था, जो संयोगवश राजधानी से बाहर निकला हुआ था । भिक्षु समस्त काकक तथा सरस्वती वहाँ पधारे, सरस्वती के जीवनपर्यन्त पर सुस्थ होकर शर्वाभिज्ञ उसे उड़ा ले गया । वह समाचार जैन संन्यासियों से जो उसके साथ रहते थे सुनकर काकक शर्वाभिज्ञ की राजसभा में गये तथा हस्त प्रणाम बोले ।

‘हे जैन राजा ! वह शायद है कि हम लोगों ने अपने कर्ण के चारों ओर उसकी रक्षा के लिए शशीर बना रखा है, किन्तु सभी धर्मों के एक होते हुए भी जब धर्म ही कल को उठा काते तथा काते हैं तो हम किसी वहाँ काकर शर्वाभा करें ?’

अब काकक की प्रार्थना पर शर्वाभिज्ञ ने शक्ति भी प्रदान नहीं दिया तो काकक ने जिनकी भूमिधर्मों में अब भी शक्ति एक प्रभावित था, प्रविष्टा की कि यदि वह राजा को उसके सन्तधर्मियों तथा सन्तधर्म के साथ न नष्ट कर देंगे तो उन्हें मानवता की हत्या का महापरापण करीगा ।

काकक पश्चिम दिशा की ओर सिन्धु पार करके चले गये तथा सन्तधर्मों (सन्तों) के देश में पहुँचे । वहाँ १० शक राजा थे तथा उनके ऊपर एक अधिपति था, जिसके सत्त काकक युवसवारों की सेवा थी । काकक ने शक सामन्तों में से एक से मैत्र की तथा कुछ ही समय में उसके एक मित्र बन गये । एक बार शक सामन्तों की अधिपति उनसे कुछ हो गया तथा एक आदेश हस्त आत्मत का जारी किया कि जब तक वे अपना सिर उसे समर्पित नहीं कर देते हैं तब तक

- (ई) सकों को अश्वारी सफरता मिली तथा उन्होंने उज्जयिनी की विजय की ।
- (उ) उस ही राजा का पुत्र तथा कचराभिकारी विक्रमादित्य था, जिसने सीमा ही सकों को भिक्षा बाहर किया तथा देश को विदेशी अत्याचार से मुक्त कर दिया और अपना संघ बनाया ।
- (क) तत्पश्चात् नामित राजा समुद्रि का पुत्र जाया, जो कमान १६५ वर्ष तक रहा । इस काल में विक्रमादित्य के बंशजों ने उज्जयिनी पर शासन किया ।
- (ख) इस काल के समाप्त होने पर सकों ने भारत पर पुनः आक्रमण किया । उज्जयिनी की विक्रमादित्य के बंशजों को हटना पड़ा । उन्होंने (सकों ने) अपना संघ बनाया ।

इस प्रकार है कि प्रभावक-परित में काककाचार्य का कमानक ऐतिहासिक तथ्यों को उपरिष्ठ करने के अतिरिक्त जैन इतिवत्त तथा पञ्चासिकों की विधि की भी पुष्टि करता है ।

यहाँ प्रभावक-परित में काककाचार्य कमानक बाकी कदम पर कुछ अधिकृत मतों को बहुत करना अप्रासङ्गिक न होगा । देखना की चारणा है कि उज्जयिनी के इतिहास में इस कदम की स्मृति सम्भवतः जैनों की काकक-बन्धा में लक्षित हो सकती है । कथा की सामाजिक सिद्ध नहीं किया जा सकता, किन्तु असिद्ध की नहीं किया जा सकता । इसका अन्वयण कहा जा सकता है कि इसका ऐतिहासिक प्रत्यक्ष इस काल की उज्जयिनी की मात्र परिधिपरितों को बताते हुए असम्भव नहीं है । राजा के प्रतिग्रस्त लोगों ने मूर् खालक को मुक्त देने के लिए ही सक्कीर के कमान सकों की सहायता की अपेक्षा की होगी और जैसा कि इतिहास में बहुधा प्रतिष्ठित हुआ है ऐसे सहायकों के बिना स्वयं राज्य का स्वयं केना अस्थाभाषिक नहीं है । गर्वमिह तथा उसके कारणों ही इन प्रतिकारियों के जाने के कारण हुए । उसके पुत्र विक्रमादित्य, जिन्होंने बाद में सकों को भार भगाया, कथा के अनुसार किञ्चित् ऐतिहासिक प्रत्यक्ष से कहते हैं^१ ।

मैकलिन प्लर्टन ने अधिक इस मन्तव्य प्रकट किया है : 'मुझे पता नहीं कि जैन कथानों को असिद्ध करने के लिए तथा यह कहने के लिए कि विक्रम नाम का कोई राजा ही ५० ई० पूर्व में नहीं हुआ, कोई निश्चित तथा ठोस

समान क्या है। क्या हम उस काल के इतिहास के बारे में पूर्णतः ज्ञान रखते हैं जिसके माध्यम पर यह कह सकते हैं कि माकवा के स्थानीय राजा के विरुद्ध बाग धिक्क हो सकता है, उस युग में सम्भवतः तब अवस्था राज्य स्थापित नहीं कर दिया होगा। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि अन्तिमार्थ उसके विपरीत कोई स्पष्ट सिद्ध नहीं कर सके हैं। तब अन्य उपायों को भी मैं स्पष्ट नहीं पाता, जो इसे अधिक करने में सक्षम हों।^१ वे जालो कहते हैं 'तो कुछ भिन्न कर इसकी सी बात है कि विक्रमादित्य नाम का वस्तुतः एक राजा था, जिसने माकवा में राज्य किया तथा ५०-५८ ई० पूर्व में एक संसद की स्थापना की।'^२

अभिज्ञ पुराणवेत्ता लेव कोचो अनेक कालकावर्ष के कथामक को विस्तृत ऐतिहासिक मानते हैं : 'एक वर्ष में अधिक भी कल्पेद करने का, ऐसा कि वास्तव किता जाता है, कोई कारण नहीं दिखाई देता। कल्पेद का बहुत मतलब है कि अधिकतर विद्वान् भारतीय संस्कारों में विचारण व करने के लिए पहले से ही अभिमत कर लेते हैं। पर भावार्थ तो यह है कि वे सभी भारतीय साहित्य की कल्पेद शरीर विदेशी कर्मों को भी अधिक लक्षण देते हीन कहते हैं, जबकि उक्त भारतीय साहित्य के कल्पेद सभी कर्मों की अन्य बातों के परत हो सकती है। सिन्धु क्षेत्र में एक साक्षात्कृत किता कि हम दोनों के ऐसा है, युवावी साहित्य के जगहों के जगह होता है। डाकेंनी सकों के साहित्यिक एक विस्तार का कर्मण करता है। उनकी राजकीय स्थापि 'साहाय्युग' की, किता कि इन लोग बाग में हैंगे, सिद्धों के पुत्र होने हैं। पुराण एक राजकीय का मर्दिभक्त के राजवंश के वस्तु शब्द करता बताते हैं।^३

विशेषतः सिद्ध जी वास्तव में विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत नहीं थे। कल्पेद है कि बाग में वास्तवगत अभिज्ञेन को स्वीकार करने की जोर उभरता कुछ छुकाव हो गया था। वे किससे हैं कि 'समय है ऐसे राजा का जस्तित्व हो'।^४

श्री० अ० अ० अनेकान् जबकि कालकावर्ष कथा की ऐतिहासिकता को

१. विक्रम कालेन्स, हाथें ओरिण्टल इरीन, मुम्बई, १० १४।

२. वही ५० २६।

३. लेवकोचो, करवत इन्डिफेन्ड इन्डिफेन्ड, भाग ९, कल्प ९, ऐतिहासिक मुम्बई।

४. वास्तविक विरही मात अभिज्ञा, २५२५, पृ० २५२।

५. भारतीय वृत्तिनी पत्रिका, विक्रमांक, विक्रमी सं० २०००, ६० ८५-८६।

संज्ञा: स्वीकार करते हैं, किन्तु वे ५० ई० पूर्व में विक्रम संवत् के संस्थापक विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं। उभय कथा है, "अथपि काककाचार्य की कथा लेखकों सभी में छिपी नहीं, किन्तु भी विक्रम-पूर्वक कथा का सङ्गत है कि इसमें ऐतिहासिक तथ्य पर्याप्त मात्रा में है। इतिहास कथा को पुष्ट करता है कि प्रथम कवी ई० पूर्व में सिन्धु पर कालों का आविर्भाव था। यह भी विहित है कि एक राजा 'कादि' कहे जाते थे। यह भी सम्भव हो सकता है कि कालों के बोधे ही समय के पञ्चाङ्ग काविकाचार्य का आविर्भाव क्या किया हो। ऐतिहासिक सामाजिक केव एक तथ्य की पुष्टि करते हैं कि कालों का आविर्भाव-केव इत्यविनी तक चौका हुआ था। अतः काककाचार्य-कथा के अनुसार यह भी सम्भव है कि विक्रमादित्य के इत्यविनी के अवतरणकी एक शका की विकास आगता हो।"

"किन्तु यह सामाजिक कथ के सिद्ध नहीं होता कि विक्रमादित्य ने कालों की परास्त करने के कथा संवत् का प्रवर्तन किया। प्रथम तो प्रामा ईने योग्य बात यह है कि कथा की लेखकों सभी में छिपी नहीं। अतः मौखिक कथाओं से प्रभावित हुए बिना न रह सकी। यह भी स्पष्ट है कि राजपूतों की मात्र मूल कथा में इस प्रभाव के बोध नहीं है। भार में कहिये, प्रचलित कथाओं के आधार पर इन कालों की रचना की। इन कालों के कथा की प्रमुख बात में काका हो जाती है। मूल कथा में एक शका की बीरता का वर्णन, किन्तु ऐतिहासिक काककाचार्य की सहायता की थी, स्वाभाविक था। किन्तु विक्रमादित्य द्वारा एक एक शका का परास्त होना अस्वाभाविक जगता है, क्योंकि इससे कथा के मूलभाव के परिपाक में बाधा पड़ती है।"

यह निवेदन किया जा सकता है कि डॉ० जस्टेकर ने काककाचार्य के ऐतिहासिक स्वकथ की स्वीकार किया है। उन्होंने केवक एक ही आस्तविक आपत्ति उठाई है कि विक्रमादित्य का एक शका के विरोध में विजयी होना

१. शाकाला संघमुन्नेय कालेन विजयतः ५।

राजा श्रीविक्रमादित्यः समीचीनपरोऽनवत् ५।

स श्रीवत्समन्त्रिणः श्रीवर्णपुत्रोऽनवत् ५।

मिदिनीमन्त्रा कुत्साऽन्तीकरदत्तसंद निवत् ५।

सती वर्षादे वधविजयता सन्धिदे पुनः ५।

तत्तव राजोऽन्वर्ष इत्या वस्तुतः स्थापितः कालः ५।

(काककाचार्यकथा, कोट २०-२२)

कथा के रस-वसिष्ठ में बताया जा रहा है। उनके कहने का असर यह है कि कहाणी का रचारी आज इस बात की जल्दी करता है कि इसका अन्त एक राजा के पूर्ण विजय तथा गर्दभिल के बंध के विनाश के साथ हो। विक्रमादित्य के नेतृत्व में गर्दभिल क्षत्रिज का पुत्र माहुराज स्वाभाविक उत्कर्ष को प्राप्त कर रहा है। किन्तु वहीं यह स्पष्ट किया जा सकता है कि कालकाचार्य की हानि। केवल गर्दभिल को हरा देने की ही थी, न कि इस बात की कि एक रचारी रूप से देश में अपना नाकाम्य स्थापित करें। एक बहुत ही अत्याचारी से तथा सीमा ही राजा के राज करने वाले। अतः जैनों ने उनके हारने का अन्त ही स्थापित किया, जिससे गर्दभिल के विनाश का, अस्तित्व और भी क्योंकि वे विदेशी थे। विक्रमादित्य ने प्रमित चर्च लोगों के विषय राष्ट्रीय क्षत्रियों का सहजमान किया था। इनके अतिरिक्त जैन उनके जीवन में हीनता मानते हैं, अतः कथा में उनका भा भाग विजय के बिना किसी भी तरह अस्वाभाविक नहीं।

अभाव-परित के अतिरिक्त अन्य बहुत से जैन इतिहास हैं, जो विक्रमादित्य के जीवन तथा उनकी क्रियाओं का वर्णन करते हैं। इनकी सन्निधि बहुत बड़ी है। उनमें बहुत प्रमुख निम्न हैं।

- (१) राजसेनार सूरिकृत अवध-शेष ।
- (२) मेरुद्वार सूरिकृत प्रकाश-विजयमणि ।
- (३) पुरातन-महाभारत-संग्रह (केवल का नाम ज्ञात है)
- (४) दशसूरिकृत विजय-परित ।
- (५) पूर्णचन्द्र सूरिकृत विजय-पञ्च-दण्ड-प्रकाश ।
- (६) देवमूर्ति का विजय-परित ।
- (७) चैतन्यचन्द्र विद्यासक्त-प्रतिनिधि ।

उपरोक्त ग्रन्थों की रचना तेरहवीं शती तथा पन्द्रहवीं शती ई० के बीच में हुई। साहित्यिक दृष्टि से इनके कारण उनमें महत्त्व तथा विस्तार प्राप्त होता है। किन्तु वे सभी ऐतिहासिक पुराणों का ही वर्णन करते हैं तथा उनकी कहाणियों का सीधे ऐतिहासिक तथा वास्तविक है। उनमें विक्रमादित्य की वीरता तथा प्रेम-सीता-सम्बन्धी अनेक कल्पनिक कहाणियाँ हैं, किन्तु वे सभी विक्रमादित्य के अस्तित्व, उनके पराक्रम के केन्द्र अवस्था, उनके कार्य के स्वरूप तथा उनके उच्च जीवनदर्श को एक स्तर से स्वीकार करते हैं। इन

ग्रन्थों का विवेकपूर्ण उपयोग चित्रमादित्य के इतिहास के पुनर्निर्माण में बहुत सहायता कर सकता है।

७. भारतीय पुरातत्त्व का साक्ष्य

प्राचीन भारत के बहुत से इतिहासकार चित्रमादित्य के अस्तित्व में सन्देह करते हैं। उनके अनुसार चित्रमादित्य के बारे में कोई ठोस पुरातत्त्व-सम्बन्धी प्रमाण उपलब्ध नहीं है। वे आपत्ति प्रकट करते हैं कि किसी भी साहित्यिक परम्परा को ऐतिहासिक कहकर स्वीकार नहीं किया जा सकता जब तक पुरातत्त्व-सम्बन्धी प्रमाणों से इसकी पुष्टि नहीं हो जाती। उनकी आपत्ति का मूलतः नहीं स्वीकार दिया जा सकता, क्योंकि इसे स्वीकार करने पर सम्पूर्ण प्राकृतिक इतिहास ही अस्वीकार करना पड़ेगा जो असम्भव है। फिर भी आपत्ति के द्वितीय अंश में कुछ सच है। इसमें सन्देह नहीं कि पुरातत्त्व के प्रमाण साहित्यिक परम्पराओं की पुष्टि करते हैं। अतः यह ऐलन उचित है कि माकवा, मज्जभाट तथा राजपूताना के पुरातत्त्व-सम्बन्धी अनुसन्धान के चित्रमादित्य के अस्तित्व पर कोई प्रकाश पड़ता है कि नहीं।

(१) अभिलेखों का साक्ष्य

माकवा तथा समोदवर्ती क्षेत्रों में अभिलेखों के रूप में पुरातत्त्व-सम्बन्धी अन्वेषण हुए क्षमता पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। सम्बन्ध (प्राचीन वृषपुर) में प्राप्त दो अभिलेख निम्नलिखित हैं : ५९३^१ तथा ५८९^२ माकवा-संघर्ष है, माकवा राजा ने प्रचलित संघर्ष का लोचन करते हैं। इन अभिलेखों में एक महत्वपूर्ण उल्लेख 'माकवा-राज-स्थिति' है। विद्वानों ने इसकी व्याख्या भिन्न-भिन्न प्रकार की की है। कीलहार्न^३ ने 'राज' का अर्थ 'राजा' या 'वर्च-राजता' किया है। 'राज' शब्द का दूसरा भी अर्थ हो सकता है जिस पर विद्वानों ने विचार नहीं किया है, क्योंकि उन्हें भारतवर्ष में राजराज्यों के अस्तित्व में सन्देह था। किन्तु बाद के अनुसन्धानों ने इसे स्पष्ट कर दिया है कि प्राचीन भारत में राजराज्य के तथा कीलहार्न की व्याख्या का विरोध हुआ तथा उसे अस्वीकार की किया गया। काशीप्रसाद आचर्यवाक ने^४ 'माकवा-राज-स्थिति' शब्द का

१. माकवा-राज-स्थिति। वर्तमान स्थिति में : चित्रमादित्य-सम्बन्धी क्षेत्रों में खोजें।
२. कीलहार्न, ई० इ० १८९०, भाग १, अभिलेख सं० १८

३. माकवा-राज-स्थिति-सम्बन्धी क्षेत्रों में खोजें।

४. इतिहास-सम्बन्धी क्षेत्रों में खोजें।

५. माकवा-राज-स्थिति-सम्बन्धी क्षेत्रों में खोजें।

आख्या की है—'माकनगण-विधान के संस्करणार्थ संशुद्ध का संस्थापन'। डॉ० अ० स० अम्बेकर^१ उक्त 'माकनगण-विधान' शब्द की व्याख्या 'माकनगण में प्रचलित संस्कृत अनुसार' और 'माकनगण की प्रथा के अनुसार' उचित समझते हैं। डॉ० अम्बेकर का प्रथम अनुवाद सरल तथा स्वाभाविक है। दूसरा भी स्वीकार करने योग्य है, यदि इसका अर्थ यह हो कि माकनगण संस्कृत-प्रचलन से कोई सम्बन्ध नहीं था, जैसा कि डॉ० ए० रा० भाभारकर^२ का मत है।

अन्तिम ने स्वीकार किया कि उपर्युक्त अभिलेख में माकन-संस्कृत विधान-संस्कृत का समकालीन था क्या दोनों एक ही थे। तब से विधान तथा विधान के साथ स्थापना की गयी कि दोनों संस्कृत एक ही हैं। अल्पकाल महीने कोनों ने यह स्पष्ट किया है कि प्राग्निषिक कतिपयों में माकन-संस्कृत, कृत-संस्कृत के नाम से अभिहित था।

(डॉ० अ० स० अम्बेकर द्वारा कही कृपाकथा से सम्पादित) अन्तिम के रूप अभिलेख^३ से स्पष्ट होता जाता है कि माकन-गण-विधान में (माकनगण का प्रथम से विधान के अनुसार इतरता या रहा था) माकन कृत-संस्कृत का व्यवहार करते थे। अभिलेख की तिथि १८२ कृत-संस्कृत है। डॉ० अम्बेकर^४ का यह निमित्त मत है कि कृत-संस्कृत, माकन-संस्कृत तथा विधान-संस्कृत एक ही हैं। कृत-संस्कृत के नामकरण का कारण यह था कि इसने अकटार की भाषा में कृतपुरा का प्रारम्भ किया था।

इस उपर्युक्त अभिलेखालोक करनेवालों से कहा जाता है कि एक माकन-संस्कृत था (जिसे पहले कृत-संस्कृत कहते थे तथा जो विधान-संस्कृत का समकालीन है) जो 'माकनगण के संविधान' की स्थिति में संस्थापित किया गया था। इस ऐतिहासिक तथा औचित्यपूर्ण परम्पराओं से यह भी ध्यान मिलती है कि विक्रमादित्य ने १० ई० पूर्व में एक संस्कृत की स्थापना की। इन दोनों तथ्यों को एक साथ रख कर विचार करने पर यह बात सरलता से स्पष्ट हो जाती है। विक्रमादित्य माकनगण से सम्बन्धित थे। विक्रमादित्य को माकनगण से सम्बन्धित करने में हमें एक ही उक्त की व्याख्या करनी होगी। जैन परम्परा के अनुसार वह 'गर्दभिल्ल'-वंश का था। वर्तमान लेखक के मत में गर्दभिल्ल

१. धर्मशास्त्र अभिलेख, भाग २९।

२. नन्दारकर-सूत्रि-अष्ट, पृ० १९१।

३. नन्दारकर सूत्र अभिलेख, पृ० ६० भाग २०।

४. संज्ञाति, अष्टादश १९५३।

माकड़ों की एक शाखा थी। माकड़ों में अनेक शाखाएँ थीं इसका प्रमाण तो मन्दरा के अभिलेख से ही प्राप्त हो जाता है। मन्दरा केस में ध्वज के किए उत्तरवासी माकड़ 'सोती' शाखा के थे। इस प्रकार गर्दमिन्न-सोती आदि माकड़ों की मिन्न-मिन्न शाखाएँ थीं। अतः चित्रमादित्य के ध्वज का नाम गर्द-मिन्न उनके माकड़-गण-प्रमुख होने में अपरोधक नहीं होता। उसी प्रकार उनका 'राजा' कहकावा, अथवा अपने पिता के ज्ञान प्राप्त करवा भी हम लोगों के समुक्त कोई कठिनाई नहीं उपस्थित करता। मन्दरा-भूप-अभिलेखों से हम जानते हैं कि दक्षिण-पूर्वीय राजपूतावा के माकड़ों में कभी-कभी लक्षकेश्वर को वा तीन-तीन पीढ़ी तक उसी कुटुम्ब में चलता रहता था।

प्राचीन भारत में राज नेताओं की उपाधि 'राजा' भी बहु स्पष्ट तथा सुविज्ञात पद्व है। इसके अतिरिक्त कुछ साहित्यिक प्रमाण हैं जो चित्रमादित्य को माकड़ों तथा उनके गण से सम्बन्ध करते हैं।

(१) मेरुपुराणार्थ अपने ग्रन्थ 'विचार-भेनी' में, विचारका अथवा राजपिनी का राजनीतिक इतिहास वर्णन करते हुए कहते हैं : 'महाश्वर के विचारण (५२० ई० पूर्व) के २०० वर्ष पश्चात् लकों के मरतोपल्लव के बाद एक माकड़ राजा चित्रमादित्य होगा'। 'माकड़' शब्द स्पष्टतः माकड़ के लोग अथवा माकड़गण के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, किसी स्थान के अर्थ में नहीं, क्योंकि 'विचारण' अथवा राजपिनी का नाम तो उल्लिखित है ही। यह एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक लेख है जो चित्रमादित्य को माकड़ों से सम्बन्ध करता है तथा माकड़गण-प्रमुख जो लकों के विध्वंसक तथा चित्रम-संघर्ष के संस्थापन के कारण थे, तथा चित्रमादित्य की एकता के सम्बन्ध में उदाई गई किसी भी आपत्ति को दूर कर देता है।

(२) एक अन्य साहित्यिक सामाजिक लेख, जो चित्रमादित्य के एक गण से सम्बन्धित होने पर प्रकाश पाकता है, काकिदास के अभिलेखन-वाकुलक के पुराने हस्तलेख में प्राप्त होता है जिसकी तिथि १६९९ है। यह हस्तलेख

१. अर्थशास्त्र २१, २, ६।

२. काकन्दरेण केणि उपाधिना समानं वर्तते। सोहीमाकड़रावा मदीन चित्रमादित्यो॥
१६५६ ई० समुच्चय, भाग १, परिशिष्ट सी० पृ० २९९ में उद्धृत।

३. जोरिजण्टल काकन्दरेण के बादर्हमें नभिलेखन (बनारस, दिसम्बर १९५३) में इस हस्तलेख को केन्द्र में डा० रमेशचन्द्र मजूमदार तथा श्री काशीनाथ दीक्षित (भारतीय पुरातन विभाग की अध्यक्ष) जैसे प्रसिद्ध विद्वानों को दिखाया गया।

काही हिन्दू विचित्रिकाक्रम के हिन्दी विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष श्री भाचार्य केसवप्रसाद मिश्र के यहाँ मिल गया। सम्बद्ध उद्धरण नीचे दिये जाते हैं :

(४) आर्वे रसमागमिसेवकीचतुरोः श्रीविक्रमादित्यस्याहस्ताङ्गस्याभि-
रूपमभित्तभूविहसं परिचयः । अस्यास्य यद्विहसप्रयुक्तेनाभिज्ञावसाङ्गुलकमाला
मदेन पादकेनोपस्थाप्यमाभ्यामिः । (गान्धर्व्ये)

(५) मयसु तव विद्वीडाः प्राग्वहृष्टि प्रकाश
त्वमपि विततचक्षो यस्मिन् आग्नेयाः ।

गणशतपतिर्क्षीरकमलोन्मूल्यकृत्—

विद्वत्सुययकोमयुग्रहस्तत्रवीर्यैः ॥ अङ्क ५.३७

उद्धरण (५) की कम्पावली को दोहे गहरों में बहित है वह पूर्ण स्पष्ट
कर देती है कि उस गहर के रचयिता काठियावाड़ के भागवतवादा का व्यक्ति-
वाचक अभिधान विक्रमादित्य तथा उसका विक्र साहसाङ्ग था । यहाँ
दूसरी प्याग देने बोध्य बात यह है कि विक्रमादित्य के नाम के पहले कोई
भी शकसी उपाधि नहीं लगी है । शकसी उपाधि की अनुपस्थिति का कारण
स्थान की कमी या कृष्ण की आवश्यकता नहीं हो सकती क्योंकि वह अनुपस्थित
गद्य में है पद्य में नहीं । यहाँ यह अभाव क्या महत्वपूर्ण है । स्पष्टतः विक्रमा-
दित्य एक गद्य-नायक थे और काठियावाड़ जैसे समकालीन कवि जो रामचन्द्रा-
स्तक संविधान के प्रतिनिधियों को अभीर्भाति समझते थे, उनके लिए कोई
शकसी उपाधि नहीं लगा सकते थे । यह भी प्पातम्ब है कि शकसी उपाधि
के स्थान पर साधारण आक्षेपक 'श्री' कम्प उनके नाम के पहले लगा
दिया गया है ।

उद्धरण (५) में गणभक्त (एक सौ गणतन्त्र) वह उपर्युक्त गणभक्त के
अनुमान की पुष्टि करता है कि विक्रमादित्य एक गद्यनायक थे । इस पद्य में
शत शब्द एक गोटसोठ संख्या का सूचक है और इसका सूचकार्थ 'बहुत' है ।
यह इस बात का सूचक है कि विक्रमादित्य बहुत से ग्यों से सम्बन्धित थे ।
बाद में यह स्पष्ट हो जायगा कि वे अनुसंस्कृत ग्यों के संग थे, जो शकों के

इन शब्दों के मत में वह इत्येवम प्रासंगिक है तब इसकी प्रासंगिकता में सन्देह
करने का कोई कारण नहीं । वह भी प्पात देना चाहिये कि इसमें कतिपय ग्यों
के प्राचीन रूप विक्रमन् हैं जिससे वह पता चलता है कि यह इत्येवम किसी
जन्य प्राचीन इत्येवम की प्रतिविम्बि है ।

विरोध और निष्कासन के हेतु संगठित किया गया था, प्रमुख थे। अधिकांश-
साक्षरों के कुछ संस्करणों में 'राणसत' के स्थान पर 'गुणसत' (सी गुण) शब्द
मिलता है। गुणसत राट स्वयं कव से अलसीपीन है। यदि हम इसको
स्वीकार कर लें तो यह सम्झना हुंकर हो जायगा कि सैकड़ों युगों में केले
हुए एक राजा के नाम अपने ही समय में इन्द्र को बीरे प्रसन्न कर सकते थे।

(२) मुद्रासाक्ष्य

पुरातत्त्व की एक अन्य शाखा मुद्रा-शास्त्र अवशो-भाकर के पक्षों में व
केवल साक्ष्य गण के अस्तित्व पर प्रकाश डालता है प्रायतः यह प्रथम शासक-राज-
पुत्र के तिथि-निर्धारण में भी सहायक होता है।

मगध के मौर्य समुद्र राज्य की एक करव जागीर अभियन्त में भारत के
एक प्रयोगी पुरातत्त्ववेत्ता कारकाहूक ने बहुत-बहुत छोटे छोटे पुरातत्त्व सिद्धों
की प्राप्ति और दूसरों से उनका संश्लेष भी किया था। सिधिविज्ञान के
आधार पर उसने उन मुद्राओं का वर्गीकरण किया और उसने देखा कि उनमें से
मौलिकतम मुद्राओं में मौर्य वर्गों में 'माकवानां कव' 'माकवानस्य कव' 'कव।
माकवाना' लेख हैं। इन लेखों का स्पष्ट अर्थ है माक्यों या माक-राज्य का विजय।
परवर्ती सिद्धों में उनके मौर्य अक्षरों में लेख हैं। कारकाहूक मौर्य वर्गों का-
मिशन में वे लेख निकले हैं—तिथि-निर्धारण नहीं कर सका और न वह माक्यों
का समीकरण इतिहास से प्राप्त किसी वांति से मुद्रा सका। इस कार्य
में सर एलेक्जान्डर कनिंघम प्रयत्नशील हुआ। वह निस्सन्देह सत्य पर पहुँच
गया था कि उसने वह-अवधार में कारकाहूक को किया था—'और केवों के
वर्गों में पर्याप्त भिन्नता है जो २५० ई० पू० से लेकर २५० ई० पू० तक के हैं। X
मेरा अनुमान है कि बिस्तीर, मजमेर और राजपूताना के सभी भाग माक्यों
के अधिकार में रहे होंगे। ऐसे बहुत-से सिद्ध हैं जो इस जन के नहीं हैं, उदा-
हरणार्थ वे सिद्ध जिनके लेख मगध से शुरू होते हैं। लेकिन आपके
सिद्धों में बहुत-से माक्यों के हैं जिनमें विभिन्न प्रकार से नाम अंकित हैं
और जो अनेक वांति के हैं : X X X मुझे सम्भेद होता है कि माक्य मुद्रा-
के मज्जोई हो सकते हैं।' ईसाव और सिमर का मत कनिंघम से कुछ भिन्न है
और उनसे अनुसार इन सिद्धों की तिथि को २५० ई० पू० से माचीन नहीं

१. आर्टो० सर्वे माक अभियन्त रिपोर्ट, पृष्ठ ६, पृ० १५०-१८१।

२. वही, पृ० २८२।

की ओर भावनों के प्रवास के इतिहास और प्रथम सताम्बी ई० पू० में माकन्य एवं इसके पड़ोसी प्रदेशों में उनके अधिपत्य से होती है ।

माकन्य जन का इतिहास प्रथम सताम्बी ई० पू० के अन्तिम पक्ष के के जाया का कहना है । बहुत पुरातन काल में माकन्य प्रजाप में बसे हुए थे । महाभारत में एक स्थल पर विगतों के साथ उनका उल्लेख हुआ है^१ और एक अन्य स्थल पर उन्हें सिन्धु और अम्बको के साथ दिखाया गया है ।^२ महाभारत के बाद भी ज्ञात होता है कि माकन्य अर्द्धों के सम्मिश्रित क्षेत्रों को पचासवीं के समीपवर्ती भूभेदों को अधिपत्य किये हुए थे । विगत वर्तमान काल है । प्रातः सर्व के वेदा काय पत्रा है कि माकन्य उच्चरमिनी प्रजाप में रहनेवाले विगत और अर्द्धों के तथा सिन्धु के उत्तर में सिन्धु के किये हुए थे । वे इन्डो-प्रजाप के एक बहुत बड़े हिस्से को अधिपत्य किये हुए थे जिसमें सिन्धु के पूर्व सुविद्या का के किये तथा सिन्धु, एमिआन, माकन्य और महेरकोटका, जो आज भी माकन्य कहलाता है, के राज्य सम्मिश्रित थे ।^३ महाभारत युद्ध में वे अर्द्धों की ओर से लड़े थे ।

संस्कृत के भारतीय वैवाचन्य जी माकन्य का उल्लेख करते हैं । 'आयुज्योवी संव' (आयुज्य-व्यवसाय पर वीरिका कमानेवाले गणतान्त्रिक चरित्र लोग) के अंग में 'सामिनि' माकन्य-पुत्रों का निर्देश करते हैं । सामिनि के कथानुसार वीरिका की का एक कथन है कि आयुज्योवी संवों में माकन्य और पुत्रक सर्वप्रमुख थे । सामिनि के श्रुतों पर वीरिका करते हुए वरजकि चरित्र समर्थों (चरित्र सामिनी द्वारा अधिपत्य प्रदेशों) के इच्छा में माकन्य और पुत्रक का संयुक्त उल्लेख करते हैं ।

बनन केवल भी, सिन्धु के सिन्धु के भारतीय अधिपत्य का वर्णन किया है, माकन्य और पुत्रकों का साथ ही उल्लेख करते हैं । वक्ता के उन्हें कथनः महेर और माकन्यद्वेष्य नाम के अधिपत्य किया है । वे सिन्धु की रावी और सिन्धु के सिन्धु के प्रदेशों में बसे हुए थे । माकन्य और पुत्रक दोनों गणतान्त्रिकों के एक साथ बनाया था जिसने बड़े साइर के साथ सिन्धु का

१. श्रौतपर्व १०-१४ ।

२. श्रौतपर्व १३-४ ।

३. महाभारत

४. दि इन्डो-प्रजाप गणतान्त्रिक, भाग १३ पृ० १०५ ।

५. ५. ४ ११४ ।

६. ४ १, ११४

विरोध किया था, अब वह सेठस होकर पंजाब से छोट रहा था। परिचय^१ के अनुसार चैस के उन प्रदेशों में सर्वाधिक धीर कानून् राहू थे। परिचय^२ मालोई को स्वतन्त्र भारतीयों की एक जति बतकाता है। माकन-बुद्धक संघ के साथ युद्ध करने में सिकन्दर बड़े भाग्य से सम्मुख में आने से बचा था। संवदित सेवा में १००००० सैनिक थे। 'हस सेवा से सिकने की सम्भावना पर मकदूनिचा बाकों का साहस आता रहा।' 'अब मकदूनिचा बाकों ने देखा कि उन्हें कीमती ही एक बचा युद्ध करना है जिसमें भारत के सर्वाधिक युद्धमित्री राष्ट्र उनके विपक्षी होंगे, एक सम्प्रदायित मन ने उन्हें आश्रय कर दिया और वे विद्रोह-जरी कर्मों में अपने राजा की भर्त्सना करने लगे।' 'संवदित सेवा के बाधकत्व में आन्तरिक पार्थक्य होने के कारण माकन और बुद्धक सिकन्दर से पराजित हुए परन्तु वे पराजय के उपरान्त भी जीवित रहे। बचन सेवकों के अनुसार दोनों ने सिकन्दर के साथ लड़ने का ही और 'ही राक्षस' भेजे जो 'सपके संघ रूप पर आक्रमण के और वे असाधारण काहूति पूर्व कही की गौरवाणित ब्रिवाके थे। उनके बचन किमेन के बने थे और उन पर सोने और मकमल की लुहकरी की हुई थी। उनका कहना था कि उनकी वरपता का कारण ईश्वर हैं नच नहीं।' बाकलों को अपनी स्वतन्त्रता का गर्व या मिले थे कई बलामिदों तक अनुत्पन्न बनाये रहे।

बचन सेवकों के कर्मों से यह स्पष्ट है कि सिकन्दर महान के हाथों माकन बच होने से बच गये : लेकिन हमारे पूर्व कि वे अपनी कति और अपने शौर्य को, जिसे बचन आक्रमण ने दिया दिया था, पुनः प्राप्त कर लसके, पंजाब प्रांत को साम्राज्यवादी मीलों (और उनके बाद) दुष्टों ने जघिहृत कर दिया : इन परिस्थितियों में माकन अपना कलाकली और अवमानित भरितत्व बनाये रहे। अब बुद्ध राक्षसिक का हास होने लगा और एक बार फिर पंजाब बाकली बचनों के आक्रमण से पराभूत हुआ, माकलों के ऊपर पहले से ही दुरा संकट था पड़ा। उन्हें एक जयपुर सम्प्रदाय का सामना करना पड़ा। अपनी स्वतन्त्रता छोकर और बचनों से पराजित होकर उन्हें पंजाब में बना रहना चाहिये जबकि अपने मूल प्रदेश को त्यागकर एक नवीन

१. १. ४

२. ६. ६

३. ब्रिटिश राज १, अध्याय ४; मेडिकल, 'इन्वेन्स माक शिवना वार्ड पदमबाण्डर' पृ० २३४।

प्रदेस की ओर में प्रयास करके सब (या बहुत कर्म में राष्ट्र) के रूप में अपनी स्वाधीनता की रक्षा करनी चाहिए । स्वतन्त्रताप्रिय मासकों ने द्वितीय विश्वयुद्ध को स्वीकार किया । धार्मिक कर्मों का इच्छा करने पर पंजाब के बहुसंख्यक ग़लतफ़हमकों के साथ मासक लोग अपने किन्तु बर्तमान राज्य का निर्माण करने के विचार से इच्छित-पूर्व की ओर बढ़ गये । इस समय पूर्व में मराठा राजशाही के द्वारा ने इन कर्मों को प्रोत्साहित किया ।

मासकों के प्रयास का मार्ग इच्छित पूर्व पंजाब और उत्तरी पूर्वी राजपूताने के होकर अन्धभारत तक सीधा जा सकता है । ऐस के इन पथों में बहुसंख्यक प्रधान 'मासक' राज्य का इसके कुछ कर्मागतों से सम्बन्ध है । पंजाब का कलकत्ता नदी का इच्छितपूर्व भाग और राजपूताना तथा गुजरात के बीच के प्रदेस स्वाधीन क्षेत्रों के द्वारा मासक कहे जाते हैं । यह इस बात का सूचक है कि मासकों ने इन स्थानों को अधिग्रहण किया था । मौरिक और आधुनिक कालों के ज्ञान होता है कि वर्तमान मयपुर राज्य के इच्छित पूर्व भाग को मासकों ने कर्मागत १०० ई० पूर्व अधिग्रहण किया था ।^१ इस प्रदेस के प्रथम कर्मागती ई० पूर्व के प्रथम पथ में उनका इच्छित-पश्चिम की ओर प्रयास उन्हें अवश्यी के राया । यह वह समय था जब राजा भारत व इच्छित-पश्चिम द्वारा (जोकर दर) को अवस्था रहे थे । कर्मों के कर्म के कर्म सिन्धु और गुराण होते हुए अवश्यी में अधिकाधिक हो गये और सामने पश्चिमवासी कर्मक कर्म को अपने साथ बढ़ा के गये । मासकों की अवश्यी का आवास जोकरा पथा । किन्तु उन्होंने साइल नदी कोया और अपने साहसी प्रधान विक्रमादित्य के नेरक अधिनायकत्व में राशों का एक संघ बनाया जो राजस्थान के सीमांत तक फैला था और जिसने ५० ई० पूर्व में कर्मों को गहरे वराज्य का अनुभव कराया । अपनी इस महान् कृति के परिणामस्वरूप मासक-गल राजध्वनी में पुनः संस्थापित हुआ ।^२ इसी महान् प्रयत्न का समारोह मनाने के लिए मासक-संघ (मासक-गल-संवित्प्रदा) का प्रवर्तन किया गया^३ और विजय प्रकार के सिक्के चलाये गये ।^४

१. मासक० सर्वे इच्छित० दिवो० भाग १, पृ० ११०-१८१

२. मासकगणसंवित् ।

३. अपनी आरम्भिक कर्मागियों में मासकगणसंवित् भाग में वह हल संघ (कर्मगण) कर्मागता था

४. 'मासकगणसंवित्' वा 'मासकगणसंवित्' ।

जयपूरी को पुनः अधिपत्य कर देने के अनन्तर १३५ वर्षों तक साकल्य और सख्खि के साथ सासन करते रहे। इस काल के अन्त में शकों के महीन आक्रमणों ने उन पर पुनः बाधा डाली। साकलों को जयपूरी छोड़ना पड़ी और वे उत्तर-पूर्व की ओर विस्थापित हुए। (उद्दयपुर राज्य में प्रसिद्ध) समुद्राक्ष अग्निसेनों से विद्रोहित होता है कि साकलों के कृत (विक्रम) संवत् के तृतीय शतक के अन्तिम पाद में साकल्य राजसम्पत्ति के दक्षिणी-पूर्वी भाग को अधिपत्य किये हुए थे। इसके भी बाद समुद्रगुप्त के राज्यकाल में (ईसवीय संवत् के चतुर्थ शतक के पूर्वार्ध में) वे कदापि उसी प्रदेश में थे।

साकलों के इतिहास की सर्वप्रमुख विशेषता रही है आक्रमणों के साथ उनका सतत और अत्यन्त संघर्ष। पञ्जाब में उन्होंने यवनों से युद्ध किया। राजसम्पत्ति और अन्धभारत में उन्होंने शकों के साथ संघर्ष जारी रखा। इनके (शकों के) विरुद्ध उन्होंने १३५ वर्ष तक सुवर्ण माला का काम किया। इस काल के अन्तर्गत पर उनके शकों के हाथों विपरीत स्थिति का अनुभव हुआ तथापि वे सामान्यतः जन के हित में प्रवृत्त रहे। लेकिन एक नये साम्राज्य में, जिसका प्रारम्भ गुप्तों ने किया था, अन्धभारत और राजसम्पत्ति के अन्ध गणतन्त्रों के साथ साकलों को भी मिलन किया। समुद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के राज्यकाल के अनन्तर भारतीय इतिहास में साकलों का नाम फिर कभी नहीं सुनाई पड़ा।

९. साक-प्रसरण का साक्ष्य

ई० पू० प्रथम शतक में भारत पर शक-आक्रमण एक ऐसी घटना है जिसे इतिहासकारों ने सर्वसम्मति से स्वीकार कर दिया है। यह भी मान लिया गया है कि शक भारत में प्रवेश करने से अनेक हुए और सिंगर होते हुए आये गये। शक कानून सटी से न आये होंगे। यहाँ उनका कोई भी विश्व प्राप्त नहीं हुआ। इस प्रदेश में पुरातत्त्ववेत्ताओं द्वारा उद्घाटित सहस्रों मुद्राओं में एक भी समुद्रगुप्त प्रकाश में नहीं आयी है। यह पूर्ण निश्चित है कि शकों द्वारा भारतीय यवन राज्य के पूर्वी भाग अधिपत्य कर देने के उपरांत भी कानून प्राप्ति यवनराजाओं के अधिकार में रही। सम्भवतः ही से शकने शकों की आक्रमण सेनाओं के अन्तर्गत से भी भारत में प्रवेश नहीं पा सकती थी क्योंकि इस मार्ग से आता सरीरतः असम्भव था। इस परिस्थिति में शकों के लिए एक ही विकल्प बचा था कि वे उस मार्ग को अपनायें जो एरियाणा, दक्षिणी-पश्चिमी अफगानिस्तान और बख्तिस्तान होकर जाता था। बोलन

हों से सम्बन्ध वह एक मिलाव राजमार्ग का जो लङ्का (इंग्लिशाबाद = भीरुनाग) और सरस्वती (अराकोसिथा = कम्बहार) के पञ्चदश शतों से मनुई पर्वत-आका को बार करते हुए मिचली सिन्धु के प्रदेश तक जाता था । सिन्ध में एक हुतनी सचमता से बस गये और उन्होंने वहाँ देता सुस्रष्ट प्रभाव डोका कि वह प्रान्त 'सकहीर' (शकों का प्रदेश) के नाम से प्रख्यात हो गया ।^१

भारतीय इतिहास में शकों की उपस्थिति कोई प्रथम घटना नहीं थी । काश्मिर के प्रवासों की यह एक कदर भी जो सम्भवसिथा से उठी थी । ईसा-पूर्व अष्टम शतक में ग्रीक लीदियन या शक प्रधान-परिवर्तन कर रहे थे और वे एशिया और यूरोप के अपने विभिन्न आवासों को त्याग चुके थे । उनकी एक भारा दक्षिण-पश्चिम की ओर बढ़ आती थी । परन्तु भारतीय आवासी राजाओं ने पहले ही उन्हें बचक में रोक दिया और बाद में सिकन्दर के बचन उत्तर-विचारियों ने उनकी गति बन्द रखी । तथापि बचन बाकी अधिक दिनों तक न रह सकी । बचक में बचन राजतन्त्र का टाट होते ही कर्नर उबरकों का अकरोच उन्मिल हो गया और संवृत शक शैलियों के देश के साथ दक्षिण की ओर बढ़ गयी ।

शकों का दक्षिण की ओर बढ़ना एक अन्य महावर्ण घटना से सम्बन्धित था । सन् १६५ ई० पू० में चीन के उत्तरी-पश्चिमी प्रान्त में रहने वाली (चीनी इतिहासकारों ने सूची नाम से प्रसिद्ध) एक वाचानर (कान्जरोक) काश्ति विंग-नू (हूण) लोगों द्वारा पराजित की गयी, मध्य-एशिया की काश्तियों की स्थिति में अत्यन्त कम उपरिष्ठ हो गया । विंग-नू लोगों द्वारा अगले शाने पर बूझी काश्ति दक्षिण-पश्चिम की ओर चला दड़ी और उसने शकों को सीरदिया के उत्तरी कोठे के निवासस्थान से भिगाव दिया तथा उन्हें दक्षिण-पश्चिम की ओर किलक जाने के लिए बाध्य किया । अपनी लुचनी बाद में शक बचक की बचन राजतन्त्र को बड़ा के गये और अपने पश्चिमी प्रवास में केवल पञ्चों (पाण्डियों) द्वारा ही रोके जा सके ।^२

भारत की ओर शकों के पश्चिमी प्रवास के मार्ग का निम्नलिखित अनुष्णोद् में निर्देश हुआ है 'कानुक की बचन राजतन्त्र के द्वारा अन्वेषित होने पर

१, जे० कार० प० ए० १९१३ पृ० ६६५, दिग्गजी १ और २ में दोंनो दल विरुद्ध बर बहुसंख्यक अधिपुत्र केसकों के पञ्चरत्न देते हैं

२ तुलनार्थ, जी० प० रिमर, 'जहाँ हिन्दी आज दक्षिण' (कर्तुर् संचरण) पृ० २३६-२३७ ।

सकों की प्रमुख बाढ़ सदा में ही एशिया में हिमाल की ओर और वहाँ से बचिन में सीरिया की ओर हो गई होगी। गिस्समैद सीरियन आक्रमण की कहर इन विलाओं में उसी समय से बह रही थी जब तक सीरिया के उस पार के मरेसों से यूबियों द्वारा विप्लवित किये गये थे। इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि ईरान में आरम्भिक सीरियन आवास उस समय संघटित किये गये थे जब सकों ने पहले पहले बचिन को अधिगत किया था। पहले राजा को क्षमति पूर्ण ईरान पर अधिकार कमाये थे, जो राज्यपालों (ग्रेटल द्वितीय १२८-१२८ ई० पू० और अर्तावानुस प्रथम १२८-१२९ ई० पू०) की अपनी सीरियन प्रजा के साथ सत्सङ्ग संघर्ष में लगे हुए थे। अपने सम्राट् मिश्रवेदल द्वितीय महान् के राज्यकाल (१२९-८४ ई० पू०) में इस संघर्ष का निर्णय पट्टों के पक्ष में हुआ। जब सार्मिक ने आर्का के रूप में बचिन का स्थान ले लिया था जो कि अपनी एशिया के संघटित एशियोग्रुपी प्रजाओं को अवलम्ब किये रहा। परन्तु आक्रमण के प्रभाव ने अपनी धारा बचिन की परिधान में रोके जाने पर इसने अपना मार्ग न्यूनतम प्रतिरोध की एकिके भिन्ना। बाढ़ में ईरान की पट्टों और बचिन सत्ताधियों के मध्य में पूर्णों के आक्रमणों की प्रति सकों का भारतीय आक्रमण की जातिओं की विनाश काय में एक प्रजा की जिसने न केवल भारत के अतिष्ठ एशिया और यूरोप के इतिहास को भी बहुत अधिक प्रभावित किया।^१

१०. शाक इतिहास और जैन साहित्य

जैन साहित्य में विहित ऐतिहासिक अनुधुतिर्वां सकों को उपर्युक्त बाढ़ और आक्रमण से निकल जाती हैं। प्रभावकचरित के अनुसार जैन परिमाणक कालकाचार्य गर्दमिष्ठ से उपमागित होकर सिन्धु नदी के तट पर पहुँचे जहाँ पर १५ एक सरदार सासन कर रहे थे। वे अपने (पुत्र) अधिराज द्वारा उपरपागित किये गये थे। गर्दमिष्ठ से बचका केने के लिए कालकाचार्य ने उन्हें अकम्पनी में आक्रमण करने और वहाँ बस जाने का परामर्श दिया। इस स्वागत परामर्श से सकों ने सिन्धु नदी तट की ओर ७२ ई० पू० में भारत पर आक्रमण किया। पूर्णों सहित मिथीय सूत्र, इसम उद्देश में कामला देसा ही इतिहास थाया जाता है (अभिधानराजेंद्र भाग १ पृष्ठ ५८२ में उद्धृत)। इस सूत्र से विदित होता है कि कालक परसकुल (वा सर्गकुल) गये। वहाँ

१. प्रो० ग्रेवाल. ईश्विन विन्नी बाढ़ इतिहास, भाग १, पृ० ५६७।

एक साहि (साधि) राज्य कर रहा था। साही का एक अधिपति था साहानुसाही (साहानुसाहि)। वह अधिपति (स्पष्टतः पार्थिवराजा) साहि से कुछ दूरे गया और उसने उसका सिर मँगा। साही ने काटक से सफाई की और उसके परामर्श से सुराह होते हुए भारत देश को प्रवास किया। तथा उज्जयिनी के गर्दभिह को पराजित किया।

जैन अनुश्रुतियों में यह भी कहा गया है कि गर्दभिह के पुत्र विश्वसाहित्य ने थोड़े ही समय बाद भारत के प्रथम राजा आक्रान्ताओं को निष्कासित कर दिया। यकाग्रविह जनों का भवन्ती आकर बणिग-पूर्वार्ध राजस्थान के भक्तियों से संघर्ष होना भवन्तभावी था। साहानुसाही और विदेशी जगत्तमों के विश्व संघ बना केना भारतीय जनों की राजनीतिक परम्परा रही है। बनि और साहों ने मगध-सफाई अक्रान्तियों के विश्व संघ बनाया था। पञ्चाय में साहों और पुत्रों ने भी यवन आक्रान्ता सिकन्दर का विरोध करने के लिए एक ऐसा ही संघ बनाया था। एक सर्वजनीन सङ्घ के विश्व सम्बन्धों और राजस्थान के जनों ने (सतगण) साहानुसाहित्य के सुचोम्य अधिनायकत्व में एक सर्वसंघ का निर्माण किया और ५० ई० ५० में साहों को निकाल बाहर किया।

११. निष्कर्ष

विगत दशों में हमने भारतीय संघ, लोकप्रिय कथाएँ, ग्राह्य और जैनों की साहित्यिक अनुश्रुतियों, जामिकेसरी (पवित्रापी), मीदिपी (मूडिस्मेडिक्स) तथा साहानु और साहों के इतिहास आदि विभिन्न स्रोतों से उपलब्ध साधनों का परीक्षण किया है। यदि उन पर पुनः पुनः विचार किया जाय तो सम्भव है कि निर्णायक सिद्ध न हों और उनके प्रमाण पर सम्बेद भी प्रकट किया जा सकता है। लेकिन जब उन साधनों सम्मिलित किया जाता है तो वे एक केन्द्रीय सत्य—ई० ५० प्रथम सताब्दी में विश्वसाहित्य के अस्तित्व—के विषय में परस्पर संगत हो जाते हैं और इस तरह उनके बारे में प्रकटित भारतीय अनुश्रुतियों की सत्यता प्रमाणित करते हैं। उपलब्ध साधन हमें निश्चितिहित निष्कर्ष पर ले जाते हैं।

(१) विश्वसाहित्य केवल परिकल्पित नहीं मरुत एक ऐतिहासिक व्यक्ति हैं जो प्रथम सताब्दी ई० ५० में हुए थे।

(२) वह साहों की—जो पञ्चाय से भवन्ती चले आये थे—गर्दभिह साहों के थे।

- (३) वह 'माखन-गण-मुख' थे ।
 (४) प्रथम शताब्दी ई० पू० में माखन गण की राजधानी जयसिन्धी थी और विक्रमादित्य वहाँ कासन करते थे ।
 (५) उन्होंने ५७ ई० पू० में प्रथम सप्त आकाशार्थों को निष्कारित किया ।
 (६) एक संवत् की स्थापना करके जो, अपनी अष्टविभक्त शताब्दियों में कृत और माखन संवत् कहलाता था और बाद में विक्रम संवत् के नाम से विख्यात हुआ, सप्त पराक्रम की इस महती कृत्तता का समारोह किया गया ।
 (७) शकों के विषय माखनों की सफलता को समर्पण करने के लिए 'गण' लैली के सिद्धे भी बसाये गये ।
 (८) विक्रमादित्य एक जादूगार और लोकप्रिय कासन थे । वे कला और साहित्य के एक विख्यात आभरणवाला थे ।



द्वितीय अध्याय

कुछ प्रचलित मतों की समीक्षा

पिछले अध्याय में हमने साक्ष्यों को उपरिष्ठित किया है और प्रथम शताब्दी ई० पू० में विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता पर उनके प्रत्यक्ष प्रमाण का भी विवेचन किया है। भारतीयों के लिए, जो तथाकथित वैज्ञानिक-ऐतिहासिक-ज्ञान-सर्व-विश्ववत् नहीं थे, विक्रमादित्य वास्तव में एक ऐतिहासिक पुरुष थे। किन्तु जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है बहुत से प्राच्यविधाविस्तारद बिद्वानों ने विक्रमादित्य-सम्बन्धी अत्यन्त प्रचलित एवं काल-पुजित परम्पराओं में भी सन्देह किया है। प्रथम शताब्दी ई० पू० में उनका अस्तित्व अस्वीकार करते हुए उन्होंने विक्रम संवत् का प्रवर्तन प्राचीन भारत के किसी तथाकथित ऐतिहासिक पत्रलि से ज्ञात राजा पर धोपने का प्रयास किया है। इस प्रयास में उन्होंने नये सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है जिनमें कुछ तो अज्ञ-सम्मत और अधिकांश काव्यमय एवं असम्मत हैं। अतः अपने पिछले अध्याय के निष्कर्षों को पुनः बल देने के लिए हम सिद्धान्तों की परीक्षा तथा मुख्य-निर्धारण करना एवं यह दिखलाना अत्यन्त आवश्यक है कि वे सिद्धान्त प्राचीन भारत के अपमर्त ज्ञान पर आधारित, दोषपूर्ण और आन्तिमूलक हैं।

१. फर्ग्युसन का सिद्धान्त

यूरोप के सबसे पुराने लेखकों में, जिन्होंने विक्रम संवत् का समीकरण करने का प्रयास किया, फर्ग्युसन भी एक हैं। उन्होंने एक विचित्र सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उनके मत में जिसे हम विक्रम संवत् कहते हैं, वस्तुतः उसकी स्थापना ५४५ ई० में हुई थी, ५० ई० पू० में नहीं, जो इसके मारम्भ की तिथि समझी जाती है। उनका कहना है कि जम्बुद्वीप के विक्रमादित्य ने जूनों के विरुद्ध कोकर के युद्ध में निर्णायक विजय प्राप्त की थी तथा उसी महत्वपूर्ण घटना की स्मृति को शाश्वत बनाने के लिए उन्होंने एक संवत् की

स्थापना की थी। उससे संवत् को समारत तथा काकपुत्रित बनाने के लिए जिसकी स्थापना की तिथि ६×१०० (अथवा $२० \times ६०) = ६००$ वर्ष बीजे ५६ ई० पू० में ठेक हो^१। 'मैक्समूकर'^२ ने भी इस मत की पुष्टि की और कुछ समय तक यही मत प्रमुख रहा।

विशाल कैलक के मत में बहुत सी सुष्टियाँ हैं। निम्नलिखित आपत्तियों के कारण इस मत को स्वीकार नहीं किया जा सकता :

(१) बड़ी सताव्दी में उज्जयिनी में एवं विक्रमादित्य नाम का कोई राजा नहीं था। मन्वसोर (वसपुर) का यशोधर्मन् ही एक प्रमुख राजा था। मन्वसोर^३ में उत्सवों से स्वप्न-केसों में उसकी बिलियों का वर्णन मिलता है, किन्तु उसमें उसकी 'विक्रमादित्य' उपाधि कहीं भी नहीं है और न इसका प्रयोग किसी प्रामाणिक लेख से ही सिद्ध होता है।

(२) विक्रम संवत् का संस्थापक 'शका' (शकों का राजा) था, हुआरि नहीं, जैसा कि पञ्जातन का एवं विक्रमादित्य है। संस्कृत के लेखकों ने हूनों तथा शकों में स्पष्ट विभेद किया है अतएव दोनों में भ्रम का कोई अवसर ही नहीं था।

(३) इस मत के प्रतिपादक ने इस बात की सम्प्रेषणक व्याख्या नहीं की कि उक्त संवत् का संस्थापन कल्प सताव्दी^४ में नहीं बल्कि ६०० वर्ष पूर्व ही क्यों ठेक दिया गया।

(४) विक्रम संवत् की तिथि में बहुत से प्रामाणिक लेख प्रकाश में आये जो संवत्-संस्थापन की कल्पित तिथि से पूर्व के हैं ;^५

२. कीलहार्न का सिद्धान्त

दूसरे विशाल कैलक जिन्होंने विक्रम संवत् से सम्बन्धित प्रश्नों की परीक्षा की, कीलहार्न के उन्होंने उस समय माकव तथा विक्रम संवत् (जिनमें कीलहार्न ने साम्य बताया है) के प्रायः सभी अभिलेखों का विस्तृत विवरण किया तथा इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि विक्रम की स्मृति में न तो विक्रम संवत् का प्रवर्तन हुआ या और न संस्थापन ही, क्योंकि इसका आरम्भ कार्मिक से होता है जो भारत में धुङ्ग (= विक्रम) भारत का समय था। 'क्लीट ने कुछ काक

१. जे. कार. ए. एस्. ३८७०, पृष्ठ ८२४; ९८८०

२. 'इण्डिया-हाउ टैम इट टोच मर' पृष्ठ २८१।

३. डीट ईस. इकि. विस्व २, सं० ११, ६५

४. देखिये, पीछे पृष्ठ १-५।

के लिए कीलहोर्न के मत को स्वीकार किया था। किन्तु उन्हें इस सिद्धान्त की पुष्टि में असफल होता पड़ा। निम्नलिखित तथ्य उनकी कल्पना को निराकार सिद्ध कर देते हैं :

(१) विक्रम-संवत् का प्राचीनतम नाम कुल है^१। कितने ही अभिलेखों में इस नाम का प्रयोग तिथि-निर्धारण में हुआ है। अब प्रसिद्ध विद्वानों द्वारा ज्ञान किया गया है कि उसी संवत् का नाम कालिका तिथिक्रम से कुल, माणिक तथा विक्रम संवत् हुआ। कीलहोर्न के सिद्धान्त से इस बात की व्याख्या नहीं हो सकती कि वही संवत्, भिन्न-भिन्न कालों में विभिन्न नामों से क्यों अभिहित हुआ? केवल एक ही सम्भव उत्तर दिया जा सकता है जिसको प्रस्तुत लेखक ने ५-२ पृष्ठों में दिया है।

(२) विश्व में कोई भी संवत् ऐसा नहीं है^२ जिसका नामकरण किसी जातु के आकार पर जो विशेष प्रकार के कार्य के लिए प्रसिद्ध हो, किया गया हो। व्यापक रूप से संवत्सों का संस्थापन किसी महान् पुरुष के नाम, मरण या किसी ऐतिहासिक घटना की स्मृति को अङ्गण बनाये रखने के लिए होती है। इस विश्वव्यापीन मथा की दृष्टि से कीलहोर्न का सिद्धान्त बहुत ही विचित्र मान्यता पड़ता है तथा तर्कसंगत भी नहीं प्रतीत होता।

विक्रमादित्य का अवहितरथ केवल इसलिए नहीं सिद्ध होता कि उनका नाम कारणवत् किसी संवत् के साथ नहीं जुड़ा है।

६. कर्मिचम तथा पत्नीड का मत

कर्मिचम ने सर्वप्रथम इस मत का प्रतिपादन किया कि विक्रम-संवत् का प्रवर्तन कर्मिचम ने किया था। बाद में पत्नीड^३ ने उसकी रक्षा और पुष्टि की। उन्होंने कर्मिचम के राज्यारोहण की तिथि को मध्यम सती ई० पूर्व रखा और अपने तर्क उपरिपक्ष किये कि कर्मिचम जैसे राजा ने, जो राजनीति और धर्म में समान रूप से महान् था, एक संवत् का आरम्भ किया, जिसे व्यापक रूप से लोगों ने स्वीकार कर लिया। यह मत निम्नलिखित तथ्यों को दृष्टि में रखते हुए स्वीकार नहीं किया जा सकता :

१. इण्डिक पब्लिशिंग हाउस १९, २०-१८९९, पृष्ठ ४०६-४।

२. इ० प० भाग ३०, ४।

३. इ० भाग ५० पृष्ठ १९११, प० १३०, १९४ और जगो।

(१) पंजाब तथा दक्खिणोत्तर सीमा प्रान्त में प्राप्त पुरातत्त्वकीय प्रमाण—
जोनों अभिलेखात्मक और भुवभाषीय—इस बात को सिद्ध करते हैं कि कमिष्क
धर्म के राजाओं को कैवलयहसिस धर्म के राजाओं के पूर्व नहीं रखा जा सकता ।
अतः कमिष्क का राज्याहोहन भी प्रथम शती ई० पू० में नहीं रखा जा
सकता ।^१ जब बिह्वत् कमिष्क को प्रथम संवाकदी ई० के उत्तरार्ध अथवा द्वितीय
शती के पूर्वार्ध में रखते हैं। इन परिस्थितियों के कारण इस मत का आधार
ही उपरिष्ठ हो जाता है । अतएव कमिष्क विष्णु संवत् का प्रवर्तक नहीं
माना जा सकता ।^२

(२) यह सतर्क दिखाया जा चुका है कि कुपणों द्वारा प्रयुक्त संवत्
सर्ववि-संवत् है जो बात और सहज के लिए प्रयुक्त होनेवाले अंकों रहित
पंजाब और काश्मीर में पहले से ही प्रचलित था ।

(३) यदि द्वितीय व्यापति में संदेह भी किया जाय तो भी यह पाया
गया है कि कमिष्क संवत् राजवंशिक संवत् था जो कुपण-कालम के पञ्चात्
जीवित न रह सका ।^३

(४) कुपण-संवत् भारत के कोने में एक विदेशी राजवंश के द्वारा
प्रवर्तित था और सम्पूर्ण देश में व्याप्त होकर भाद्वर न जा सका ।

(५) विष्णु-संवत् में अक्षिप्त तिथि में लगभग सभी लेख दक्षिणी-पूर्वी
राजपूताना तथा मध्यभारत से ही पाये गये हैं । यहाँ पर कमिष्क का राज्य
नहीं था । इसका उत्तर नहीं दिया जा सकता कि कमिष्क-संवत् अपने मूल
स्थान को छोड़कर इन भागों में क्यों फैल सका ।

(६) कमिष्क सम्पूर्ण भारत का शासक नहीं था तथा यह भारत की
केन्द्रित जीवन-धारा से सम्बन्धित भी नहीं था । केवल राजनीति, जो अधिक
भी होती है, किसी संवत् को लोकप्रिय तथा व्यापक नहीं बना पाती ।

१. इल्लिये मासिक, वी० आर० पृ० पृष्ठ०, १९१४ वृ० ५७६ और आगे; १९१५
पृ० १९१ और आगे ।

२. इस विषय पर एक परिचय (सिन्धीमिषन) किया गया था स्कीट के मत
का समर्थन, कोनेट्टी, कारनेट, तथा लांगवै केनीज ने किया तथा मिरोम वि० पृ०
सिम्य, वेबेज, और ग्रामस ने किया था इल्लिये वी० आर० पृ० पृष्ठ० १९१६
पृ० १२१ और आगे ।

३. वी० आर० पृ० पृष्ठ० १९१४ वृ० ५७६ और आगे ।

४. मार्शल का सिद्धांत

मर जान मार्शल ने जिस मत का प्रतिपादन किया उसके अनुसार ५७-५८ ई० पू० में प्रारम्भ होने वाले संवत् को राजा के शक राजा प्रथम अज ने प्रवर्तित किया था। केमिजल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग १ में टैप्सल ने इस मत की पुष्टि की है। मार्शल का मत उनके द्वारा जोड़े हुए तक्षशिला राजपत्र-अभिलेख पर आधारित है। इस अभिलेख में अंक १३६ के वाक्य 'अयस' लब्ध होता है। इसकी व्याख्या 'अज के १३६ में वर्षों' की गयी है। शक राजा प्रथम अज के प्रथम शासक की ई० पू० में मानकर, इस संवत् का प्रवर्तकत्व उसी को दिया गया है। शुभाग्रवस 'अयस' वाक्य का पाठ तथा व्याख्या सम्यक्पूर्ण है। डॉ० हर्षाचंद्र रामकृष्ण भाण्डारकर के अनुसार 'अयस' वाक्य लब्धवाचक है, उस वर्ष को आपाह के महीने थे। यही प्रथम आपाह का उपलोक किया गया है। इस प्रकार सम्यक्साध्य प्रमाण के आधार पर किसी मत का निर्माण करना सम्यक् है। इसके अतिरिक्त बहुत ही आपत्तियाँ हैं जो प्रथम अज के विभिन्न संवत् के प्रवर्तकत्व में बाधा डालती हैं।

(१) पञ्चाथ में प्राप्त प्रथम अज के किसी पर अभिलेख है 'महाराजस राजराजस महाराज अयस' किन्तु कोई भी तिथि नहीं दी गई है। तक्षशिला राजपत्र पर जिसमें प्रधान की कमी नहीं है वे उपाधियाँ अयस के पूर्व जोड़ी हुई नहीं पाई जातीं। यह तथ्य अयस और प्रथम अज के समीकरण को सम्भव बना देता है।

(२) अज देना कोई भी लेख नहीं पाया गया मिला उसका (अज का) कला का संकेत।

(३) पञ्चाथ में प्राप्त अज कोई भी लेख नहीं है जिसमें ५७ ई० पू० में संस्थापित संवत् का उल्लेख हो।

(४) अज की महानता और कृतियों की कोई भी लोकप्रिय-परम्परा नहीं है।

(५) भारतीय परम्पराओं के अनुसार विक्रम-संवत् का संस्थापन मालवा में हुआ, पञ्चाथ में नहीं।

(६) भारत में सुग्री से माचीन परम्परा है कि संवत् का प्रवर्तक लक्ष्मि (शकों का शत्रु) था, यह स्वयं शक नहीं था।

५. गोपाल भट्टवर का सिद्धान्त

भट्टवर महोदय ने अपने ग्रन्थ 'ऑर्गेनिको ऑब्ज् सर्वेयेन्स इण्डिया' में इस मत का प्रतिपादन किया है कि विद्रोह-संकर का मधुरतक सम्बन्धनी का महात्मावत काटन था। वे लिखते हैं कि 'यह संभव विचार्यत रूप से मान्य होना है कि गोपाल भट्टवर के अभिप्रेत हैं, जिसमें निम्न-गणना आकाश काति के अन्तर्गत के समय के की गई है, (आकाशनात्मिकता) 'कभी, गुप्त-अभिप्रेत १०० ५९), यह स्पष्ट कहा गया है। यह संकर कृष्ण-राजवंश द्वारा, कुछ सार्वजनिक, जिसकी विवेक कर्मिक के निमित्तविषय के रूप में इसके ही स्पष्ट कर दिया है, स्थापित नहीं किया जा सकता था। इसके अतिरिक्त यह भी सिद्ध नहीं हुआ कि कर्मिक का आकाश अनुशा और संपादन के अन्तर्गत था। यह वंश को खोदकर कोई भी वीर्यजीवी राजवंश इतिहास में ज्ञात नहीं है, जिसने आकाश वा साक्ष्य किया ही। यह इन इन सन्धियों की समझाने के शिरान्त अभिप्रेत के देखते हैं, जिसमें इन आकाश की वृत्तियों हैं—सारी वर्त के अन्तर्गत उनके पास संपूर्ण भावे और इससे अधिवृत्ति बनने की संपूर्णता की—सम्बन्धित करके देखते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि आकाश तथा गुप्तता की स्वतन्त्रता कातिनों में ही एक ही प्रकार की हाता हुआ कि एक प्रकार उन्होंने उनके पिता अन्तर्गत तथा पितामह अन्तर्गत को हुआ था। यह ही स्पष्ट तथा पूर्णतया ज्ञात है कि कर्मिक की वे कातिनों यह के स्वतन्त्रता के कि एक सन्धियों की वृत्तियों आकाश अन्तर्गत आकाश के वर्णन का बहुत महत्व है जिसमें यह कहा गया है कि 'कर्मिक के सारी वृत्तों में अन्तर्गत (स्वतन्त्र) है तथा आकाशों को स्वतन्त्र कहा जाता है। आकाश की इन स्वतन्त्रता कातिनों में सन्धिकाति को पहिचान कर और आकाशकातिना एक गण बनाकर, (क्योंकि ऐसा ज्ञान कहता है कि अन्तर्गत में अन्तर्गत स्थापित कर दिया था) सन्धित गुप्त तथा इसे अन्तर्गत राजा हुआ था। एक महत्त्व आकाश के वेगुप्त में एकलक्षण आकाश में आकाश-कर्मों के सन्धित होने की प्रमुखता काता का—१० ई० २० में सन्धित संवत्सर के—सन्धित गुप्त। किन्तु अन्तर्गत में और अन्तर्गत में अन्तर्गत की अन्तर्गत अन्तर्गत के सन्धितवर्तों वृत्तों का आकाश किया था, विद्रोह के अन्तर्गत में आकाश संभव को स्वीकार कर दिया गया।'

भट्टवर महोदय का मत कई अनुमानों पर आधारित है और सुनिश्चित के स्वीकार करने योग्य है। इसमें सम्बन्धित अनुमानों को निश्चित में दिया जा सकता है :

(१) प्रथम अनुमान कद्दामम् के गिरनार अभिकेस में उद्धिहित संकल्प के बारे में है। अन्तर महोदय इसे विकास संकल्प बताते हैं तथा कद्दामम् की तिथि (७२-५७) १५ ई० विहित करते हैं। कद्दामम् की यह तिथि अन्य विकासशील प्रजातों पर आधारित तथ्यों के साथ नहीं मेलती। गिरनार तथा कन्देरी अभिकेसों की दृष्टि में सबसे हुए अधिकतम विज्ञानियों ने यह स्वीकार किया है कि कद्दामम् आधुनिक के एक राजा कालिन्दी-पुत्र कुलुषाची (जिसे हम अन्तर मानी ई० के आरम्भ में ही एक समझते) का समकालीन तथा समुद्र का। अधिकतम विज्ञानियों ने गिरनार-अभिकेस की तिथि ७८ ई० में प्रमाणित एक संकल्प निर्धारित की है। इस आधार पर कद्दामम् की तिथि (७८ + ७२ =) १५० ई० तथा इसके पितामह की अवस्था १०० ई० विहित की जाती है। हम विकासवादित तथ्यों की दृष्टि में एकतरफ़ से हमें को ५० ई० पूर्व में आरम्भ होने वाले संकल्प का प्रवर्तक नहीं माना जा सकता।

(२) अन्तर महोदय स्वीकार करते हैं कि विकास-संकल्प कायदमकक के मातृ-संकल्प ही है किन्तु वे अनुमान करते हैं कि मातृ कालिन्दी-पुत्र के प्रारम्भ में-विशेष उन्हें पहले ही स्थापित किया जा—संगठित हो गई। यह विचार करना विचित्र और असंभव लगता है कि विदेशी विज्ञान ने स्थापित कालिन्दी को उनके स्थापन के प्रारम्भ काल में संगठित होने की आज्ञा दी है। यह कहने के समर्थ राजनीतिक आशुर्ग के विचारित का। अब यह सोचना भी स्वार्थ है कि इन कालिन्दी को अपने एक कविपति की अजीमता पर गर्व का तथा एक कदम की स्थिति में उन्होंने संसार की स्थापना की।

(३) कद्दामम् तथा कदम की लोकप्रियता केवल राजनीतिक आक्षेप है। अन्तर विदेशी अपने साक्ष्य की उल्लङ्घना की योजना अन्तर में करता है कि जनता ने स्वयं इसके (कालिन्दी के) किन्तु प्रार्थना की है तथा उसकी यह कायदमककता है। तीसरी पीढ़ी में कद्दामम् की लोकप्रियता संभव हो सकती है किन्तु देश में जनता विदेशी आक्रान्ता साक्ष्य कदम के सम्मुख में यह विस्तृत अस्वीकार है।

(४) अन्तर ही की अति आक्षेप भी एक राजा का। सभी भारतीय अनुपुतिर्वा एक अन्तर है कि विकास संकल्प का प्रवर्तक कालिन्दी (कदम का पुत्र) था, स्वयं एक नहीं। अन्तर कोई भी एक विकासवादित उपाधि का दावा नहीं कर सकता जिसमें विदेशियों के निष्कासन का भाव निहित है।

का प्रयोग नहीं किया, बल्कि उनके क्षेत्रों में विधि-अंकन उनके सम्पारोहण के क्षेत्रों में हुआ है।

(४) साधन प्रथम सती ई० पू० में गीतमीपुत्र सातकर्म के समकालीन नहीं थे। अतः वे सत्तों पर होनेवाले गीतमीपुत्र के विजय में भाग नहीं ले सकते थे। गीतमीपुत्र के नासिक अभिलेख से ज्ञात होता है कि गीतमीपुत्र ने बाद में दो बार सातकों को पराजित किया था।

(५) भारतीय अनुश्रुतियों के अनुसार विक्रमादित्य सम्प्रति के सातक के जब कि गीतमीपुत्र प्रतिष्ठान का संस्थापक था।

(६) कुछ जैन ग्रंथों में वाकिवाहन (सातवाहन न भाण्ड) का विक्रमादित्य के प्रतिद्वन्द्वी तथा वाहु के रूप में वर्णित किया गया है।^१

३. भाण्डारकर का सिद्धान्त

जब तक प्रतिपादित सभी सिद्धान्तों में सबसे गम्भीर सिद्धान्त यह है जो विक्रमादित्य का समीकरण चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य से करता है, जिसने लगभग १०५ ई० के लेकर ४१३ ई० तक वाकिपुत्र में राज्य किया था। सर्व-प्रथम इस मत का प्रतिपादन डा० विलाहेम रामकुण्ड भाण्डारकर^२ ने किया था। बाद में वि० ए० रिमंड^३, बेरीहल क्रीध^४ तथा भारतीय इतिहास के एक वर्ष के इलेक्सीकार किया। कुछ विद्वान् भाण्डारकर से कुछ भिन्न मत का प्रतिपादन करते हैं और विक्रमादित्य का समीकरण गुप्तवंशी समुद्रगुप्त या चन्द्रगुप्त से बताते हैं किन्तु सभी तरीकों का समुक्त आधार भाण्डारकर द्वारा दिये गये तर्क ही है जिसका अनुगमन इन विद्वानों ने किया है।

डा० भाण्डारकर के मत का प्रथम भाग धर्मसामक^५ है। विक्रमादित्य विनायक वैद्य (इण्डियन रिभ्यू, दिसम्बर, १९०९) तथा हरमसह जाकी (एशियटिक १२ पु० २३०) के हाककृत गाथा-सप्तशती में विक्रमादित्य के उल्लेख पर आधारित मतों का सम्मेलन कर चुकने की कल्पना करके उन्होंने सोचा कि वे ५० ई० पूर्व में विक्रमादित्य के अस्तित्व के सम्मेलन कर सकते हैं और

१. पुरातन मण्डन-संस्कृत।

२. जे० बी० बी० आर० ए० एल०, २०, १९०० पु० ३५८।

३. अली विश्व अर्द्ध इण्डिया. द्वितीय संस्करण १९१४ पु० २५० और नाले।

४. जे० आर० ए० एल० १९०९ पु० ४१३।

५. भाण्डारकर क्रमेयोरिकल अंक पु० १८० और नाले।

उसे मत्स्यों के संसार में भेज देने में सफल हुए हैं। किन्तु विद्वान् फेलक ने विक्रमादित्य की समस्या की अन्वेषणयोग्य प्रचुर सामग्री पर अधिक भी ध्यान नहीं दिया। प्रथम अध्याय में यह विस्तार आ शुक्र है कि डा० माण्डारकर द्वारा गांधारसमूह के विरुद्ध उठाई गई आपत्तियों जिसकी सुविष्टी और अत्यन्तोपमय हैं।

डा० माण्डारकर के मत का ऐवमयमक भाग विक्रमादित्य-विषयक अनुभूतियों और गुप्तों के वैभववादी इतिहास की समस्या पर आधारित है। उनके मत की दृष्टि में दिये गये तर्क लगभग वे ही हैं जो उनके समर्थकों के हैं। इस वर्ग के विद्वानों की यहाँ अकल-मकल विवेचना करना उपायैय नहीं होगा। उनका समवेत समीक्षण ही ठीक होगा। उनके तर्क नीचे दिये जाते हैं।

(१) प्राचीनतम ऐतिहासिक विक्रमादित्य (जिसकी प्राचीनता अमि-लेकात्मक व मुद्राराक्षीय प्रमाणों से सिद्ध हो चुकी है) प्रसिद्ध गुप्तवंश का द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य है।

(२) चन्द्रगुप्त ने पश्चिम तथा उत्तर-पश्चिम भारत का विजय किया था तथा यहाँ की वस्तु से निष्कासित सिक्का था जो उनकी उपाधि 'सकासि' की दृष्टि करता है।

(३) द्वितीय चन्द्रगुप्त ने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की थी

(४) क्योंकि चन्द्रगुप्त ने माकवा का विजय किया था अतः उनका नाम माकवा संघर्ष से संबंधित कर दिया गया जिसका संस्थापन ५७ ई० ५५ में हुआ था।

(५) द्वितीय चन्द्रगुप्त की दूसरी शासनाधी प्रजाविनी थी जिसको उसने यहाँ से जीता था।

(६) गुप्तकाल का वैभव का विवर्धन के प्रभों में प्रसिद्धिमान है जो चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के जन्माकाल से

हम हम तर्कों को एक-एक करके उँगो और पैरों के बिना कहीं तक चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य को भारतीय अनुभूतियों के विक्रमादित्य से समीकृत करने की क्षमता रखते हैं।

(१) केवल इस आधार पर कि द्वितीय चन्द्रगुप्त विकसादित्य के अभिलेखात्मक और मुद्राशास्त्रीय प्रमाण कड़े रखा है, उसे सबसे प्राचीन विकसादित्य नहीं कहा जा सकता । एक व्यक्ति के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए साहित्यिक प्रमाण भी समानकाल के महत्वपूर्ण हैं तथा कुछ विकसादित्य अपने हीसे प्रचुर मात्रा में साहित्यिक वस्तुएँ छोड़ गये हैं । (प्राग् भक्तोकीय) भारतीय इतिहास के बहुत से महत्वपूर्ण व्यक्तियों के कोई अभिलेखात्मक तथा मुद्राशास्त्रीय प्रमाण नहीं छोड़े हैं, उनके बारे में हमें साहित्यिक प्रमाणों से ही ज्ञात होता है किन्तु उनकी ऐतिहासिकता में संदेह नहीं किया जा सकता । तब विकसादित्य की ऐतिहासिकता मतभेद का विषय क्यों बना ही जाय ? केवल इस आधार पर कि उनकी रचना बहुत बाद में हुई, साहित्यिक अनुभूतियों की प्रामाणिकता पर संदेह नहीं किया जा सकता । अतः निःसन्देह अभिलेखात्मक तथा मुद्राशास्त्रीय प्रमाण चन्द्रगुप्त द्वितीय विकसादित्य के अस्तित्व की पुष्टि करते हैं किन्तु वे ५० ई० पू० के विकसादित्य के अस्तित्व का निवेद नहीं कर सकते, जिसकी सूचना अन्य लोगों से भी मिलती है ।

(२) द्वितीय चन्द्रगुप्त का लकीर वर विजय पदार्थ काली ई० के अन्तिम काल में लकीर की अन्तिम पराजय की ओर संकेत करता है । किन्तु इसके बहुत पूर्व ५० ई० पू० में भारतीय अनुभूतियों के अनुसार, जिसकी पुष्टि लकीर के इतिहास से भी होती है, लकीर का पराजय विकसादित्य के मेलून में गलतार्थ द्वारा हुआ था, जिसके परिणामस्वरूप भारतवर्ष में (५० + ०४) १६५ वर्ष तक, जब तक लकीर का द्वितीय शासनकाल हो गया, लकीर प्रकर कालिदास का उद्योग किया जा जिस प्रकार उसने लकीर के अन्तिम पराजय के बाद के केवल लकीर के शासनकाल के समय तक किया था । अतः द्वितीय चन्द्रगुप्त विकसादित्य की उन्हीं कारणों से 'लकारि' कहका सकता है जिन कारणों से प्रथम काली ई० पू० विकसादित्य कहकाता था ।

(३) विकसादित्य उपाधि की वास्तविक अन्तिमता मात्र था । उसकी उपाधियों अन्यथा विषय 'विपन्नकीय', 'काहलीय' तथा 'लकारि' की । द्वितीय चन्द्रगुप्त तथा अन्य गुप्त राजाओं (चन्द्रगुप्त और स्कन्दगुप्त) ने विकसादित्य की उपाधि धारण की थी, यह उनका अन्तिमता नाम नहीं था । अनुष्ठ काली ई० में विकसादित्य उपाधि की कल्पना ही इससे प्राचीन काल में विकसादित्य नाम की सूचना देती है जिसने बाद के राजाओं के अनुगमन करने के लिए एक आधार उपस्थित किया । हमें युरोपीय इतिहास में भी समानांतर उदाहरण

हो जाती है कि द्वितीय चन्द्रगुप्त जबकि किसी अन्य गुप्त राजा की विक्रमादित्य उपाधि कैसे लाकर संभव से संबंधित हो सकी ?

(५) सभी भारतीय अनुश्रुतियों के अनुसार विक्रमादित्य की उपाधि का केन्द्र उज्जयिनी ही था । गुप्त सम्राट् पारकिपुत्र के शासनकाल में अधिक से अधिक राजस्थिनी उनकी प्रादेशिक राजधानी थी वहाँ उपराज अथवा राज्यपाल शासन करते थे । किन्तु इन कारणों से ही वे उज्जयिनी अथवा अवन्ती के अधिकारि नहीं बने जा सकते । मुगल सम्राटों ने ही अपनी प्रादेशिक राजधानी तथा अल्पकालीन वास्तविक शासन, काहीर, अजमेर तथा औरंगजेब को बनाया था किन्तु उन्हें 'दिही का बाग़साद' कहा जाता था, प्रांतीय राजधानियों का नहीं ।

(६) गुप्त का वैभव जो काकिदास के ग्रंथों में प्रतिबिम्बित हुआ है गुप्त युग का ही आवश्यक रूप से नहीं हो सकता । विश्वसेन काकिदास विक्रमादित्य के शासककाल में किन्तु उनके विक्रमादित्य भारतीय अनुश्रुतियों के अनुसार ५० ई० पू० में विक्रम संवत् के अवर्तक थे तथा उन्होंने उज्जयिनी में, ७ कि पारकिपुत्र से शासन किया था । काकिदास को गुप्त युग में बसीर कहकर और उन्हें गुप्त-सम्राटों के वैभवशाही साक्ष्य से आप्वादित्य चतुर्थ और पञ्चम ज्ञाती ई० में विक्रमादित्य के अस्तित्व का प्रमाण बनाकर भारतीय परम्पराओं के प्रति बहुत बड़ा अन्वेषण किया गया है । काकिदास को गुप्तकाल में रहने वाले मत के लोगों की परीक्षा नहीं आसंगत न होगी :

१. संस्कृत साहित्य का पुनर्जागरण-काल

मैक्समूलर ने ज़री जती^१ ई० में संस्कृत साहित्य की पुनर्जागृति का सिद्धान्त प्रस्तुत किया था । उनके अनुसार भारत चतुर्थ जती ई० २० से द्वितीय जती ई० तक विदेशी शासन में रहा । चौद्व जन्म का देश में बोक-बाका था, जिसके द्वारा ब्राह्मण धर्म और साहित्य को बुरा किया गया था तथा संस्कृत साहित्य के स्वतन्त्र धर्म पूर्ण विकास के किम् कोई चारा नहीं था । अतः काकिदास की अजुत काव्य-सर्जन। इस काल में नहीं हुई होगी । जतः महाकवि भवदत्त ही साहित्य के इस बन्ध्या-युग के पञ्चाङ्ग ही बुने होंगे । गुप्त-सम्राटों के शासन-काल में ही ब्राह्मण धर्म तथा साहित्य ने पुनर्जागृति प्राप्त किया । अतः इन कारणों से काकिदास तथा उनके दोकक विक्रमादित्य ज़री काल के हैं । वे विद्वाद् भी, जो मैक्समूलर के इस पुनर्जागरण सिद्धान्त के

१. इतिहास द्युल डैन इट डीच जल । (१८८३) पृ. १८२ और जल ।

सम्मत नहीं है, यह स्वीकार करते हैं कि गुप्तकाळ में संस्कृत साहित्य को पुनर्जीवन मिला तथा कालिदास इसी युग के थे और उनके पोषक विक्रमादित्य भी इसी युग में हुए।

२. अभ्यधोष से कालिदास का परवर्तित्व

अभ्यधोष के 'कुडचरित' का कालिदासकृत रघुवंश से बहुत निकट सम्बन्ध है। दोनों ग्रन्थ महाकाव्य हैं। गुलगा के शब्द इस बात की स्थापना की गई कि साहित्यिक गुणों में कुडचरित रघुवंश से हीन है। अतः यह कहना की जाती है कि अभ्यधोष उस काल के हैं जिस समय संस्कृत काव्य-पैली अपने श्रेष्ठतम में थी तथा कालिदास ने बाद में आकर उनके अनुकरण किया और उनके आदर्श को विकसित किया। बौद्ध अनुश्रुतियों के अनुसार अभ्यधोष कनिष्क के समकालीन थे जिसकी सिधि या तो प्रथम शती ई० का उत्तरार्ध या द्वितीय शती का पूर्वार्ध निश्चित की जाती है। कालिदास, जिन्होंने उनकी सीली^३ का अनुगमन किया अथवा ही कुछ बाद में, कम से कम कुछ शतियों पीछे हुए होंगे।

३. हूनों का उत्प्लेख

राष्ट्र के दिग्विजय के संबन्ध में कालिदास ने हूनों का उल्लेख किया है। कहा जाता है हूनों ने प्रथम बार वंशज शाली के उत्तरार्ध में भारत पर आक्रमण किया जब कि उन्हें स्वयंयुक्त ने मार भगाया था। इस प्रहला के पश्चात् ही भारतवासी हूनों से अनिष्ट हो सके। अतः कालिदास को ३५० ई० सन् के पश्चात् ही होना चाहिये।

४. ज्यौतिष-सम्बन्धी प्रमाण

अनेक भारत-पुरोविदों का अनुमान है कि क्षुण्ण-काल में ही भारत यूनान और रोम के पश्चात्त्व जगत् के सम्पर्क में आ गया था और इसी काल में उसने यूनान तथा रोम से ज्यौतिष विज्ञान के सिद्धान्त ग्रहण किये। कालिदास के ग्रन्थों में ज्यौतिष-सम्बन्धी ज्ञान थाया

१. रासयुक्त तथा वे हिन्दी भास् संस्कृत किरतेचर ।

२. ई. बी. कानेर श्मश्रुतकृत द्वादि कुडचरित भास् अभ्यधोष

३. डा. आलशायी के साहित्यिक अभ्यधोष पृ. ४९ पाठक : श्मश्रुतकृत द्वादि मेघदूत,

जाता है अतः यह भारतीय इतिहास के कुपणकाल के समान हुआ था और उसके लिए केवल गुप्तकाल ही उपयुक्त काल है^१।

५. राजनीतिक घमाण

कालिदास अपने रघुवंश में रघु की विजय का विस्तृत वर्णन करते हैं जिसमें सम्पूर्ण भारत, सिन्धु के उस पार के पञ्चरस के प्रदेश तथा मध्य एशिया भी विहित है। इसके अतिरिक्त उनके ग्रन्थों में सामन्त तथा सैन्यमुख राजनीतिक तथा का प्रतिक्रिया मिलता है। यह स्थापित किया जा चुका है कि कालिदास के ग्रन्थों में श्रीका हुआ राजनीतिक चित्र समुद्रगुप्त तथा द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की विस्तृत विजयों तथा गुप्त-सत्ताओं के सामन्त तथा समृद्धियुक्त शासनों पर आधारित है।

६. कालिदास और विक्रमादित्य की समकालीनता

कालिदास की रचना कहे जाने वाले श्रुतिप-साक्षीय ग्रंथ उपनिषद्-भरण में कहा गया है कि विक्रमादित्य की राजसभा मवरकों से अलङ्कृत थी, जिनके नाम ये हैं—चन्द्रगुप्त, चण्डगुप्त, अमरसिंह, वाङ्म, वेतालसदृ, कटकर्पूर, कालिदास, वराहमिहिर तथा वररुचि एक स्वयम्भूत स्रोत 'खण्डनखल्लास्य' की 'आमराजकीय' से ज्ञात होता है कि वराहमिहिर का वेदावसान एक संवत् ५०९ में हुआ था। वराहमिहिर के समकालीन होने के बाते कालिदास की कृती प्राची ६० में रहे होंगे।

७. विक्रमादित्य का उल्लेख

मेघदूत में कालिदास निम्नलिखित तथा दिक्भाग का उल्लेख करते हैं^२। विद्वान् टीकाकार भक्तिनाथ ने, इस पर टीका करते हुए यह मत प्रकट किया है कि निम्नलिखित कालिदास के प्रशंसक व मित्र तथा दिक्भाग (एक बौद्ध भिक्षु तथा लेखक) उनके प्रतिद्वन्द्वी एवं मित्रिक के और उन पर आरोप किया करते थे।

१. जेकोबी जे. बी. एम. की १०, १०६ और भागे।

२. चन्द्रगुप्तचण्डगुप्तअमरसिंहवाङ्मवेतालसदृकटकर्पूरकालिदासः

समाप्तो वराहमिहिरौ नृपदेः समाप्तौ रक्षाभि दे वररुचिर्नर विक्रमस्य ॥

३. नवभिकारकस्तसंस्मरणके (५०९) वराहमिहिराचार्यो दिव्यतः

४. स्थान (वराहमिहिराचार्यो नृपदेः समाप्तौ रक्षाभि दे वररुचिर्नर विक्रमस्य ॥ पृष्ठ १४।

विद्वान्मूलक प्रमाणसमुच्चय की धर्मकृति टीका के आधार पर विद्वान्मूलक की तिथि चौथी सदी ई० तक की गई है। अतः काठिवास की भी इसी आंक में रचना चाहिये।

भारतीय इतिहास के मुक्तकाल में (चौथी सदी ई० से सابعةवीं सदी ई०) काठिवास की तिथि रचने वाले सिद्धांशों का संघेन में नीचे परीक्षण किया जाता है।

(१) यह धारणा कि भारतीय इतिहास के अत्यधिकत बीडकाल में, जिसमें बौद्धधर्म और विदेशी आक्रमण तथा सायन का जोरवाका भा, संस्कृत साहित्य तथा काल्य पूर्वरूप से विकसित न हो सका, प्रामाणिक नहीं है। ब्राह्मण धर्म वा साहित्य न तो बीड धर्म के उत्थान से प्रसिद्ध हुआ और न विदेशी आक्रमणों से। बीड लेखकों को संस्कृत में अपने ग्रंथों को लिखने के लिए बाध्य होना पड़ा तथा कई विदेशियों ने ब्राह्मण धर्म तथा साहित्य स्वीकार किया। इसी काल में धर्म-साहित्य के अधिकतम भाग की रचना हुई। द्वितीय सदी ई० ५० द्वारा सायनकाल में परमार्थ ने अष्टाध्यायी पर महाभाष्य लिखा तथा अनुस्मृति की रचना हुई।^१ रामायण तथा महाभारत के कई भाग रचे गये। महाभाष्य में बहुत से अवतरण उद्धृत किये गये हैं जिनकी सैली, भाषा तथा शब्द सभी काश्मिरी के हैं।^२ अष्टाध्यायी का अन्तर्गत अत्रिलेख (द्वितीय सदी ई०) काल्य सैली के संस्कृत गद्य में किया गया है तथा उसमें वैदर्भी^३ शैली के सभी अच्छे गुण हैं। गद्य में काश्मीरक सैली का प्रयोग ओकवद्व काव्यों के पहले होने की ओर संकेत करता है जिसका गद्य-लेखकों ने अनुसरण किया। यह भी समझ आता है कि ब्राह्मणक कृति की रचना आग्नेयकाल में हुई तथा सभी इसे स्वीकार करते हैं कि कश्मीर ने मुक्तकाल की रचना मुक्तकाल में की। इस प्रकार की साहित्यिक गतिविधि के काल की साहित्य पर अन्वेषण का गुण नहीं कह सकते। इस प्रकार काश्मिरी की मुक्तकाल के बहुत पहले ही विकसित हुई और काठिवास के ग्रंथों की रचना प्रथम सदी ई० ५० में अवसम्भव नहीं है।^४

१. अ० प्र० भाष्यप्रकाश : अनु गद्य भाष्यप्रकाश ।

२. ओकवद्व । महाभाष्य की भूमिका ।

३. अ० प्र० भाष्य ८

४. टुम्बार्ने, अ० अ० अ० अ०, एडि० एडि० १९१३; ओकवद्व, एडि० एडि० १९१३

चीनी लोगों का, जो भारत के सबसे की, भारतीयों की असी-सीति का नाम था। काफिरास हुनो, पारसीकी कश्मीरी में लिखता असी-सीति स्पष्ट करते हैं। अतः यह निष्कर्ष निकालना पूर्वकृत के बीच होगा कि काफिरास जो हुनो का उल्लेख करते समय प्रथम कही ई० पू० सम्भवतः ही काश्मिर स्थिति का नाम था अतएव उन्हें केवल तुर्किकों की ही तथा बड़ी कश्मीरी में नहीं कही जा सकना कि उन्हें हुनो का नाम था।

(४) भारतवासियों को विदेशियों के चला गया विज्ञान सीखने में प्राथमिक युगा नहीं थी यह एक सम्बन्धरहित मध्य है किन्तु अतीति-साक्ष्य सिद्धांत सीखने के समय को सीधे सीधे कला अनावश्यक है। तब उपस्थित करने वाले इस बात को ध्यान में रखते हैं कि युनायिटी व रोमवासियों के सबसे ७०० ई० पूर्व में वायुच यंत्र पैरसीज के निवासियों के अतीति सिद्धांत सीखा था। भारतवासियों का इन सम्बन्ध के देशों से सीधा सम्पर्क भारत में सीक साक्ष्य (३२९ ई० पू०) से बहुत पहले से था तथा उनके अतीति के सिद्धांत सीखने में भारतीयों के लिए कोई बाधा नहीं थी। भारतीय तथा यूनानी अतीति के सिद्धांतों में सम्य उपची उपस्थि एक देश में होने के कारण है। सामान्य में, कितनी दूरीया प्रथम कही ई० से पूर्व हुई थी, वायुचिज्ञान का निश्चित ज्ञान दिखाई देता है। काफिरास एक अतीति-साक्ष्य सम्बन्ध 'कामि' का उल्लेख करते हैं जिसकी समता यूनानी सम्बन्ध 'डायमिटर' (Diametron) से दिखाई गई है। किन्तु कुछ विद्वानों ने यह भी मत व्यक्त किया है कि इन दोनों कश्मीरी की समता सम्बन्ध हो सकती है अथवा वायुचिज्ञान संस्कृत कामि का यूनानी कश्मीर हो सकता है। काफिरास अपने अतीति-साक्ष्य उल्लेखों के लिए कार्यरत के भी नहीं नहीं हैं क्योंकि वे वायुचिज्ञान वैज्ञानिक सिद्धांतों का कार्य नहीं करते हैं, बल्कि अतीति-विज्ञान की वायुचिज्ञान चारवाही का, निश्चय बाद में सिद्धांतोक्तता हुआ, उल्लेख करते हैं।

(५) सामयिक समानों के निकाले गये निष्कर्ष भी समाने हैं।

१. रघुवंश, ४, ९०-९१।

२. यज्ञ० बी० दक्षिण। असी हिन्दी भाषा उचितन दक्षिणी १३०-१९, सैनसुद्ध दक्षिणी—६८ केन ६८ हीन यज्ञ १ पु० ६९०।

३. साक्ष्य, तर्क १८, १-१५, असी० १५-३।

४. यज्ञ० बी० दक्षिण : रघुवंश की युधि।

काकिवाक में मद्राकाश की रचना की थी न कि लम्काकीन इतिहास की। समुद्रगुप्त तथा चन्द्रगुप्त द्वारा किये गये विजय एवं के विजय के हीन एवं करते हैं। एवं के विजय का वर्णन अंशतः सीधे और सुझों के विजय तथा विक्रमादित्य के अर्धविजय पर आधारित है। इस में क्षमि और समुद्रि गुप्तकाश की ही विशेषता नहीं है। छद्मकाक का भी अधिकांश भाग क्षमिपूर्ण था। विक्रमादित्य की राजनैतिक तथा सैनिक सकलताओं के परिणामस्वरूप भी भारत में विदेशी शासन से मुक्ति का भोग किया गया १३५ वर्ष तक (५० ई० पू० से स्थापित विजय संवत् के लेकर ७४ ई० में लक्षों के द्वितीय आक्रमण तक) देश में क्षमि तथा समुद्रि बनी रही। एवं के वंश का उत्तीर्ण अन्वय में अकस्मात् एवं पुनः पूर्ण जन्त तथा वंश के अन्तिम विक्रासी राजा अभिषर्ण का वर्णन छद्म वंश के अन्तिम राजा अक्षयिक काशी देवभूति के आचरण एवं पुनः जन्त का स्मरण दिखाता है। काकिवास इन राजनैतिक गति-विधियों तथा घटनाओं से परिचित थे किन्तु प्रतिविम्ब इन उनके ग्रन्थ में पाते हैं। गुप्तकाक की घटनाओं से काकिवास के ग्रन्थों की घटनाओं का समीकरण करना आवश्यक नहीं है।

(५) कुछ विद्वान् बराहमिहिर से काकिवास की सम्कलीनता विक्रमा के लिए 'श्वोतिर्विवाभरण' के साक्ष्य को स्वीकार करते हैं और कामराज के प्रमाणों पर विचार करके कि बराहमिहिर की मृत्यु ५०९ सकाब्द में हुई थी, काकिवास को चौथी तथा छठी शताब्दी में बीच करते हैं। कुछ अन्य विद्वान् को श्वोतिर्विवाभरण को काकिवास की रचना नहीं मानते तथा उसे बाद की रचना स्वीकार करते हैं, इसमें उपर्युक्त प्रमाणों को विचित्रता का अस्वीकार कर देते हैं। प्रस्तुत लेखक के मत से, यद्यपि यह ग्रन्थ बहुत बाद की रचना है, इसमें प्रायोगिक परम्परा विद्यमान है। अतः इस परिस्थिति में या तो हम ५० ई० पू० में विक्रमादित्य की परम्परा को स्वीकार करें या आमराज के प्रमाणों को विचित्रता बता दें। किन्तु ऐसा करने से पहले यह जान लेना अच्छा होगा कि बराहमिहिर के सम्बन्ध में आमराज द्वारा प्रयुक्त संवत् ५४ ई० में स्थापित होनेवाला एक संवत् ही है या कोई अन्य सक-संवत् है जो बराहमिहिर की

१. अतिशय संशयित प्रमाणों द्वारा ५०९ ई० पर्यन्त ५०९ ई०।

देवभूति व छद्मकाक के अन्तिम विष्णुपुराण ४-१४-१९।

अंगोतिपञ्चाशीस परम्परा में वर्णित था। इस सम्बन्ध में बराहमिहिर के विज्ञानसिद्धि श्लोक बतावे हैं :

भूवर्णमकोपदेशापरिमर्तोपचरा भवमिदम् ।

सैवाराज्यं तेषां कथमिदम् भूवर्णमसत्तम् ॥

आसत् सत्तम् भूवर्णमसत्तम् भूवर्णमिदम् भूवर्णम् ।

वर्णमिदम् भूवर्णम् (१५२१) सत्तम् सत्तम् सत्तम् ॥

(बृहत्संहिता ११, १-३)

उद्धृत द्वितीय श्लोक की प्रथम पंक्ति से यह स्पष्ट है कि भूवर्णमिदम्-संस्कृत के आरम्भ तथा सत्तम्-संस्कृत की स्थापना में जिसका बड़ा उपयोग है, १५२१ वर्षों का अवसर है। भूवर्णमिदम्-संस्कृत का वर्तमान वर्ष ५०५२ है अतः उपरिसिद्धि सत्तम्-संस्कृत का आरम्भ (५०५२-१५२१ = ४९०१) वर्ष पूर्व अर्थात् विक्रम-संस्कृत के ५१५ वर्ष पूर्व हुआ। आगरा के अनुसार बराहमिहिर की सप्त सत्तम्-संस्कृत ५०१ में हुई। अतः यह बदला ५१८-५०१ विक्रम-संस्कृत से १ वर्ष पहले प्रदत्त हुई थी। उद्धृत प्रथम श्लोक से भी वही संकेत मिलता है। ५१८ ई० ५० में आरम्भ होनेवाले सत्तम्-संस्कृत का ज्ञान गार्गसंहिता के लेखक को था जिसकी रचना हज्जक में हुई थी। अतः आगरा द्वारा प्रयुक्त सत्तम्-संस्कृत के उद्धृत से हम बराहमिहिर तथा काकिकाश दोनों को प्रथम सती ई० में एक समझे हैं। प्राचीन अनुश्रुति को सिद्धते हुए आगरा में बराहमिहिर कुछ वर्षों की राखती कर दी होती की प्रतीति में अवसर भी नहीं जान पड़ती। अतएव किसी को भी यह विचार्य निकालने की जरूर है कि यह हम दो महात्मा ज्योतिषियों की विक्रमादित्य का समकालीन तथा उनके बराबर का अवकाश बतावे।

बराहमिहिर को, जैसा कि उनके द्वारा रचित बृहत्संहिता के ज्ञानात्माओं से स्पष्ट है, चौथी अवकाश सती सती में नहीं रखा जा सकता। इस प्रसंग में अवकाश के उद्धृत के सम्बन्ध में भारत का आधुनिक विज्ञान विस्तार से वर्णित है जो ग्रंथों के अभिलेखों से ज्ञात आधुनिक विभागों से ज्ञेय नहीं बताते।

(७) मेघनूत में 'विष्णु' शब्द का अर्थ है 'एक प्रकार का धर्म' तथा विष्णुता का अर्थ है 'विष्णु' अथवा 'विष्णुता'। मेघनूत को यह स्पष्ट हो गई है कि यह विष्णुता के जीव आराम के और विभागों के विस्तार के लिए है। महिमा की टीका में 'विष्णु' तथा 'विष्णुता' का अर्थों के रूप में

उल्लेख कवयनाग्रसूत है और विवेचन। इस स्थल को यदि मैं रचकर कि काकिवास इस प्रकार के उल्लेखों से किष्ट प्रसिद्ध नहीं हैं, महिलाय के इस सुझाव को गंभीरतापूर्वक ग्रहण नहीं किया जा सकता। मिथुन नाम का कोई भी कवि या आभयवाला संस्कृत साहित्य के इतिहास में नहीं दिखाया जा सकता। बीज मंधी में दिङ्नाम का उल्लेख बहुत ही अस्पष्ट रूप में हुआ है तथा दिङ्नामाचार्य का उल्लेख भी कम मिलता है जिसके आमाप्य ग्रंथों पर धर्मकीर्ति से होकर किन्नी थी। अब वह भी प्राप्त नहीं है। किन्तु यदि वह भी मान लिया जाय कि दिङ्नाम एक व्यक्ति थे, तो केवल यही अनुमान किया जा सकता है कि वे धर्मकीर्ति के पूर्व हुए होंगे। उनकी कोई निश्चित तिथि नहीं बताई जा सकती और काकिवास को गुप्तकाल में नहीं लाया जा सकता।



तृतीय अध्याय

उत्पत्ति तथा माता-पिता

(१) गर्दमिह

बृहत्कथामार्गवरी तथा कथारुतिसागर जैसे हिन्दुओं के प्रथम विक्रमादित्य की उत्पत्ति तथा माता-पिता पर कुछ भी प्रकाश नहीं डालते। उनमें विक्रमादित्य के जन्म की कहानी उज्जयिनी के शासक महेन्द्रादित्य से आरम्भ होती है।^१ और पहचलियों^२ तथा जीवमनुशासनिक ग्रन्थों^३ से इस समस्या पर कुछ प्रकाश पड़ता है। उनके अनुसार विक्रमादित्य के पिता का नाम गर्दमिह था। गर्दमिह श्वत्थिवाचक नाम नहीं बरन् बह वंश-नाम है। यह बात पुराणगत साक्ष्यों से प्रमाणित होती है। पुराणों के अनुसार^४ साठ (या दस) राजाओं का एक गर्दमिह (गर्दभिव) वंश काश्यों के समकालीन राज-वंशों में एक था। इसकी पुष्टि जैन ग्रंथ हरिवंश^५ से भी होती है जिसके सिद्धि सम्मन्धी इतिहास में राजस्य (गर्दमिह) राजाओं का उल्लेख है। उनका शासनकाल कुछ मिलाकर एक ही वर्ष था। हमने जो कुछ कहा उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि विक्रमादित्य का वंश गर्दमिह कहलाता था : वंश का यह अभिधान क्यों था, बहुतना कठिन है। प्रभावकचरित में यह वर्णन प्राप्त होता है कि गर्दमिह राजसभी मिथा (पर्वतों का लोक) जानता था जिससे यह वास्तुओं में कलकली मन्त्रा होता था।^६ यह विषय कोई सैनिक-धर्म-न्यास का

१. बृहत्कथामार्गवरी १०, १; कथारुतिसागर १८, १।

२. पञ्चावलिमनुष्यम् पृ. १७, १५०, १६६।

३. प्रभावकचरित पृ. २६-२५ (काक्यावार्मिकया)।

४. विष्णुपुराण २४, ४०१६, वासुपुराण ६७, ६५२, १५८ आदि।

५. अध्याय ६०, श्लोक ४५०।

६. प्रभावकचरित।

सैनिक व्यवस्था की जिससे कि वह गर्वभिन्न इतने मजबूत थे और बाद में उसी नाम से जाने गये। यह भी संभव है कि इनकी सेना का केसर मद्रास (काचरों का देश) तथा मल्ल या जिसके नाम पर उस परिवार का नाम पड़ा गया।

३. गर्वभिन्न मातृवंश की एक शाखा

यैव विद्यान् लेखक की विचारधारा से स्पष्ट होता है कि गर्वभिन्न एक बहुत बड़े समुदाय की एक शाखा थी^१। यह ग्रंथ विज्ञान (उल्लिखित) का राजवंशिक इतिहास सेते हुए विक्रमादित्य को 'मातृवंश' बताता है। यहाँ 'मातृवंश' शब्द कायला के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, यह इस बात से सिद्ध होता है कि विज्ञान यैव का, जिस पर विक्रमादित्य शासन करते थे, पहले ही उल्लेख हो चुका है। हम दूसरे साक्ष्यों से भी जानते हैं कि मातृवंश की ऐसी शाखाएँ थीं थीं। नंदसा-पूर-अभिलेख^२ के अनुसार 'हृषणाकुल' द्वारा स्थापित और प्रविवरण राजवंशों के मातृवंश में उल्लिखित विषय पर स्पष्ट करनेवाले, कथसोम के पुत्र, प्रभाप्रवर्धन के पुत्र, लोगियों के नामक सोम ने कई राज-सदस्य गायों को दक्षिणा (कप में दिया)।^३ यह अभिलेखात्मक प्रमाण इस बात की पुष्टि करता है कि ऐसी मातृवंश की एक उपजाति थी। उसी प्रकार गर्वभिन्न को भी मातृवंश की उपजाति माना जा सकता है। विक्रमादित्य^४ भारतीय इतिहासमयिह मातृवंश की गर्वभिन्न शाखा में उपलब्ध हुये थे।

४. मूलवंश : सूर्यवंश

हम इस प्रश्न का अभ्युत्पन्न और धारण करते हैं कि गर्वभिन्न-मातृवंश भारतीय-सिंधों के किस प्रजाति के थे। साहित्यिक ग्रंथों को इस प्रश्न की कोई जानकारी नहीं। नंदसापूर-अभिलेख मातृवंश की 'हृषणाकुल' राजवंशिक^५ कहता है। हृषणाकुल कायला के राजवंश से संबंधित थे। नंदसा-अभिलेख यह संकेत करता है कि मातृवंश सूर्यवंश प्रजाति थे। मातृवंश

१. ही ही मातृवंश का नाम विज्ञानमयिह।

२. पृ. ६० मय ५३, पृ. २१८-२५।

३. हृषणाकुल तथा कायला-सिंधु में विक्रमादित्य की मातृवंश से संबंधित स्पष्ट होती है, यहाँ पर विज्ञान का मातृवंश = मातृवंश, गण (मजबूत एवं विक्रमादित्य के काल में लक्षित होता है।

४. हृषणाकुल-सिंधु-सिंधु मातृवंश

का आरम्भिक इतिहास महाभारत में प्राप्त होता है : उनके अनुसार माकव राजाकीन प्रमुख कविगण राजवंशों के सम्बन्धित थे । विराट के राजाका कीचक की मत्ता माकव-राजकुमारी की ।^१ महाराज अकथति की राजी—सावित्री की माता—की माकव-राजकुमारी की ।^२ महाभारत के विज्ञान युग में माकव और वी की ओर से लड़े थे । माकवों का नामों और मंत्रों के वैधानिक सम्बन्ध यह सिद्ध करता है कि माकव महाभारत काक की प्रमुख कविगण सागिनों में सम्मिलित होते थे । बुनामी केक, मिन्हीजे विक्रमर तथा माकव—कुम्हों के बीच और युग का कर्मण किया है, माकवों की सामाजिक स्थिति यह स्पष्ट नहीं जाकते । ये केकक इनकी कविगण तथा लड़े का स्पष्ट संकेत करते हैं । बुनामिनी के द्वारा माकवों का लड़े माकवमात्रों के सिद्ध कभी उल्लेख और माकवः अन्तर सम्बन्ध गया है । कर्मण कविगणों के सिद्ध उपपन्न है जो कि वीरता की माकव के सिद्ध विख्यात थे ।^३

४. मन्त्रों से उनका सम्बन्धित सम्बन्ध

इसमें अब तक सर्वप्रसिद्ध माकवों की अपरिहृत संक्षिप्त सुज्ञान के साथ संज्ञान के माकवों से दिखाई है कि राजपूताका के माकव अपने की इषबाकु के स्वर्णमन्त्र की सम्मान जाते थे । इस संकेत में यह स्पष्ट स्पष्टा सादिष्ट कि 'माकव' कर्म स्वयं लूक या माकारिक कर्म नहीं है बल्कि यह स्पष्ट स्पष्ट है किसे करता है कि संज्ञान के माकव की किसी कवि की साक्षात् के । माकव अन्तर अर्थ में 'मन्त्र' के समाना का कर्मण है । मन्त्र यह सुज्ञान स्पष्टा मा कर्मण है कि ये माकव गौरवपुर सम्बन्धान्तरात् मन्त्रिण मन्त्राग्न से निकले थे । मन्त्र से मन्त्रे माकव या माकव मन्त्रण हुआ की बाद में 'माकव' हो गया । इस सुज्ञान की लूक पुष्टि माकवों की मन्त्रों से हो सकती है । सम्बन्ध मन्त्रोद्यम' में लूक सिद्धात्मकता के साथ यह सिद्धात् कि 'मन्त्र' अन्तर 'माकव' 'माकव' के समान है । माकव के सिद्ध बुनामी कर्म 'मन्त्रोद्' के भी मन्त्र स्पष्ट होता है । मन्त्र कर्म 'मन्त्रोद्' 'मन्त्र' के सिद्ध प्रपन्न होता है और 'माकव' का मन्त्र कर्मण 'मन्त्रोद्' होता ।^४ कर्मण मन्त्रोद् 'मन्त्र' कर्म की

१. महाभारत, ५.

२. वही

३. कविगण २, अध्याय ४ ।

केलिकर्म, कर्मण माकव इतिहास माई रवीन्द्राचार २० २१४

४. कविगण माकव मन्त्रों पर, २० २१-२२ (मन्त्रिण = सप्तमी = २०) ।

५. वही ।

मातृव्य काति के संरक्षण के लिये काय मानते हैं।^१ हमें ज्ञात है कि मातृव्य सूर्यवंशी इक्ष्वाकु के वंशज थे। वात्सीकि-सामान्य^२ के अनुसार कलाल के पुत्र कश्यपके पुत्र का पिता 'मत्त' था तथा उसने एक भद्राक्ष की स्थापना की थी जहाँ पर उसने संतान उत्पन्न की जाती है। मत्तों का सूर्यवंशी होना बीज साहित्य के भी सिद्ध होता है।^३ अतः, यद्यपि मत्त की राजकुलाना में एक राजा बलाना सम्भव नहीं, राजकुलाना के मातृव्य तथा मातृव्या की उत्पत्ति को ध्यान में रखकर पुत्र कश्यप के मत्तों तक के काल का काल है। अधिक संभव है कि उसकी एक शाखा रचना की ओर महाभारत के बहुत पूर्व ही चली गयी हो और मत्तों की उत्पत्ति बनी हो। मातृव्य ने इस लक्ष्य को स्मरण रखा था तथा इसकी अभिव्यक्ति मंदलायुध अभिलेख में कृत (विष्णु) संस्कार के तृतीय शासन में हुई।^४

५. विदेशी मूल का सुझाव

द्वितीय या तृतीय शती के कतिपय मातृव्य सुझावों के पुनरुत्पन्न बाद के एक कार्यात्मक सुझाव को ध्यान दिया जा कि मातृव्य एक विदेशी काति के वंशज थे। इन सिद्धियों के अभिलेख मत्तव्य हैं जिन्होंने विहित रूप से नहीं रखा जा सकता। किन्तु विद्वानों ने उस पर अर्थव्यय, मंगल, मङ्गल, मङ्गलस इत्यादि विविध नाम पड़े हैं। यदि इनका पाठ ठीक है तो वे नाम अप्रामाण्य हैं। इन अर्थपूर्ण बाद के कारण पर वि० २० सिद्ध ने अपना मत दिया कि वे उनकी विदेशी उत्पत्ति की ओर संकेत करते हैं। इसके विपक्ष बहुत ही आधुनिकों उदाहरण का एकमात्र है। इन सिद्धियों के अन्तर्गत मत्तव्य हैं कि वे रचना विष्णु के साथ नहीं रहे का कहे हैं। मत्तव्य के मत में या तो वे अतिउत्तममक अभिलेख हैं अथवा वे मूल अभिलेख 'मातृव्यानां कथा' के लिए प्रयुक्त हैं।^५ काशी ब्रह्मण्ड काव्यशास्त्र के अनुसार मत्तव्य है काति, कथ्याति तथा वेला के आरम्भिक भागों के अनुक्रम है। यदि वह स्वीकार की जाए कि मातृव्य काय कि इन सिद्धियों पर अवलोकन मात्र है तो भी उनकी विदेशी उत्पत्ति की पुष्टि नहीं होती। 'सिद्धों के

१ १०।

२. वात्सीकि-सामान्य मत्तव्यानां विवेचिता

अनुक्रम/विष्णुसाहित्य विष्णु सूर्यवंशी तथा १९०२, १।

३. मत्तव्याविष्णुसाहित्य, विष्णुशास्त्र

४ २० २० भाग १५।

५. कैपलॉग ऑफ काव्य इव एडिशन म्पुविषय, भाग १, पृ० १७४-१७५।

६. दि कैपलॉग ऑफ काव्य म्पु रैस्केट एडिशन, पृ० ११६।

अभिषेक के अनिवार्य मान बहुत ही विविध हैं तथा वे स्वयं बहुत सी भेदधर्मा हैं।^१ सावसवाक का मत है कि वे प्राग्निधर्म अक्षर हैं, यही हीन आख्या प्रतीत होती है। वे मात्र विविध अवस्था हैं किन्तु उन्हें विदेशासूक्त कावशा व्याप्य नहीं है। वे केवल ब्राह्मी में तथा वेदा की भाँति हैं और यदि सावसवाक के मत की स्वीकार कर दिया जाय तो, कभी तो नहीं किन्तु उनमें से अधिकतर कर्त्तव्यासूक्त है तथा पूर्णरूपेण समझने योग्य है।^२

एक अन्य मतका मत यह भी है कि कुछ सावसवाकियों के साथ ग्राह्य वे विचारणीय सिद्धे सावसवाकियों ही न हों तथा बाह्य से पाना करने अपने प्राप्ति-स्थान तक आये हों। ऐसे अधिष्ठानीय प्रमाणों के आधार पर कोई सिद्धांत नहीं बनाया जा सकता और फिर सावसवाकियों की एक अप्रजाति होती के सामाजिक स्तर पर संस्थासूय-अभिषेक के सावसवाकियों की दृष्टि में एकदम कि वे इच्छासूक्त के पूर्ववर्ती थे, वि० ए० सिद्ध का मत स्वीकार नहीं किया जा सकता। फिर भारत में प्रथम विदेशी आक्रमण के बहुत पूर्व ही भारतीय इतिहास में सावसवाक ग्राह्य थे।

विक्रमादित्य की उत्पत्ति के बारे में बहुत बाद के एक जैन ग्रंथ 'विक्रमादित्य-सत्य-प्रकाश' में एक विविध उल्लेख है। इसके अनुसार विक्रमादित्य का जन्म हुए वंश में हुआ था। हुए वंश में उत्पन्न, गन्धर्वसेन के पुत्र, विक्रमादित्य ने पृथिवी को मुक्त कर दिया।^३ प्रत्यक्ष रूप से यह प्रमाण निराधार है। हुएों ने उत्पत्ति पर कभी साक्ष्य नहीं किया। वे रॉयलों सती के अग्निस दिनों में भारतवर्ष में हुले तथा बड़ी सती के प्रथम कारण में पूर्वीय सावसवाक ही सीमित थे। उन्हें सदैव ही प्रकोप समझा गया न कि देव का एक। हुएों से विक्रमादित्य के प्राचीन वंश की जाम्बि सम्भवतः राजपूताना में शासन करनेवाले हुए वंश के निमित्त होने के कारण हुई जो अपने की भारतवर्ष के एक महान् पुत्र से, जिसकी देव में व्यापक क्रोडधर्मिता थी, सम्बन्धित करना चाहते थे।

५. विक्रमादित्य के माता-पिता

विक्रमादित्य के माता-पिता के नाम विभिन्न स्रोतों में विच-विच तरह से दिये गये हैं जिनकी ताकिका नीचे की जाती है:—

१. वल के, पञ्चमर्ती, वैदिक इतिहास न्यूयिर्क-टिबल ए. १९४

२. हुएवंशी सत्यवाक विक्रमादित्य-उत्पत्ति: । गन्धर्वसेन-उत्पत्ति: । पूर्वीयसूक्त कावशा ॥

पुरातन प्रत्यक्ष-प्रमाण में संश्लिष्ट हिंदी जैन ग्रंथमाला, पृ. २

	बृहत्कपा- संज्ञरी	कथासरि- त्सागर	सभाश्व- चरित	सविन्द- पुराण	हार्मिपारुषटिका	कोकप्रिय कवार्थ
	१	२	३	४	५	६
पिता	महेन्द्रा- दित्य	महेन्द्रा- दित्य	गर्गमित्र	गम्भर्वसेन	गर्गस के शेष में गम्भर्व	गम्भर्वसेन
माता	×	सौम्य- वर्णा	×	वीरमती	मदनरेखा (जैन संस्कार में)	×

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट हो जाता है कि पिता का अधिकतम शीक और अधिकृत नाम महेन्द्रादित्य था। किन्तु ये शीक के उपनाम गर्गमित्र तथा कपने कोकप्रिय नाम गम्भर्वसेन से भी प्रसिद्ध थे। हार्मिपारुषटिका गम्भर्वसेन (सेन) तथा गर्गमित्र दोनों को एक बताकर उनका साम्य सिद्ध करता है। विक्रमादित्य की माता के शीम नाम पाये जाते हैं। इनमें सौम्यवर्णा ही व्यक्तिगत नाम मान्य होता है तथा अन्य दो वीरमती और मदनरेखा विक्रम या कोकप्रिय नाम बताते हैं।

कुछ विद्वानों ने महेन्द्रादित्य का समीकरण गुप्त सम्राट् कुमारगुप्त प्रथम से किया है किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि कुमारगुप्त ने बड़ी उपाधि धारण की थी। किन्तु यहाँ स्पष्ट होने की बात यह है कि विक्रमादित्य के पिता का व्यक्तिगत नाम महेन्द्रादित्य था न कि उपाधि। इसके अतिरिक्त कुमारगुप्त ने पारसिकों पर शासन किया था। यद्यपि वह जयमती का अधिपति था किन्तु उसने जयमती को अपनी द्वितीय राजधानी कभी नहीं बनाया। ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्तों के समय में पूर्वी माकवा की राजधानी विदिशा अधिक प्रसिद्ध थी। इसके अतिरिक्त कथासरित्सागर से ज्ञात है कि विक्रमादित्य महेन्द्रादित्य की सुता से की सम्भवा थी, किन्तु यह सुहात तथ्य है कि कुमारगुप्त प्रथम का पुत्र स्कन्दगुप्त, जब कि उसके पिता जीवित ही थे काफी बचक हो गया था। इन तथ्यों के आधार पर महेन्द्रादित्य का समीकरण गुप्तवंश के सम्राट् कुमारगुप्त प्रथम से करना स्वीकार नहीं किया जा सकता।

सोमवैज भाट्ट ने महेन्द्रादित्य की वीरता तथा उदारता का निम्नलिखित स्वल्प चित्र उपस्थित किया है : 'जयमती नगर में एक विश्वविषयी महेन्द्रादित्य नामक शिशु-वृद्ध राजा, जयमती में दुष्ट की शक्ति, रहता था। यहाँ

एक राजकी नीरसता का शक है वह विभिन्न जनों को पकाने में कारगर था। जीवन्त में वह स्वयं हनुमान्पुत्र था। राज में उसका हाथ कुका रहता था किन्तु राजमन की मूढ़ पर छोटा रहता था।^१ जैव जन्मों तथा पुराणोंके अनुगमन सर्वमित्र (महेन्द्रादित्य) भक्तों में सर्वमित्र पंथ का संस्थापक था। वह सौमदेय के अरपट किन्तु स्वयंसेवक वर्ग के विकास-सुखदा है। सभी के नेतृत्व में मातृओं की एक जगह इतिवृत्तों राजपूताना के इतिव-वर्तित की ओर नहीं और भक्तों का अधिकार कम किया।

भक्तों के अधिकृत हो जाने के बोधे ही समय कलाम् महेन्द्रादित्य को सभी के विनाशकारी प्रथम साधक के अन्तर्गत होता कहा गया उसे सब की ओर लगाया गया।^२ किन्तु उसने मातृओं के को नेतृत्व प्रदान किया था, इससे एक समय के प्रति जगमें कमान पैदा हो गई और उन्होंने भक्तों की पुनः अभिलाष करने की भावना को नहीं छोड़ा तथा उसके सामान्य विक्रमादित्य के प्रतीक नेतृत्व में एक तीव्रपूर्ण इतिवृत्त का निर्माण किया।

महेन्द्रादित्य का व्यक्तिगत चरित्र जैव था। एक समय की पुष्टि 'बृहत्साम-मंजरी' तथा 'कामाक्षीसामर' से होती है। वह एक समय था जब जीव-साधक के समय के प्रभाव पौरु तथा जैनधर्म भक्तों की ओर प्रसार जाने का प्रयास कर रहे थे। जैव राजवंश और जैन भक्तों में सत्यमेव उक्त कहा हुआ। धार्मिक मतभेद की वह प्रक्रिया काकदाचार्य-कथा में अभिव्यक्ति पाती है। जबकि इसमें सत्यमेव का व्यक्तिगत कारण सर्वमित्र द्वारा काकदा की वृत्ति को रोक रक्खना दिया गया है। व्यक्तिगत कारण में इस साधकता को रोक नहीं का सकता कि मातृपंथ कश्चित् की एकपूर्ण रोक देना भारतीय राजाओं के किन् प्रभावकारण नहीं था, किन्तु इसमें एक गहरे कारण के होने का सम्बेद होता है। किन्तु पंथ महेन्द्रादित्य के विकास की प्रति का प्रभाव नहीं करते जब कि वे समय राजाओं के विकास की प्रति का वर्णन करने में नहीं हिचकते। इससे पाह सर्वमित्र द्वारा जैनधर्म पर अत्याचार का कोई प्रभाव प्रमाण नहीं है तथापि दोनों पंथों का सत्यमेव अद्वय हुआ होता जिसने कारण काकदा तथा महेन्द्रादित्य के बीच लगभग हुआ। सम्प्रतिगत और व्यक्तिगत काकदा ने विदेशी सभी के महापुत्र की मितता एक महेन्द्रादित्य का सम्बन्धक हुआ।

१. कामाक्षीसामर १८-१, ५, १३।

२. जगन्नाथपुरि, काकदाचार्य-कथा।

चतुर्थ अध्याय

जन्म तथा प्रारम्भिक जीवन

१. पृष्ठभूमि

विक्रमादित्य के जन्म की घटना उसी रात में अंकित हुई है जिसे इतिहास के सभी महान् पुरुषों के जन्म के सम्बन्ध में पाते हैं। चित्र तिमिराब्धय है और पृथ्वी के भार को हटाने के लिए वैसी सहायता की अपेक्षा की गई थी। येमेन्द्र तथा सोमदेव दोनों ने म्नेच्छों द्वारा पदवर्धित पृथ्वी की कष्टपूर्ण वृत्ता का वर्णन किया है :

‘हृन्म के नेत्ररूप में देवतागण कैलाश पर बैठे हुए किम के पास पहुँचे और कहा है देवाधिदेव ! दिति के पुत्र असुरों ने, जो प्राचीन काल में माय के द्वारा सारे गये थे, पुनः म्नेच्छों के रूप में जन्म लिया है। उन्होंने असुर देवताओं की वृत्ता तिनकों के बराबर कर ली है। अब केवल आप ही सारण हैं’।

‘जित्त समय उत्पन्न कैलाश पर, जिसकी चट्टियों को सुरहृन्म देला करते हैं, जो उर्वीची के रिमल सा सुन्दर है, जो सबसे बरालित करने में सतत है, शिव पार्वती के साथ विराजमान थे, म्नेच्छों से असुर देवतागण हृन्म के नेत्ररूप में उनके पास गये और बैठकर शिव की प्रशंसा करने लगे। जब उन्होंने उनके आने का कारण पूछा तो उन्होंने उनसे प्रार्थना की है देवाधिदेव, ये असुर, जिनका नाशने और विष्णु ने संहार किया था, पृथ्वी पर म्नेच्छों के रूप में फिर कल्पित हुए हैं। वे पहा और जन्म करीं में बाधा सकते हैं। वे साधुओं की कल्याणों को उठा के जाते हैं। सच तो यह है कि उन्होंने कौन सा अपराध बोध वृत्ता है ! अब आप जानते हैं देव ! कि देवलोका पृथिवी से ही पोषण पाता है क्योंकि माकणों द्वारा जो कुछ भी अग्नि में आहुति दी जाती है वही स्वर्गवासियों का पोषण करती है। किन्तु, बूँकि म्नेच्छों ने पृथ्वी को रौंद काका है, हृन्म सन्म करीं सी आहुति के साथ सुभाई नहीं पचता तथा देवता कोरा

सङ्ग्रहाग एवं अन्य पूर्ति के साधनों के विभिन्न हो जाने से सन्निहीन हो गये हैं। अतः इस सम्बन्ध में विचार कीजिये तथा किसी व्यवसायक को कृपया मैं अवगतित कीजिये जो ज्योत्स्नी के वास में सदा हो ।^{१५}

अपसुक्त दोनों अवतारनों में विनाश के वास ज्योत्स्नी ही थे, जिन्होंने ज्योत्स्नी की दीक्षा पहुँचाई की और व्यवसायक रूप से देवताओं को भी व्यभिक्त किया था। यह ज्ञान रखना चाहिए कि यहाँ ज्योत्स्नी सत्य का प्रयोग किया गया है न कि कार्यात्मिक 'ईश्वर' या 'शिव' का। संस्कृत साहित्य में 'ज्योत्स्नी' शब्द विदेशियों के लिए प्रयुक्त हुआ है, जिस प्रकार यूनान में यहाँ सत्य विदेशियों के लिए प्रयुक्त होता था। यह स्पष्ट है कि भारत की विदेशी आक्रमण का जन्म था। प्रथम सदी ई० पू० में यह आक्रमण एक-आक्रमण के अतिरिक्त अन्य नहीं था, जिन्होंने सत्य शक्ति तथा हिन्दूधर्म के शक्ति प्रयत्नों में समग्र आनेवाली सभी शक्तियों को गड़-गड़ कर डाला था। भारतवर्ष में सबों के आक्रमण के ऐतिहासिक तथ्य में जयानवीय सत्ता में रंग कर साहित्यिक कमिन्सकि पायी है।

२. विक्रमादित्य का जन्म

ज्योत्स्नादित्य तथा उससे पुत्र विक्रमादित्य सबों से अव्यक्तान्त तिमिरान्ध्र पीडिका में बन्द होते हैं। कथासरित्सागर के अनुसार ज्योत्स्नादित्य को पुत्रार्थ विविध प्रकार की उपस्था तथा मद्य करने पड़े थे। ज्योत्स्नादित्य की पुत्र की अभिकक्षा तथा देवताओं का शिव के यहाँ पहुँचना एक ही समय हुआ। जब देवताओं ने शिवजी की इस प्रकार मार्गना की, तो उन्होंने बगले कहा, 'साधो, इस बात के लिए चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं। भिक्षुत्वं ही सभी। विनाश नहीं, मैं जीव ही एक देता अपना कर्तव्य भिल्लो कदिनाई समाप्त हो जायगी।' इस प्रकार यह सब शिवजी ने देवताओं को दिया किया और जब वे गले गले हो शक्ति के साथ बैठे हुए पवित्र शिव ने आर्यवर्ण्य नामक गन्ध को बुझाया और आज्ञा दी, 'सत्त।' अनुपम की स्थिति में उत्तरो और उच्चिनी मन्त्री में राजा ज्योत्स्नादित्य के और पुत्र के रूप में जन्म ग्रहण करो ।^{१६}

अपसुक्त उद्धारण में तीन अन्य दिखाई पड़ते हैं। प्रथम, विक्रमादित्य

१. कथासरित्सागर १६ १।

२. यही १६, १, १५

३. यही।

बही-बही आर्थिकताओं के पश्चात् बहुत बार् में उत्पन्न हुए तथा उस समय उनके पिता अधिक आवश्यकता पार कर चुके थे। द्वितीय, विष्णुसाहित्य का जन्म एक राग (कनकाभिन्न राग) में हुआ था। तीसरे, राग का नाम साकम् (साकम् = साकम् = साकम्) था।

‘और जब उचित समय आया तो उन्होंने (रागी ने) एक वैभवाकी पुत्र उत्पन्न किया। जिसने कक्ष को उत्तरी प्रकार भारकर कर दिया जैसे सूर्य आकाश को कर देता है और जब उसका जन्म हुआ तो आकाश सम्पूर्ण सम्पूर्ण हो गया, आकाश से पुष्पों की वर्षा हुई तथा वैभवाकी ने पुत्रुभिन्ना किया। उस समय सम्पूर्ण भूत उत्सव के आनन्द में मग्न हो गया और ऐसा साकम् होने लगा मानो प्रमत्त, मृतादि अथवा नास्तिक हो। (और) उस समय राजा ने निरन्तर धन की इतनी वर्षा की कि बीजों को बोव कर कोई भी मनीषर नहीं रह गया (जब मनीषर सख् बीजों के किष्प प्रयुक्त होता है तब उसका अर्थ होगा ‘निष्पत्ता में विष्णुसाहित्य’ किन्तु अन्य स्थानों पर अनर्था)।’

१. नाम और विषय

कथासरित्सागर में उल्लिखित साहित्यिक लघुश्रुति के अनुसार शिव ने महेन्द्रादित्य को पुत्र के नाम तथा विषय के किष्प सुझाव दिया था। ‘(और) उस समय भगवान् (शिव) ने, शिवका मुकुट कम्पकला से सोभायमान है, राजा से स्वप्न में कहा, मैं तुमसे प्रसन्न हूँ। हे राजन्! मुझे एक पुत्र होगा जो अपनी शक्ति से पृथ्वी के सभी भागों का विजय करेगा। यह जन-नायक वर्षों, राज्यों, पिताओं आदि को अपने वश में करके जन पर शासन करेगा x x x तथा मोक्षों का वध करेगा। इस कारण उसका नाम विष्णुसाहित्य तथा अपने शत्रुओं के किष्प विधम स्वभाव-वाका होने के कारण उसका नाम विष्णुसाहित्य होगा।’ x x x शिव के आदेशानुसार महेन्द्रादित्य ने जन्म के समय उचित संस्कारों के साथ अपने पुत्र का नाम विष्णुसाहित्य और उपनाम विष्णुसाहित्य रखा।^{१३} साहित्यिक लघुश्रुति के ज्ञात होता है कि वाक्य का व्यवस्थापक नाम विष्णुसाहित्य और

१. कथासरित्सागर २८, १।

२. कथासरित्सागर, २८, २।

३. वही।

विश्व विप्लवशील था। विद्यमादित्य के नाम का उपनाम के सम्बन्ध में यह महत्वपूर्ण बात समझ रखनी चाहिए। बहुत से विद्वान् अन्त से दोनों को एक मानते बैठते हैं। लेकिन यहाँ तक आवश्यक विद्यमादित्य का सम्बन्ध है यह अभिप्रायक नाम था और यहाँ तक यह के राजाओं का सम्बन्ध है जिन्होंने विद्यमादित्य उपाधि ग्रहण की थी, यह विश्व था। विप्लवशील के अतिरिक्त विद्यमादित्य का दूसरा महत्वपूर्ण विश्व 'साहसाङ्ग' था। इसका नाम काकिदास के अभिज्ञानसाकुन्तल की कठिनयन मन्त्रकियिनी^१ तथा कुछ अन्य स्रोतों^२ से होता है। यह विश्व बाद में साहसपूर्ण कठिन कार्य सम्पादित करने के कारण जिसके कि विद्यमादित्य विख्यात के कारण दिया गया था।

४. शिक्षा

महेश्वरादित्य के अपने पुत्र की शिक्षा के किन्हीं सर्वोत्कृष्ट संभव साक्ष्य प्राप्त किये। विद्यमादित्य की शिक्षा उनके पीछे के पञ्चात् 'किमि' और 'संख्या' के प्रथम पाठ से प्रारम्भ हुई। उनका गणनीय सम्पन्न उपपन्न के समान प्रारम्भ हुआ और कुलामनुविधाका होने के कारण उन्होंने अध्ययन में ही ज्ञान प्राप्त कर लिया। 'अन्त उनका यज्ञोपवीत संस्कार हुआ और बाल्याधी के संस्कार में ऐसे गमे के (आचार्य) वस्त्रों काच-ज्ञान देने के विविध-भाष्य से, जो उनके अन्तर स्वयं ही अनायास उद्घासित हो गया था। (और) जिस ज्ञान व ज्ञान की वे सीखने के किन्हीं करते थे, तत्पश्चात् की दृष्टि में सर्वोत्कृष्ट ज्ञाना में ज्ञान प्राप्त करते हुए ऐसे करते थे। और जब लोगों ने कुमार को देखी ज्ञानों के मुख करते देखा, वे महान् अनुवादी राज और अन्य परिवर्तनकारों की कहानियों की ओर अन्त ज्ञान देने लगे।'^३ उपर्युक्त उद्धरण यह स्पष्ट कर देता है कि विद्यमादित्य की कुछ और कामि होने की कथाओं की शिक्षा ही गई थी। पारिवारिक विकास पर भी व्याप किया गया था और उनका करीब सुगठित, आकर्षक और मार्तल था। इन्धुसती के स्वर्णर में मिश्र-मिश्र शक्यों

१. भाष्य रत्नावलिपटीकाद्वारे: भाष्यमादित्यसाहसङ्ग^४।

२. श्रीमार्गवर्णनकाले साहसङ्ग^५ सन्दरे।

महोपाध्याय ममिकेड दण्डि० दण्डि०, भाग २५, पृ० १७५।

३. चन्द्रमूर्तिश्रीसाङ्ग (१९५३) विरचितकाले साहसङ्ग^६ से।

राजसाहसक सेतुवर्णिका, निर्णयसालर कम्पैट संस्करण १९३५, पृ० ५८४।

४. कुलार्थ—कुलजीवन्त किमिस्वर्य औरनुवीत। दण्डि २, २८।

५. कवाकरिलगद २८, २।

का, जो वहाँ इकट्ठे हुए थे, परिचय कराते हुए कालिदास ने अश्वमेधी (उज्जयिनी) के राजा के वीरों का एक शब्द-भिन्न उपदिष्ट किया है—'ये सवन्ती के राजा हैं जो हीर्य एवं सुवह्वा बहुर्धोवाके, विसाक यक्षवाके तथा वरुण भीम कदिवाके हैं और तथा के द्वारा सावभगी से अलंकृत सूर्य के सारस विसाई करते हैं ।'^१

५. विवाह और पक्षिणों

कथासरित्सागर के अनुसार जब विक्रमादित्य विवाह की अवस्था को पहुँचे, बहुल-सी राजकुमारियों उनके पिता से पराजित राजाओं द्वारा समर्पित की गईं। कन्योपपादन इस प्रसङ्ग में कुछ भी विहित नहीं था। इसका राज-नीतिक महत्व था तथा प्राचीन भारत में इसकी मर्यादा थी।^२ अतः यह उचित ही था कि महेन्द्रादित्य ने, जिसने अश्वमेधी में राज्य स्थापित किया था, अपने पुत्र का विवाह पराजित राजाओं की कन्याओं से किया। शाश्वत अभिवात-सम्पन्न को विनाशक रामरुद्रक का बड़ा शौक था और विक्रमादित्य ने इसमें अनु-संधनक राजकुमारियों का स्वागत किया। उनके पिता के निधनोपशान्त विषय प्रसंग में जब भुवनेश्वरी राजाओं ने अपनी अमीन मंत्री को मित्राने के लिये सुमती राजकुमारियों का उपहार दिया, उनकी पक्षिणों की संख्या बढ़ गयी। विक्रमादित्य के काम से जब सात शनिर्षी थीं जिनमें भद्रवावती तथा मदनकेला अधिक प्रसिद्ध थीं।

६. एक महती विपत्ति

गर्भमिश्र का काल-परिवार पुष्पित हो रहा था। किन्तु इसके पूर्व कि वह पूर्णतया स्थिर और स्थापित हो सके, शकों के विनाशकारी आक्रमण के रूप में उस पर विपत्ति का पड़ाव डूट पड़ा। यह घटना उस समय घटित हुई जिस समय विक्रमादित्य अपने माता-पिता के संरक्षण में बहुत छोटे थे। कथा-सरित्सागर तथा बृहत्कथामञ्जरी दोनों में विक्रमादित्य के जन्म के पूर्व शकों के आत्माघातों का उल्लेख है। फिर भी इनमें शकों द्वारा महेन्द्रादित्य के बराबर का नर्तन नहीं है बल्कि उन्हें अनुनाक ही कहा गया है। ऐसा मान्य होता है कि महेन्द्रादित्य को इस महती विपत्ति के पूर्व सीमान्त सिन्ध पर म्नेष्यों

१. उपर्युक्त ५, ३२।

२. लेम्बुकर ने चन्द्रगुप्त मौर्य को अपनी कन्या दी थी। स्त्रियो, भाग ९, अध्याय ९, समुद्रगुप्त ने अनेक राजकुमारियों प्राप्त की थीं। पक्षी, गुप्त काल = सं० १।

के विरुद्ध कुछ सफलता प्राप्त हुई थी। किन्तु दोनों सभ्यों की हथौड़ी की वृत्ता के वर्तन को दृष्टि से रखकर यह निश्चित प्रतीत होता है कि महेन्द्रादित्य स्वेच्छाओं द्वारा पराजित हुए। और योंही इस सम्बन्ध में बहुत स्पष्ट है। महाशक्ति, निरालाभधन तथा अभावकचरित सभी में और वीर काकक की वीरता को शत्रुों द्वारा गर्वमिश्र (न महेन्द्रादित्य) के पराजय का उल्लेख पाया जाता है :^१

३. भारतवर्ष में प्रथम शाक-आक्रमण

यह आपत्ति, जिसका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, प्रथम सती ई० पू० में शकों का प्रथम आक्रमण था। इस समय की पुष्टि स्वतन्त्र रूप से चीन, भारत, मध्य एशिया तथा हिन्दू-कुश वर्षात के दक्षिणी प्रदेशों के प्राचीन इतिहास से होती है। यह वह समय था जब तक सीरतान पहुँच गये थे तथा उन्होंने सिन्ध के उभर पार आधिपत्य करना किया था।^२ उन्हें अपने पक्ष में अधिपति के अधिक आधाचार सहने पड़ते थे तथा वे किसी गये भू-प्रदेश की सीमा में वे नहीं वे शक्ति से जीवन बिता सके। शकों की यह परिधिपति और शत्रुओं तथा उल्लेखों के साक्ष्य गर्वमिश्र के मतभेद के साथ ही सम्पन्न हुई। किन्तु यह शकों की भारत की ओर गमन करने की एक कदम मात्र थी। गर्वमिश्र की शक्ति होकर काककाचार्य सिन्धु नदी के उस पार (सककुल) शकों के पास पहुँचे। जोसी तक, जिन्हें आराधकता भी थी, भारत की ओर जाने के लिए आग्रह प्रस्तुत थे। उन्होंने लीकाओं से सिन्धु को पार किया तथा सर्वप्रथम सीराइ पर आक्रमण किया और उस पर अधिकार कर लिया। वहीं भारतीयों से किसी संघर्ष का उल्लेख नहीं होता। ऐसा प्रतीत होता है कि यह शकों के लिए सरल अभियान था। फिर भी वे सीधे जागे न वह गये। वे सीराइ में रुक गये। वहीं उन्होंने व्यापार का निर्माण किया, अपनी सक्ति को संगठित किया तथा सभी जगह समाप्त होने पर जाकर पर आक्रमण करना आरम्भ कर दिया। गर्वमिश्र महेन्द्रादित्य शकों के आक्रमण से कलावधान और अपनी सक्ति पर अत्यधिक विश्रुत था। इस अज्ञात अवस्था में ही उस पर आक्रमण हुआ। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसने सभी वीरता तथा वृद्धता से पुनः किया। किन्तु शकों की संख्या तथा गति अधिक शक्तिमती सिद्ध हुई। यह पराजित

१. इहम्—गीडे २० २८-२९।

२. इहम्—गीडे २० २९-४८।

हुना तथा कभी कर दिया गया। किन्तु काकाचार्य के हस्तक्षेप से उसे देश-निष्कासन की आज्ञा मिली।^१

८. देश-निष्कासन तथा गर्दभिष्ठ महेन्द्रादित्य के कष्ट

जैन ग्रंथों के अनुसार^२ गर्दभिष्ठ महेन्द्रादित्य का निष्कासन हुआ भीरु अपने परिश्रम से ही वे सिद्ध द्वारा पाये गये। उनका धर्म में दृढ़ता एवं तप्य है किन्तु सिंह द्वारा उनकी धातु अनुमान-जाल है जिसका स्पर्श-काल ब्राह्मणग्रंथों से हो जाता है। उनके अनुमान मिल समय विक्रमादित्य जयन्ती पर अवका साधन स्थापित करने में सफल हुये उस समय गर्दभिष्ठ-महेन्द्रादित्य कीवित थे। ब्राह्मण ग्रंथों में जान-बूझ कर या धूक से देश-निष्कासनकाके तप्य को बोध दिया गया है तथा राजमारोहण के पश्चात् विक्रमादित्य द्वारा महेन्द्रादित्य को कैद करने का कर्म है। 'तब उसके पिता राजा महेन्द्रादित्य ने यह हैक कि उनका पुत्र पूर्व पुत्रक, अधिक सज्जमान् तथा प्रभावित हो गया है, उसे विधिपूर्वक अपने राज्य के उत्तराधिकारी के रूप में अभिषिक्त किया तथा बृद्ध होने से कारण अपनी बही तथा जन्मियों के साथ वाराणसी चले गये'। संभव है कि यक्षिणित (जीवन से) विधान प्रदान करना महेन्द्रादित्य के अस्तिम दिनों में स्वयं हत्या से बचल हो तथा इसके पूर्व देश-निष्कासन रहा हो जिसकी विलुप्ति कीर्ति में बोध दिया गया है।

९. विक्रमादित्य की दुर्धशा तथा शक्ति-संक्षय

सर्गों से जयन्ती पर अभिषेक के परिभाषितकाल व केवल महेन्द्रादित्य मरितु उनका सम्पूर्ण कुटुम्ब शिक-मिष्ट हो गया। विक्रमादित्य अपने पिता से भयान हो गये तथा अपनी मानरथा से किन्तु अपनी जात। तथा कुछ सहायकों के साथ उन्हें भागना तथा शरणना गया। विक्रमादित्य-सम्बन्ध-प्रवण्य से हमें ज्ञात होता है कि 'तब उनके बंध का बूझ उज्जयिनी से उजाड़ दिया गया, विक्रमादित्य

१. अनाकलपरित ४, ८१।

२. वही

३. तत्तथ जीवन्तं तं विकीर्य शान्तविक्रमम्।

अभिषिक्तं तु तं राजे यक्षधिवि यक्षमिन्दम् ॥

महेन्द्रादित्यस्य मुरतिः तथायां संविद्येऽपि सा।

इको वाराणसी गत्वा शरणं क्षितिमे क्षिरम् अनाकलितम् १८ ५२-५०

६. विक्र०

का एकमात्र मित्र भट्टमात्र था^१। ये सब विक्रमादित्य की कठिनाइयों तथा परीक्षा के थे। किन्तु ये कठिनाइयों से विभिन्न होने तथा द्वार माननेवाले लोगों में से नहीं थे। ये एक प्रतिभाशाली नवयुवक से तथा एक महान् भविष्य जनकी प्रतीक्षा कर रहा था। उनमें अपनी मूर्ति के प्रेरणात्मक उपयोग से सन्तुष्टों से प्रविशोध की मायना का चरित्र आवर्त्त तथा अपने जनों की छोई हुई भान्य-कन्या को पुनः प्राप्त करने की भावना बनी हुई थी, यद्यपि उनकी कठिनाइयों भिन्न-भिन्न प्रकार की तथा अनेक थी और इनकी अवस्था निस्सहाय थी।

इसी परिस्थिति में उनकी सौवारी आरम्भ हुई। विक्रमादित्य के संशुभ सबसे बड़ी समस्या कुशाक-सेना-संघाटन तथा लक्ष आत्मसत्तों के विरुद्ध युद्ध का संगठन करने की थी। इस योजना के लिये विक्रमादित्य को बड़ी ही कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। तभी जब प्रबन्ध विक्रमादित्य की आर्थिक कठिनाइयों का वर्णन करते हैं। साथ ही आवश्यक भण्ड एकत्र करने एवं उनको सद् मनोयोग का भी वर्णन करना नहीं भूलते। एक प्रबन्ध में जब युक्त करने से कई उदाहरणों में से एक भिन्न प्रकार से है : 'भण्ड प्राप्त करने के लिए एक बार अपनी माता से आज्ञा लेकर विक्रमादित्य अपने मित्रों के साथ एक घड़े। रजों की एक सैन्य का समर्थन कर उधर ही गये' ^२। विक्रमादित्य के इस प्रयास की तुलना चालक्य के जन्मों से युद्ध करने से निमित्त सेना संगठित करने के प्रयास से की जा सकती है।



१. लक्षयिभ्यां उचिष्यत्तस्यैव विक्रमादित्यनाम। जननीसहायोपलब्धः। तस्य भट्टनामो नाम मित्रः। पुरातन प्रबन्धसंग्रह में संकलित, पृ. १.

२. इत्यादीनाम मित्रेण सह जननीमापृच्छत्पुत्रः। कश्चिद्वत् स्त्रिया तदुपरि प्रविशतः। वही।

पंचम अध्याय

अवन्ती की पुनर्प्राप्ति तथा मालव गण की स्थापना

१. दंड संकल्प

राकों द्वारा अपनी जाति के पराजय तथा पलायन के बीच विक्रमादित्य असह्य पीड़ा का अनुभव कर रहे थे। किन्तु अपनी भावनाओं को भाँख बनाये-बाके तथा कठिन परिस्थितियों के सम्मुख झुकनेवाके व्यक्ति नहीं थे। उन्होंने अवन्ती को पुनः प्राप्त करने तथा अपनी जाति को एक बार फिर दण्ड रूप से स्थापित करने का संकल्प किया। कठिनाइयों तथा बाधाओं से, जो उन्हें सहनी पड़ी, उनके दंड विषय की ओर भी दृष्ट कर दिया तथा उन्हें कार्य करने की प्रेरणा प्रदान की। विक्रमादित्य द्वाह-संकल्प तथा निर्भीक साहस के व्यक्ति थे^१ जिसकी पुष्टि 'विक्रमादित्य-सप्त-प्रकरण'^२ की कथाओं से होती है। उन्होंने कभी के पराजय तथा उनके विषय युद्ध की सैनारी में अपनी सारी शक्ति लगा दी। उनके अविचल सहायकों—माता तथा मित्र भद्रमान से उनका साहस बढ़ा, यद्यपि अपनी आपत्ति के प्रारम्भिक दिनों में वे अपने पिता से दूर गये थे। राकों के निष्कासन में ऐसा काम पड़ा है कि सम्मिलित प्रवास में उनके पिता भी मिक गये। कर्मासुरिस्तागर^३ के अनुसार उनके पिता महेन्द्रादित्य अब भी जीवित थे तथा उन्होंने ही विक्रमादित्य का राज्यादौहन-संस्कार किया था। इससे उपर्युक्त बात की पुष्टि हो जाती है।

२. मालव ध्वज भी जीवित थे

यद्यपि साकों को राकों के कारण अवन्ती से हारना पड़ा तथा सम्पूर्ण साक्या पर एक भारी शक्ति लगा किन्तु मालव जाति नष्ट नहीं हुई।

१. अस्तस्य दण्ड साकारः प्रत्यक्ष इव विक्रमः । इन्द्रवज्राभयवती १०, १-५०

२. पुरातन-अथर्व-संस्कृत में संकल्पित (लिखी गेल प्रत्ययाका) ।

३. कर्मासुरिस्तागर १८, पृ० ५९-६० ।

उन्होंने उत्तर-पूर्व की ओर सिलकमा पड़ा जो उनके किने दीर्घी हटने का प्राकृत मार्ग का विषय है। उनकी राजनीतिक तथा आर्थिक दृष्टा सबों द्वारा पराजित होने के कारण शङ्कित हो गई। विक्रमादित्य को सहस्रवर्षाभ अपने कोनों (सकनों) पर प्रमुख रूप से निर्भर रहना पड़ा तथा उन्होंने पहले उन्हीं के बीच तैयारी आरम्भ कर दी।

१. मातृघों के मित्र

सबों का पहला आक्रमण मातृघों के किने ही विपत्तिकारक न था बल्कि समीपवर्ती अन्य राज्यों के किने भी भयंकर था। मातृघ राजघानों की विकाश शक्तियों में विन्हीने पूर्वी संजाव, राजपूताना, आकर अवन्ती, सिन्ध और सौराष्ट्र पर आधिपत्य जमाया था केवल एक कड़ी मात्र के। पुरातात्विक तथा साहित्यिक प्रमाण प्रमाण बताते हैं^१ ५० ई० पूर्व में इन क्षेत्रों में राजघानों का अस्तित्व सिद्ध करते हैं। इन संबंधित रूप से इनका निष्क्रियता परिरक्षक होते :

(१) दीर्घी—ये पूर्वी-दक्षिणी संजाव को अधिपत्य किने हुए थे। वह पूर्वी संजाव, सतलज तथा यमुना की घाटियों के कमल क्षेत्रों में प्रमुख परिमाण में प्राप्त दीर्घी के किने से स्पष्ट है। पुरातिरिक्तावीध काकार पर इन सिद्धों की सिद्धि द्वितीय कड़ी ई० पूर्व के केवल प्रमाण बताते हैं^२ ५० ई० पूर्व में सिद्धों के आरम्भिक वर्ग में मातृघों में 'दीर्घीनाम्' (दीर्घी का) केवल है। मातृघ के सिद्धों पर अधिक विधावात्मक अभिलेख 'दीर्घीनाम्' (दीर्घी तल का विजय) है। प्रमाणों से प्रमाण 'अभिषेक' तथा समुद्रगुप्त की प्रमाण प्रमाण^३ में दीर्घी का मातृघ शक्ति के रूप में उल्लेख हुआ है।

(२) मद्र—मद्रः इन्होंने संजाव के पूर्वी भाग पर आधिपत्य जमाया था। किन्तु प्रमाण बताते हैं^४ पूर्व में दक्षिण की ओर जाकर एक तले थे। इन्होंने अपना अस्तित्व प्रमाण बताते तक बनाये रखा। समुद्रगुप्त के अधीनस्थ सिद्धों की दृष्टि में दीर्घी के साथ इनका भी उल्लेख हुआ है।^५

(३) दक्षिण—सिकन्दर के नेतृत्व में दक्षिणियों के आक्रमण के समय सिद्धी मातृघ के समीपवर्ती (संजाव के दक्षिणी-पश्चिमी) प्रदेश में ही थे। जब मातृघ दक्षिण-पूर्व की ओर गये, सिद्धी ने भी उनका समुद्रगुप्त विजय

१. वि. प. सिन्ध क्षेत्र। सी० आर० ब्रह्मन्त एवं दक्षिणवर्त स्मृतिप्रमाण, भाग २, पृ. २६१।

२. पुरातिरिक्ता अभिलेख, पृ. ६, पृ० १४८।

३. प्लेटो गुप्त राजाभिषेक, पृ० १।

४. पृ० १।

तथा मातृव में जाकर बस गये। उनके बहुत से सिक्के चित्तूर के समीप नगरी में प्राप्त हुए हैं। सिक्कों पर अभिलेख है 'महिसिकाय सिमि जनवदल' (मातृ-सिका) के किथिरी के वेश का)।

(४) आर्जुनायन—आर्जुनायनों के सिक्के राजपूताना से प्राप्त हुए हैं जिस पर लिखा है 'आर्जुनायनानां जय' (आर्जुनायनों का जय)। पुराणिलिखण के आधार पर वे सिक्के मध्यम शती ई० पू० के हैं।^१ समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में भी उनका उल्लेख आता है।^२

(५) उत्सव संकेत—महाभारत युद्धकाल अथवा राजपूताना में अजमेर के पास इनकी स्थिति बताता है। उत्सवसंकेत मातृवों के पचीसी थे।^३

(६) वृद्ध—सिंध में इन्होंने नगर गणतन्त्र स्थापित किया था।^४ वे ककों द्वारा बड़ी सरलता से पराजित हो गये, किन्तु जाति के रूप में जीवित रहे।

(७) धामीर—भूकलः वे सिंध में रहते थे, किन्तु ककों के वृद्ध के कारण कलाला है, उस समय पूर्व की ओर जाकर बस गये। इसका उल्लेख समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में भी गणतन्त्र के रूप में हुआ है।^५

(८) कुकुट—वे सीराह के रहनेवाले थे, वे भी ककों द्वारा अधिकृत किये गये थे किन्तु जाति के रूप में इन्होंने अपना अस्तित्व कायम रखा। इनका वर्णन महाकवि चण्डाभट्ट के द्वारा पराजित जन के रूप में हुआ है।^६

(९) क्षुषिण—वे महाभारत के प्रसिद्ध क्षुषिणों के वंशज थे जिसमें श्रीकृष्ण का जन्म हुआ था। मध्यम शती ई० पू० में वे सीराह में थे। इनके सिक्के वेश के हसी भाग में प्राप्त हुए हैं जिन पर मध्यम शती ई० पू० की क्रिपि में यह अभिलेख है 'क्षुषिराजन्मराणस्य प्रतप्य' (वैशरचना क्षुषिराजन्म-राण का)।

१. मार्कोकाशिकल सर्वे आर्जुनायनानां जय १४ पृ० २५६।

२. वि० ए० सिंधु मैट्रिकॉग मातृ कायल दन इतिवतन म्युनियम पृ० १५६।

३. पञ्जीट, गुप्त इन्सक्रिप्शंस, संख्या २।

४. महाभारत, समापर्व, ६९

५. वही

६. पञ्जीट, गुप्त इन्सक्रिप्शंस, संख्या १।

७. पवि० इतिह०, भाग ८, पृ० ४८।

८. इतिवतन, कायल मातृ देवदण्ड इतिवत, पृ० ७०; महाभारत, समापर्व, ६९

(१०) राजस्य—मधुरा के सतीपवर्ती भूमदेस को ये अधिकृत किये हुए थे :

(११) महाराज जनपद^१ ।

(१२) वामरथ^२ ।

(१३) वात्सकायन^३ ।

(१४) औत्तुम्बर—महाभारत में^४ ये राजा के अन्य राज राज्यों के साथ उल्लिखित हैं । इनके सिक्के जिसे सिपिसाक्षीय आकार पर प्रथम शती ई० पूर्व में बने जा सकते हैं, उत्तरी गंगाव^५ में पाये गये हैं । उनकी एक साफा कल्प में खोजी गई थी जहाँ स्थिती में^६ उन्हें स्थित बताया है । इनके सिक्के भार्गवायनों के सिक्कों से मिलते-जुलते हैं :

(१५) मातृवस्तुमक—द्वाराजी साक्ष्यों के अनुसार चतुर्थ शती ई० पूर्व में मातृव तथा वस्तुमक राजाओं के दक्षिणी-पश्चिमी भाग को अधिकृत किये हुए थे और उन्होंने सिक्केश्वर के विजय, विजय समय जब सेलसम नदी से वापस जा रहा था, एक लंब का निर्माण किया था । बाह्यीक वस्तुओं (पैकिट्रथम प्रीक) तथा गणव साक्ष्य के द्वाध के कारण ये दक्षिण-पूर्व की ओर चले गये तथा आधुनिक भाकना और राजपूताना के दक्षिण-पूर्विक भाग में बस गये । ऐसा प्रतीत होता है कि पल्लविक के युग के पञ्चाष्ट्र वस्तुमक साक्ष्यों में शुरू गये, किन्तु साक्ष्यों का बचकाल समुद्रपुत्र के समय चतुर्थ शती ई० तक होता है । उनकी बहुत-सी उपशाखायें थी जिनमें एक अजन्ती पर अधिकार जमाये थी तथा दूसरी दक्षिणी-पूर्वी राजपूताना और पूर्वी भाकना^७ में थी । ११ ई० पूर्व में अजन्ती पर साक्ष्यों के प्रथम बार तथा १८ ई० में द्वितीय बार अधिकार

१. यही, पृ० ६५ ।

२. यही ।

३. वाणिज्य पर शासक अजय ४, पृ० १५० ।

४. यही ५, २, ५८ ।

५. महाभारत समाधर्ष, २२ ।

६. कमिथम, कावमल भाष्य, पैरिपट्ट दण्डिदा, पृ० ६९ ।

७. कमिथम द्वारा उद्धृत, यही ।

८. कथोट : गुप्त इतिहास, संख्या १ ।

९. कमिथम, आर्टो० स० दि० याग १५, पृ० १५० । वि० विम्व : कैटार्की : कावमल, दण्डिपन व्याख्यान ।

करने के पश्चात् साक्यों का अधिकांश राजपूताना के दक्षिणी-पूर्वी भाग में ही रह गया।

ऊपर वर्णित गणराज्यों में से अधिकांश सूक्त-वंशाव के ही थे। सिकन्दर मगान् के नेतृत्व में बच बच आक्रमण के सबक विरोध के पश्चात् वे कुछे अवसर पर इस आक्रमण के बाद भी जीवित रहे। तथापि सीराह ही बाद में वे सीधे और छात्रों के साक्षात्-वाह्यिक के बचनों के मधीन आक्रमणों-द्वारा हस्तगत कर दिये गये। उन्हें अन्धी तरह दबा दिया गया। किन्तु यह स्वतन्त्रता-प्रेमी जाति भूमिपति के अधिकार की अपेक्षा स्वतन्त्रता को अधिक पसन्द करती थी। अतः वे अपने सूक्त निवासस्थान वंशाव को छोड़ कर दक्षिण-पूर्व चले गये तथा उपर्युक्त क्षेत्रों में नये वासस्थान का निर्माण किया। वे राजपूताना के चारों ओर श्रवणवाक्य हो गये। छात्रों की अवलति के पश्चात् जिस समय हिमद्रिमाते हुए महाभ साक्षात् पर काण्यों का वासन था, इन गणराज्यों की अपनी क्षति की पुनः प्राप्त करने का पुनर् अवसर प्राप्त हुआ। वे राजपूताना, सम्प्रसारत, माकवा, सीराह तथा सिन्ध में एक पुरव मज्जका धमाने में लकठ हुए। वे गणतन्त्र विदेशी आक्रमणकारियों के सबसे बड़े शत्रु थे। जिस प्रकार के वंशाव के गणराज्यों ने सिकन्दर के नेतृत्व में होनेवाले बचनों के आक्रमण का सबक विरोध किया था उसी प्रकार जगभर आई सी बचों के पश्चात् भारतवर्ष के एक भिन्न प्रदेश में सबों के ही दौत छोड़े कर दिये थे। सबों का भव, भारत में प्रथम और द्वितीय पवन आक्रमण से भी अधिक गम्भीर था। कई प्रकार की इन गणराज्यों द्वारा किये गये कार्य वंशाव में इनके पूर्वजों द्वारा किये गये कार्यों से भिन्न थे।

३. संघ-निर्माण

भारतवर्ष में सबों का प्रथम आक्रमण एक संघावत वैसी करना थी तथा अकस्मात् घट गई। गणराज्य अपनी रक्षा के लिए संघ का निर्माण न कर सके। अतः इन परिस्थितियों के कारण सिन्ध व सीराह को पराजित और अधिकृत होना पड़ा तथा उज्जयिनी में माक्यों के शक्तिमान् वाका को ही मत्त्वधिक क्षति का सामना करना पड़ा। इसे द्विज-भिन्न कर दिया गया। निःसन्देह यह गर्व-निष्ठों के लिए बहुत ही बड़ी आपत्ति थी, किन्तु साथ ही यह एक नौक कोकने-वाली करना तथा पबोसी गण-राज्यों के लिए एक चुनौती थी।

गणराज्यों के सत्य कितने ही कीर तथा स्वतन्त्रताप्रेमी बचों न हों लेकिन जगज-जगज रूप से गणतन्त्र छोटे राज्य से और एक संगठित और विस्तृत

के बोली है जिसके अनुसार सर्वमित्र (महेन्द्रादित्य) के शासन के काल तक आत्मन उद्योगिनी में चार वर्ष रहा, उसके बाद उसका पुत्र विक्रमादित्य गद्दी पर बैठा ।

५. राष्ट्रीय संघर्ष का अवर्तन

देश के बहुचर्ची इतिहास में लोगों का पराक्रम एक ऐतिहासिक महत्व की वस्तु थी । विदेशी लोगों के भत्ताधारपूर्ण शासन के देश मुक्त हो गया । इस लक्ष्यता का जेब कई गणराज्यों के सम्मिश्रित प्रवास को या जिसमें आर्यों के प्रमुख कर के भाग किया था । विक्रमादित्य को लोगों पर विजय के कारण 'अकारि' की उपाधि मिली । इस वदना के देश में आत्मन तथा अन्ति के पुत्र का आराधन किया जिसे आत्मकारिक भाषा में कुत (साधपुत्र = स्वर्णपुत्र) कहा गया । भारतीय इतिहास की इस राष्ट्रीय महत्व की वस्तु की स्मृति में एक संघर्ष की स्थापना की गई । आरम्भ में इस संघर्ष का नाम 'ज्ञान' का क्योंकि इसने लोगों के विमोक्षण के काल आत्मन-गण की धृष्ट नीति के अन्त आत्मकारिक भाषा में कुतपुत्र (स्वर्णपुत्र) का आराधन किया । बाद में वह संघर्ष 'आत्मन-संघर्ष', 'आर्यों का संघर्ष', 'आत्मन-संघर्ष' कहा गया । अन्ततोगत्वा गद्दी चली के अन्त में इस संघर्ष की 'विक्रम-संघर्ष' या 'राजा विक्रम संघर्ष' कहा जाने लगता । इस बात की व्याख्या पहले की जा चुकी है कि संघर्ष के नाम में किस प्रकार परिवर्तन हुए । इसमें कोई संदेह नहीं कि संघर्ष की स्थापना का प्रमुख उत्तरदायित्व विक्रमादित्य को ही था । सभी कोकणिक तथा तीन अनुभूतिपूर्ण इस बात पर सहमत हैं । काकणाचार्य-क्या के अनुसार 'इसने (विक्रमादित्य) एक काल तथा महत्वपूर्ण लक्ष्यता प्राप्त करने के काल पुत्री को आत्मन कर के अपना संघर्ष पकाया ।' अन्ततोगत्वा स्वीति की परम्परा विक्रमादित्य को भारतीय संघर्षों के संस्थापकों की श्रेणी में रखती है । किन्तु अन्ततोगत्वा के नेता होने के कारण, राज्य के सिद्धे

१ 'अकारि' का अर्थ है 'लोगों का शत्रु' । पर विक्रमादित्य का बहुत महत्वपूर्ण स्थान था ।

२. देखिये, पीछे अध्याय १ ।

३. त. चोक्तमहासिद्धि: श्रीरत्नपुष्पोदयात् ।

विश्वीमनुष्यं कुलाज्जीवरत्नं कर्तुं विमलं ॥ अनात्मनः (५, ४, ५-६)

४. मुद्रिको विक्रमवाक्यादयी मराठिनायी विमवाक्यादयः ।

इसे तु मागायनवेदिकीविश्वंकी कलाए १६ अकारका चली ॥

विधान के अनुसार संसद को अपना नाम नहीं दे सकते थे यदि लोगों द्वारा इस संसद के सम्बन्ध में उनका नाम बराबर स्मरण किया गया। भारतवर्ष से राजतन्त्रों की परम्परा के मिट जाने के बाद भी विक्रमादित्य का नाम कुम्भ और हुज्र की भौति जीवित रहा तथा इराम नदी के पश्चात् राजकीय कार्यों में भी उनका नाम संसद के साथ जुट गया।

७. विजय-मुद्राओं का प्रचलन

गमराओं के एकविजयकम्प इस महती सफलता को चिरस्मरणीय बनाये रखने के लिए उन्होंने विजय-मुद्राओं का प्रचलन किया। ये 'स्मारक मुद्राएँ' थीं किन्तु बाद में भी उनका अनुकरण होता रहा। बहुत से सिक्कों का पता लगा है जिन पर 'जय मातमानाम्', 'मातृभारत जयः', अथवा 'मातृभारतजय जयः' (मातृभारत का विजय वा मातृभारत का विजय)। भारतियों के सहधर्मों देशभक्तों—राजस्थान, मध्यभारत और पंजाब के अन्य राजतन्त्रों—ने भी मातृभारत का अनुकरण किया तथा विजय मुद्राओं का प्रचलन किया।



५४ अध्याय

राज्यारोहण तथा उपाधियाँ

१. विक्रमादित्य का नेतृत्व

सर्कों के पराजय तथा उपाधियों की पुनर्प्राप्ति में महत्वपूर्ण भूमि लेखक विक्रमादित्य ने माकन राजतन्त्र के नेतृत्वपद के त्रिने अपने को पूर्ण योग्य बना लिया था तथा उन्हें नेता अथवा प्रमुख (अध्यक्ष) की ही बनाया गया। तथापि उनके सिंहासनारोहण का वर्णन कथासरित्सागर में भिन्न प्रकार से किया हुआ है। उससे हमें ज्ञात होता है कि उस समय उनके पिता महेंद्रादित्य जीवित थे तथा उन्होंने अपने पुत्र को पुत्र, समग्र तथा प्राग्विक्रम (अतिविराज्ज्) ऐतन्त्र विधिपूर्वक राजसत्त्वक किया^१। इसमें महेंद्रादित्य का समावेश राज्यारोहण के अग्रगण्य अथवा राजतन्त्रिक बना होता है। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि कथासरित्सागर के निर्माता श्रीमद्देव की सौकी तथा विचारधारा स्वकाशीन राजतन्त्रिक व्यवस्थाओं से प्रभावित रही तथा विक्रमादित्य का राज्यारोहण कुछ अद्वय तथा भ्रंशका हो गया है। तथापि इस तथ्य को भी ध्यान में रखना चाहिये कि पंचाद के राजतन्त्रिक माकन परिवर्तित एवं परीक्षा की प्रक्रिया में अभिजात-तात्त्विक हो गये थे। नेता का निर्वाचन तथा चुनाव कुछ ही कुटुम्बों में सीमित रह गया था। अन्तर्गोत्रता यह आनुवंशिक हो गया, तथापि नेता अब भी गण के प्रति उत्तरदायी और जातीय या तथा सिद्धांततः जन-सम्मत होता था। यह न केवल सैन तथा वैरागिक साधन से ही किन्तु भद्रता-युक्त लोक जैसे आभितेजिक साधनों से भी सिद्ध होता है जिसमें धो-स्तीन पीढ़ियों तक माकन गण का नेतृत्व पिता से पुत्र को मिलता वर्णित है^२।

१. तन्त्र की प्रकृत्य सं विक्रम प्रग्विक्रमम्

अभिधित्यं धृतं राजे वपाधिरि जनयित् ॥ २८, १-५५।

२. धृति ॥ २८, पद्य ५५।

२. राजतान्त्रिक उपाधियों विषय

यद्यपि राजतान्त्रिक विभाग में नायक की शक्ति तथा सम्मान बढ़ गया था किन्तु फिर भी पूर्णपूर्य राजतान्त्रिक उपाधियों को कारण करता चल की स्वीकृत नहीं था। सीधिय से इसे ज्ञात होता है कि दक्षिण तथा पश्चिम के राजतान्त्रिक राजतान्त्रिक उपाधियों नहीं कारण करते थे यद्यपि इसी काल में पूर्वी राजतान्त्रिक 'राजा' की उपाधि कारण करते थे जो राजतान्त्रिक राजतान्त्रिक उपाधि थी। दक्षिण तथा पश्चिम के राजतान्त्रिक शासकशासकशासकशासक (आर्थिक तथा सैनिक और शक्ति पर आधारित विभाग के सम्बन्धित) थे। मत्तपत्र विक्रमादित्य अपने नाम के जाने कोई उपाधि नहीं बना सकते थे इस सम्बन्ध की पुष्टि अधिकांश राजतान्त्रिक की एक हस्तलिपि से होती है। इस हस्तलिपि के अनुसार लुखार नायक का परिचय ऐसे हुए अपने आभयदाता का नाम और विक्रमादित्य बताया है। निम्नलिखित इसी हस्तलिपि से हमें ज्ञात होता है कि विक्रमादित्य ने काइलाश उपाधि कारण की थी। विक्रमादित्य की यह उपाधि जोरदार ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सरस्वतीकण्ठभरण'^१ में की है। अष्टादशशताब्दी के अनुसार वे निम्नलिखित कहे जाते थे। विक्रमादित्य का सर्वाधिक कोकमिल तथा प्रसिद्ध विषय 'जकारि' था जिसके रूपान्तर 'जकाराति' तथा 'जकारात' भी पाये जाते हैं। अष्टादश शताब्दी की बात यह है कि वे उपाधियों राजतान्त्रिक नहीं की किन्तु विक्रमादित्य द्वारा लुखार तथा नायक ने कृतज्ञता द्वारा वर्जित की। तीन ठेका भी, जो उनकी लक्ष्यताओं और शक्ति का उल्लेख करते हैं, उन्हें जकारा नहीं कहते। वे केवल इतना ही कहते हैं, 'वे कार्यभार लुखार की तरह चलाते हैं।' अन्तिम पद इस बात का संकेत करता है कि विक्रमादित्य ने कोई राजतान्त्रिक उपाधि नहीं कारण की।

३. विक्रमादित्य को उपदेश

जिस प्रकार माकरो में नेता के पद को आधुनिक बनाने की प्रवृत्ति थी

१. अर्थशास्त्र, २२, २-१६०।

२. विजय, पीछे का भाग २।

३. केके भीलारामशास्त्र के न संस्कृतवादिनः

४. १८२।

५. अभिलेखनकृत राजपरिचय २, ८, ९ पर श्रीरामाजी की टीका।

६. राजापरिचय।

उसी प्रकार राजतान्त्रिक उपनिषद् धारण करने की ओर भी उनका रुकावट बढ़ता जा रहा था। 'हीन प्रत्यक्ष प्रत्यक्षकोश' में एक बड़ी मनोरंजक कहानी है। इसमें यह कहा गया है कि एक बार विक्रमादित्य गर्वविभूत हो राजतान्त्रिक शासक की तरह व्यवहार करना चाहते थे, जिसके लिए उन्हें एक बहुत बड़ा प्रतिभास मिली और वे विमन्य पड़ गये। कहानी उद्धृत करने योग्य है। यह इस प्रकार है।

'जिस समय विक्रमादित्य उपनिषद् में राज्य कर रहे थे एक समीपवर्ती ग्राम में रहनेवाले ब्राह्मण ने एक बंधाते समय चमकीली मणि पायी। उसका भूतपाकन करने से किन्तु वह उपनिषद् के ग्रीहरी के पास गया। ग्रीहरी उस मणि को देखकर आश्चर्यचकित रह गया और परमात्मा की अपनी अचोखता बताकर ब्राह्मण को विक्रमादित्य के पास जाने की राह दी। विक्रमादित्य भी उस रत्न का भूतपाकन करने में असफल हुए। वे ब्राह्मण से रत्न लेकर बकि के शासनवाय की ओर चले जो विश्व में सबसे बड़े मणि-वारकी समझे जाते थे। बकि के द्वार की रक्षा नारायण कर रहे थे जिसकी विक्रमादित्य ने मन्त्रकार किया। नारायण ने पूछा, 'किस किन्तु यह? जाने हो?' विक्रमादित्य ने उत्तर दिया कि 'जाकर सबसे (बकि के) कहिये कि राजा एक अत्याचरमय कार्यरत आये हैं तथा उन्हें कुछ कहना है।' नारायण बकि के पास पहुँचकर बोले, 'राज्य आये हैं तथा द्वार पर प्रतीक्षा कर रहे हैं।' बकि ने चौंक कर पूछा, 'नारायण! जाकर बुझिये तो क्या वे राजा सुबिद्धि हैं?' विक्रमादित्य ने उत्तर दिया, 'नहीं, बगल है वे केवल सुबिद्धि को ही अपना राजा समझते हैं। उनसे जाकर कहिये कि मानविकता आये हैं।' ऐसा कलामे जाने पर बकि ने पुनः पूछा, 'मानविकता? क्या वे राज्य हैं?' नारायण मुसगति से विक्रमादित्य के पास पहुँचे और वही यथ किता। विक्रमादित्य अपनी स्थिति को सुझाते हुए बोले, 'उनसे जाकर कहिये कुमार आये हैं।' बकि ने मन्त्रीय उपाधि सुनकर पूछा, 'क्या वे कार्तिकेय, लक्ष्मण या मागधुन प्रकलकम्प हैं?' नारायण ने इस प्रश्न को विक्रमादित्य के सुझाया। विक्रमादित्य ने उत्तर दिया कि 'जाकर कहिये कि गन्ध आये हैं।' नारायण के द्वारा ऐसा ही कई जाने पर बकि ने पुनः पुच्छाया, 'क्या वे अनुमा हैं?' नारायण विक्रमादित्य के पास वापस चले जाने तथा उनसे यह प्रश्न किता

किसका उत्तर उन्होंने बड़ी गिरासा से दिया, 'जाह्ये' उससे यह सीखिये कि 'तकारच' भाषा है ।' बारम्बार इस से विक्रमादित्य के पास पहुँचे तथा कहा, 'क्या तुम विक्रमादित्य हो ?' उत्तर मिला 'हाँ ।'

इसमें उपयुक्त कथा का विवरण करना चाहिये और उसमें प्रयुक्त विभिन्न उपाधियों में निहित अर्थ भी बतलाना चाहिये । हमें यह भी देखना चाहिये कि अन्तिम उपाधि के अतिरिक्त अन्य उपाधियों क्यों नहीं उपयुक्त हुई । उपाधियों की निम्नलिखित व्याख्या हो सकती है

(१) राजा—आधारण तौर पर इस शब्द का अर्थ शासक अथवा राज्य करनेवाला है । अमरसिंह अपने शब्दकोश में 'राज्य' शब्द से प्रयुक्त विवरणों में बहुत बुराई भरते हैं । उनके अनुसार 'राज्य' का अर्थ है 'कथम व न्यायप्रिय व्यक्ति द्वारा शासित प्रदेश' ।^१ काशिकाश्व ने रामान्त में इस भाव में कि 'हमारी इस राजा के कारण ही राजभरती बड़ी जाती है' यह बुराई भरते हैं । सम्भवतः इस शब्द को अतिरिक्त में रखकर विक्रमादित्य ने सोचा कि यह एक उत्तम और न्यायप्रिय शासक होने के कारण बकि से राजा कहकर अपना परिचय दे सकता है । बकि ने उन्हें बताया बिकाने के लिए स्मरण दिलाया कि वे सामन्तिक उपाधि 'राजा' नहीं धारण कर सकते और यह उपाधि मुभिदिर जैसे पुण्यात्मा शासकों के ही योग्य है ।

(२) सामन्तिक—इस शब्द का अर्थ है, 'हावत राजाओं के समूह का अधिपति' ।^२ विक्रमादित्य संप के प्रधान थे और उन्होंने अपना प्रभाव बहुत से समकालीन शासकों पर फैला दिया था । उन्होंने समझा कि यह पूर्वाभ्येन उचित ही है बकि वे अपना परिचय सामन्तिक के रूप में दें । तथापि बकि ने विक्रमादित्य द्वारा धारण की गयी इस सामन्तिक उपाधि की तिरस्कारपूर्वक अस्वीकार कर दिया और साम्राज्यवाद के वास्तविक स्वकय की ओर संकेत किया किसे राजा जैसे शक्तिवादी तथा आधुनिक राजा ही प्राप्त कर सकते थे ।

१. उपरि देखें राज्यात् स्वराज्येन राज्यात् । अमरकोश २, ११ ।

२. कर्म गुणः समु सदास्योऽन्यै राज्यादीनामुपेन भूमिम् । ४, २२ ।

३. अमरकोश, ८, ६ ।

(३) कुमार—साधारणतया राजनीतिक अर्थ में इसका तात्पर्य है, 'राज-कुमार' वा 'मुवराककुमार' तथा सैनिक (सैन्याधिकारी) अर्थ में इसका तात्पर्य है युद्ध के संबंध में 'कारिगरे' ।^१ काकिदास रसुबंश में इस शब्द का प्रयोग पहले अर्थ में करते हैं । कुमार की उपाधि उपर्युक्त अन्य उपाधियों की अपेक्षा कुछ निम्न होती थी । किन्तु यह विक्रमादित्य की सैनिक योग्यता दिखाने के लिए सार्थक थी । यदि इस उपाधि को भी स्वीकार करने को प्रस्तुत नहीं के क्योंकि यह सैनिकता और स्वतन्त्रात्मक से सती हुई थी । एक छोटे राजतान्त्रिक नेता से यह जाना नहीं की जाती कि वह केवल सैनिक विभव के लिए युद्ध केने । युद्ध लड़ने के लिए विक्रमादित्य राज्य के तथा उन्होंने अपने को एक सफल सेनापति सिद्ध कर दिया था । किन्तु अपनी सैनिकता पर गर्व करना तथा दूसरी चीजें हाँकना यदि के प्रतिभूत था' विरोधता विक्रमादित्य जैसे राजतन्त्र के नायक के लिए और थी ।

(४) वपट—यह शब्द का अर्थ है 'स्वामी की सेवा में पूर्वजन्म के रस सेवक' ।^२ गयतन्त्र के नेता ने सोचा कि युक्ति जनता की सेवा में करने अपने को उत्सर्ग कर दिया है अतः वह की उपाधि यदि से परिचय देने के प्रस्तुत होती । यदि को पूर्ण विश्वास नहीं हुआ कि विक्रमादित्य का अर्ह पूर्व रूप से समझ हो गया है अतः उन्होंने इस उपाधि पर भी आपत्ति की ।

(५) सत्तावरण—इस शब्द का साम्यिक अर्थ है 'द्वितीय का रक्षक' । विक्रमादित्य की यह नीरस और कर्तव्यपरक उपाधि यदि के लिए समीक्ष-जनक थी । यहाँ इस बात का स्पष्ट रचना आदि कि आदमीय भौतों के द्वारा यह उपाधि कभी भी प्रारण नहीं की गई । अतः यह राजतान्त्रिक उपाधि भी नहीं ।

उपर्युक्त कथा से यह संकेत मिलता है कि मालवी के राजतान्त्रिक विभाग में अल्पक संख्या नेता राजकीय अथवा राजतान्त्रिक उपाधि नहीं प्रारण कर सकते थे । संभव है गयतन्त्र के कुछ महारथकर्त्री सरस्व राजकीय उपाधियों के लिए सुभावधान हो गये हों । लेकिन गला सम्मिलित रूप से व्यक्तियों से जब भी प्रबल वा सदा व्यक्तिगत सत्त्वों को इस तरह की उपाधियों प्रारण

१. मुवराककुमार कुमारी, पृष्ठ ७, ११ ।

२. ३, ५; समरवीर १, ४० ।

३ 'यदि अनौपचार्य' । वाणिजीव व्यकरण, सिद्धान्त-औद्युती, आदिप्रकरण ।

करने की स्वीकृति नहीं थी। आठवीं शताब्दी नवीं शती के मध्य माथीन भारतीय परम्पराओं से भ्रान्ति उत्पन्न हो गयी तथा विक्रमादित्य का जीवन मृत्यु के सम्मुख समय के अनुसार प्रस्तुत किया गया। हिन्दू तथा जैन दोनों ही अनुश्रुतियों विक्रमादित्य तथा सूर्यभिक्षु को मृगश्रु, राजा, मृगश्रु, देव, आदि उपाधियों से विभूषित करती हैं जिनमें सभी का अर्थ राजा है। इस भ्रान्ति के होने का कारण यह है कि विक्रमादित्य के बारे में अनुश्रुतियों को एक-दूसरे से छिपिबद्ध किया जो अथ राजसाम्प्रदायिक नहीं रह गये थे तथा जो जनसाम्प्रदायिक अनुश्रुति के प्रति उदासीन हो गये थे। उन्होंने विक्रमादित्य की सैनिक, शासन-सम्बन्धी तथा सर्वहितवादी गुणों की प्रशंसा की क्योंकि वे जब भी उनके परिचित थे। किन्तु वे जनसमूह के विचारों को एकत्रित नहीं करते थे। कृष्ण तथा बुद्ध के समानान्तर उदाहरण वर्तमान हैं। पुराणियों के अतिरिक्त आज भी इस बात को जानना है कि कृष्ण एक गणसंघ के नेता थे तथा बुद्ध गण-समूह के अध्यक्ष के पुत्र थे ?



सप्तम अध्याय

सुख तथा प्रसुख

१. एक आत्ममर्षी से सुख अनिवार्य

विक्रमादित्य के नेतृत्व में गणतान्त्रिक आन्दोलनों ने जो सुख किन्तु साथ-साथ दुःख तो वे भारतवर्ष में लोगों के प्रथम आक्रमण के परिणाम थे। स्वतन्त्रता के लोगों का मित्रासक्त हो पवाई नहीं था। विवेकता मध्य भारत, तथा राजपूताना और साधारण तौर से सम्पूर्ण भारत तक सुरक्षित नहीं था जब तक एक जयचक्र (जयचक्र कोकण), सुराष्ट्र (काठियावाड़) और किन्तु (सिन्ध) अथवा भारत के पश्चिमी सीमास्थ के समीपवर्ती भागों में खड़े हुए थे। भारत एक एक भी सुरक्षित नहीं था जब तक यह विविध अथवा राजनीतिक रूप से असंगठित था और देश के निक-मित्र राज्यों को संगठित करने का प्रयास शीघ्रतत्पर नहीं किया जाता। प्रथम कार्य विदेशियों के विरुद्ध खड़े हुए था। दूसरा आन्तरिक समस्याओं का समाधान था जो अनुभव से किया जा सकता था या प्रत्यक्ष रूप से। विक्रमादित्य के समुद्र मीरों का मार्गीय उद्धारण था। मीरों गणतान्त्रिक आति के थे किन्तु अन्तर्गत मीरों के नेतृत्व में उन्होंने सुख तथा विजय का जीवन बिताया। तथापि विक्रमादित्य तथा अन्तर्गत मीरों के जीवनचरित में काफी विविधता थी। कर्षक तथा भूमिहीन की दृष्टि के साथ मीरों गणतन्त्र की मूलभूमि समाप्त हो गयी क्योंकि अन्तर्गत मीरों ने अन्तर्गत (साक्षात्-विस्तार करनेवाले) की मूर्ति विक्रमादित्य की थी तथा अन्तर्गतवा बहु सत्ता चला था। दूसरी ओर विक्रमादित्य राज्य-विस्तार कर केनेवालों में (अन्तर्गतमी) नहीं, किन्तु अन्तर्गतमी (बहु विवेक को केवल अपना प्रमुख स्थापित करने के लिए न कि अन्य राजाओं अथवा राज्यों के भूमिहीन को अपने राज्यों में सम्मिलित

१. इससे स्पष्ट हो जाता है कि विक्रमादित्य की आराधनाओं को स्मरण करते हैं जब कि अन्तर्गत मीरों को लोग भूल गये हैं।

करने के लिए विजय करता है) ने भारत गणतन्त्र नष्ट नहीं हो सका क्योंकि उसका पुनः उद्धार संगठन (सालवगलस्थिति) हुआ तथा विक्रमादित्य गणतन्त्रिक ही रहे, यद्यपि उसमें कुछ राजतान्त्रिक प्रवृत्ति आ गई थी। समय की माँग के अनुसार विक्रमादित्य को, प्रथम तो बाकों को निकाल कर भारत को मुक्त करने और सम्भव विवेकी आक्रमणों से देश की रक्षा करने के लिए तथा दूसरे, ऐसा कि उनके दुश्मनों के पक्षों से प्रतीत होता है, अपने प्रमुख तथा स्वाति के लिए युद्ध करना पड़ा।

२. युद्ध तथा विजय के साहित्यिक वर्णन

बृहत्सामाजिकी में विक्रमादित्य के सैनिक पराक्रम के उल्लेख विजये हुए हैं जिसको निम्नलिखित प्रकार के रक्त आ सकता है।

(१) 'राजा विजयशील (विक्रमादित्य) ने जो एक महाव धनुर्धर थे और श्रेष्ठोद्भूतन की कला में दक्षित थे अपने विना के विधन के बाद दुष्मी का नाश किया ।'^१

(२) 'हे देव ! दक्षिणपथ के धुरतिवी में कम्पनी-रक्षा में सहीपथि-सुख आये शासन की सत्तिका को अपने किरीटकोटि पर कारण कर दिया ।'^२

(३) 'तब है, विजयजयी श्रीविक्रमादित्य विजय प्राप्त करते हैं ।'^३

(४) 'तत्पश्चात् वे दारी श्रेष्ठ नरेश मार दाने गये ।'^४

(५) विक्रमादित्य के यही सरलता से सब पर विजय पायी। श्रेष्ठों, कम्पनी, दारों (पूजायिषों), यहाँ लक्षित नीच कुलों, दुष्टों, पारसीकों को, जिन्होंने अपने आर्वाचार का त्याग कर दिया था तथा जो (सांस्कृतिक रूप से) पतित हो गये थे, अग्रिम मात्र से मारकर विक्रमादित्य ने दुष्मी का भार नष्ट कर दिया ।'^५

१. राजा विजयशीलोद्भूत जनके प्रथम रिक्त
संज्ञान वरुण धार्यो श्रेष्ठोद्भूतनदीक्षितः ॥ १०, १, २१ ।
२. देव दक्षिणदिग्धुरेष्ठपथिः सप्तसत्तिकाः
किरीटकोटि सिद्धिमा कम्पनीरक्षायहीवधिः ॥ १०, १, २५ ।
३. सप्त श्रीविक्रमादित्यो जयति विजयजयी । १०, १, २६ ।
४. अनान्दरे यत्प्राप्ते नापा श्रेष्ठोद्भूतनदीक्षितः ॥ १०, १, २८ ।
५. यथा श्रीविक्रमादित्यो बलवत् सिद्धिमाश्रितः ।
श्रेष्ठान्कन्योद्भववर्णनीचाः कुलाभ्युदयान् ॥
मुष्टान्पारसीकांश्च त्यक्ताचारान्निःपटलात् ।
दत्ता अग्रिमदीक्षित मुने मारयन्पारस्य ॥ १०, १, ३८ २५३

(१) 'सिंहलेखर' तथा 'विदर्भराज' के भी प्राभुत्व स्वीकार करने का उल्लेख है ।

कायासरितागार में विक्रमादित्य के पुत्र तथा बिलों का विस्तृत विवरण है :

(१) हे देव ! आपने अपराजितसहित वृद्धिनायक को, सौराष्ट्रसहित मण्यदेव को और अंग-अंग-सहित पूर्वप्रदेस को जीत लिया; करमीर एवं काण्डासहित उत्तरी प्रदेस को करव बना लिया तथा 'विशिष्ट कुर्गों व ह्रीरी' को जीत लिया; म्नेष-कुर्गों को सार काका और सेप को बर में कर लिया । बहुत से नरेश (विक्रमादित्य के सेनानायक) विन्ध्यमन्त्रि के सिधिर में जा बुझे ।^१

(२) उन विशिष्ट राजाओं का भी उल्लेख हुआ है जिन्होंने विक्रमादित्य के सेनानायक विन्ध्यमन्त्रि के सिधिर में प्रवेश किया था ।

'प्रभो ! यह गौकाभिराज क्षत्रिकुमार है जो अपना सम्मान जायको समर्पित करने आये हैं । यह कर्नाटक के राजा सपथ्यस है, यह काठ के राजा विजयवर्मन् हैं, यह करमीर के कुलशूदन हैं, यह सिन्धुराज गोपाक हैं, यह शिखरराज विन्ध्यवक्त है और यह पारसीकों के राजा भिर्मूक हैं ।'^२

(३) प्रेम तथा युद्ध की सौश्र्वर्यमूलक कदाचिपी में 'सिंहकनकेश' तथा 'कलिराज' का उल्लेख विक्रमादित्य के समश्रुक समर्पण के प्रसंग में हुआ है जन्मदोने अपनी कम्बानों को भी, राजनीतिक सम्बन्धों को प्रभुर बनाने के लिये, दिया ।

१ कलेशाश्रुधिमुनीयं वासीश्री सिंहलेखर २०, १, २६ ।

२ अतो विदर्भराज २०, ३, १५० ।

३ सायराश्रम देवेननिधितो वृद्धिनायक । मण्यदेवः सतीराजः सपथ्याय व पूर्वदिपु ॥ सवर्धनस्य न सीचिरी काण्डास्य करवीरुताः । तानि मत्स्यवि कुर्गणि ह्रीपानि विशिनामि य न म्नेषकुर्गास्य निपुता दीपक्ष स्थापिता महे । ते ते विक्रमशकेश प्रविष्टाः कउके नृपाः ॥ १६, २, ७६-७८ ।

४, चौकसिकुमारोऽयं कर्णाडोऽयं अयथवक्तः ।

काठो विजयवर्मन् कावमीरोऽयं कुलशूदनः ॥

गोपाकः सिन्धुराजोऽयं विश्वो विन्ध्यवलीश्वरमन्

भिर्मूकः पारसीकोऽयं युधः प्रममति प्रभो ॥ २८, ६, २३ ।

५-७ २८, ६, २६ और आगे ६ ।

१. विभिन्न प्रदेशों और लोगों का समीकरण

(१) दक्षिणापथ : यह प्रदेशवाचक शब्द है जो गर्मरा के दक्षिण में स्थित भारत के मूलभाग का निर्देश करता है। इसमें सम्पूर्ण दक्षिण (दक्खि) और सुदूर दक्षिण समाहित है ।^१

(२) अपराधतः : इसका साम्यद्वय शब्द है पश्चिमी (अपर) सीमा (अन्त) अर्थात् देश का पश्चिमी सीमान्तप्रदेश। विस्तृत रूप में इसके अर्थ हैं दक्षिण तथा मज्जावार सहित पश्चिमी तट ।^२ सीमित अर्थ में इसके 'उपरी कोट्य' का बोध होता है जिसकी राजधानी सुपार (आधुनिक कोषार) की।

(३) मध्यदेश : कुछ दूरान्तों^३ को अनुसार मध्यदेश में पञ्चाक्ष, कुम्भ, मारुत, चौबेय, चतुष्प, कुम्भ तथा ह्यासेय को प्रदेश सम्मिलित थे; कुम्भ के अनुसार इसमें पूर्व में मज्जा तट को प्रदेश सम्मिलित थे। चौद मध्य मध्यदेश का पश्चात् विस्तार बहुत कम है। इसके अनुसार मध्यदेश की सीमा 'पूर्व में कलाङ्ग नगर तथा उसके बाद मज्जाक्ष (भीष्म तीर पर राज-महक की महाविर्षा) तक, दक्षिणपूर्व में साकवती नदी, दक्षिण में सेतुदम्भिक नगर, दक्षिण में भूय नगर व उसके बाद तथा पश्चिम में उत्तोरध्वज पर्वत तक की'। कलाङ्गविभाग में इसके विशेष के देश का नाम पड़ता है कि इसमें उपरान्त (पञ्चाक्ष और पश्चिमी सीमा मध्य) तथा सुपार (कादियाबाद और पश्चिमी सुपार) को बोध कर सम्पूर्ण पश्चिमी भारत का बोध है।

(४) सौराष्ट्र : साधारणतः इसका तात्पर्य है सुपारत वा कादियाबाद मध्यदेश। किन्तु कभी-कभी सुपारत, कच्छ और कादियाबाद को सम्मिलित मध्यदेश के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है।

(५) पूर्वद्विष्ट : इसका अर्थ है 'प्राची' अथवा पूर्ववासी केसकों का जलाई को मध्यप्रदेश के पूर्व में पड़ता है। यह अर्थ अर्थ के भारत के पूर्वी भाग का निर्देशक है।

(६) अंतः : भीष्म तीर पर इसमें बिहार का पूर्वी भाग, दार्भंगा, छत्तीस तथा भागलपुर के अंतर्गत हैं। भीष्म साहित्य^४ के पौनःपुन्य महाजनपदों में यह एक है।

१. कल्पपुराण, अध्याय १२४; द्वाविंशतित्तु वाच्यः साधन

२. मार्कण्डेयपुराण, अध्याय ५६।

३. मध्यपुराण, अध्याय १।

४. महाभारत, ५, १५, १३।

५. अनुसूचितिकार १, ३।

(७) बंग : इसमें बंगाल का दक्षिणी पूर्वी भाग सम्मिलित है। ब्रुकलन के अनुसार इसका अर्थ 'पूर्वी बंगाल है', जब कि साऊदा जी^१ के अनुसार ब्रह्मपुत्र और पद्मा के मध्यवर्ती भाग को बंग कहते हैं :

(८) काश्मीर : मोटे तौर पर आधुनिक काश्मीर उसका प्रतिनिधित्व करता है। कभी यह गणराज्य में भी भिन्न किया गया था।

(९) कौन्हेरी : इस शब्द का पौराणिक अर्थ है 'उत्तरी प्रदेश' अर्थात् यह सीमित अर्थ में उत्तरांचल का निर्देश कर सकता है जिसमें रज्जाब तथा पश्चिमोत्तर सीमाग्रन्थ सम्मिलित थे।

(१०) काष्ठा : संस्कृत में 'काष्ठा' शब्द का अर्थ है क्षीर, सीमा आदि^२ : इससे सुदूर उत्तरी पश्चिमी सीमा का अर्थ लगाया जा सकता है।

(११) सिद्धल : कंका का अन्त्यस्त प्रतिष्ठ द्वीप है।

(१२) द्वीप : ये भारतमहासागर में स्थित थे। कभी-कभी द्वीप का अर्थ प्रदेश भी होता है।

(१३) कर्किण : महानदी तथा तोदावरी के बीच का भू-प्रदेश कर्किण नाम से अभिहित किया जाता है। महाभारत^३ के अनुसार बैतरणी नदी तक दक्षिणा का एक बड़ा भाग इसमें सम्मिलित था। तथापि काकिशास^४ वस्तुतः का कर्किण से पुष्पक ज्ञेय करते हैं।

(१४) सिद्धर्म : यह आधुनिक बरार है।

(१५) ग्लेक्छ : यूनानियों के 'कर्मो' की भाँति 'ग्लेक्छ' शब्द का अर्थ 'विदेशी' था। किन्तु प्रथम शताब्दी ई० पू० के संदर्भ में यह विशेष रूप से बाकों के लिए प्रयुक्त होता था। बृहत्सामवेद^५ में एक स्थान पर ग्लेक्छ-बाक^६ शब्द आया है जो इस समीकरण की पुष्टि करता है।

(१६) कम्बोज : इस भू-प्रदेश में उत्तरी पश्चिमी काश्मीर, सीमाग्रन्थ का उत्तरी सीमाग्रन्थ तथा पामीर के पठार का दक्षिणी भाग सम्मिलित था।

१. विहार्मकता सुवर्णमालासूत्र कलकत्तारिष्यु १८५५, पृ. १ :

२. ई० चतुर्थी पुस्तक 'कौन्हेरी रिमेस'

३. कुमारसम्भ ३, १५।

४. आदिपर्व, अध्याय २१५।

५. बृहत्साम, छन्द ५।

६. १०, २, १५०।

शिकमादित्य जैसे योग और महारक्षाकी नेता के लिए, देशव्यापी आक्रमण के संगठन के लिये तथा सम्पूर्ण देश पर प्रभुता स्थापित करने के लिए पर्वत भवसर था ।

५. भारत के बाह्य आक्रमण

भारत में प्रभुत्व स्थापित कर लेने पर प्रभुशक्ति के ऊपर एक बड़ा उत्तर-दायित्व था पड़ा और वह उत्तरदायित्व था एक ओर सिन्धु पार और सन्ध-पक्षिका की छोटी और कड़ाहू जातियों से और दूसरी ओर पारसीक साम्राज्य से भेद उत्तरपश्चिमी सीमाप्राप्त की रक्षा करने का । इन जातियों का भिक्षासन और उन पर प्रभुत्व-संस्थापन भारत के किसी भी परम्परागत विभिन्न के महत्वपूर्ण भंग रहे हैं : बृहस्पति-संज्ञा तथा कथातरिस्तागर में वर्णित ये सभी विदेशी जातियाँ प्रथम शती ई० पू० भारत के समीप ही स्थित थीं । इनका अस्तित्व शिकमादित्य के लिए एक चुनौती ही था : वे इनसे छुटकारा पाने के लिए सम्मूलन, निष्कासन और प्रभुता-स्थापन इन तीन नीतियों का अनुसरण करते हुए रहे ।

६. अभियान-पथ

शकों के भिक्षासन के पश्चात् शिकमादित्य के सम्मुख सर्वप्रथम एक सिन्धु-सहित सौराष्ट्र का था, यद्यपि कथातरिस्तागर में इसका उल्लेख सम्प्रदेश के विस्तृत विभव के बहुत परिशिष्ट के रूप में हुआ है । शक अथ ही सौराष्ट्र और सिन्धु में जाने हुए थे । अतः शिकमादित्य के लिए यह निताम्न आवश्यक था कि वे पहले इन क्षेत्रों पर ध्यान देंगे तथा उनकी पट्टी में शिकमा बाहर करते । इस विस्तार में शिकमादित्य के अभियान का परिणाम यह हुआ कि अधिक संख्या में शकों का सम्मूलन कर दिया गया ।^१ सुराष्ट्र तथा सिन्धु विदेशी प्रभुत्व से मुक्त हो गये तथा कुछ गणतन्त्रों ने भी, जिनको शकों ने कुचल डाला था, पुनर्जीवन प्राप्त किया^२ ।

शिकमादित्य से सम्मुख दूसरा प्रश्न था सम्प्रदेश में शक्ति का विस्तार तथा संगठन जो भारी पल्लव उनकी शक्ति के विकास के लिये स्थिर आधार बन सके । सम्प्रदेश का सैनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण भाग गणतन्त्रों द्वारा पहले से अधिकृत कर लिया गया था जो शिकमादित्य के नेतृत्व में संगठित हुए थे ।

१. मेगस्थनीस निरुद्धः शेषाथ स्थापितः दृष्टे अथातरिस्तागर १८, १, ७८ ।

२. कर्तव्यः, काव्यस्य अर्थः देशेभ्यः दृष्टिः, ५, २६-२८

कमलों के कायाव में लगभग पूर्ण सुख भी लक्ष्य है व साक्षात्कार : आरम्भिक अवस्था के लक्षण ब्रह्म (उत्तरी-पूर्वी बिहार), गौड (उत्तरी बंगाल), बंग (पूर्वी बंगाल) तथा कर्किंग में समर्पण कर दिया : कर्किंगमरीता द्वारा अपनी कला कर्किंगसेवा को विद्यमानित्व को दे देने का कर्ण मिलता है ।

वरपर में अपनी स्थिति को सुधारा करके विक्रम-दिन्य दक्षिण (दक्षिणापथ)
 तक अपराणा (उल्टी कोंकन) पर विक्रम ग्राह करने लगे । अपराणा सुराप्य
 से पश्चिमी समुद्र (जिसे सुरोपीय अब आरवसागर कहते हैं) का लक्ष्यता प्रयत्न
 था वहाँ तक भिन्न वे । इसलिये इस ग्रन्थ के लक्ष्यमूलक भाष्यक था ।
 देवा वर्णन मिला है कि समीपवर्ती कट का राजा भी विक्रमादिन्य की
 विजयवाहिनी में सम्मिलित हुआ । इस मोक्ष के अपराणा के पूर्व ही आत्म-
 समर्पण किया होगा । सोमदेव के दक्षिणापथ में किसी वास्तविक युद्ध का
 वर्णन नहीं किया । किन्तु इसका ज्ञात होता है कि विक्रमादिन्य के एक सेना-
 बाधक विक्रमसक्ति ने दक्षिण में कहीं अपना केरा काका का और कर्नाटक-
 भोज अपर्याप्त उसके शिविर में आकर मिला था । इस समय आश्रय के केकर
 कर्नाटक पूर्वार्ध समुद्र दक्षिण पर आगों का आधिपत्य था । कुछ काल
 के बाद आश्रय साम्राज्यों के दक्षिणापथ के पश्चिमी भाग में उदय होने के
 हमका स्वीकृत हो जाता है । अपर्याप्त समुद्र-प्राय-साम्राज्यकीय साम्राज्य-
 वाली गरीब था (मिलता वर्णन पुराणों में नहीं है) । देवा मान्य करता है कि
 अपर्याप्त प्रथम एक आक्रमण के अग्रणी होकर तथा भावी विदेशी आक्रमण
 की लक्ष्यवता से हर तरह स्वेच्छापूर्वक विक्रमादिन्य के विविधक अभिमान
 में सम्मिलित हो गया तथा उसने अपनी विजयवाहिनी को विक्रमादिन्य के
 उद्देश्य की पूर्ति में लगा दिया । सम्यक्ता दक्षिण के अन्य आश्रय गरीबों में
 भी कहीं नीति अपनायी । इसमें विद्वत् का हाका भी था जिसका प्रथम
 बल्लेक हुआ है ।

सिंहदत्त ने भी इसी नीति का अनुगमन किया। उसने बिना किसी प्रकार के बुद्धि किये विद्यमानादिप का ताबिपत्त स्वीकार कर दिया और अपने सेनापति के द्वारा उसे अपनी कम्पा प्रदान की। भारत महासागर के अन्य द्वीपों ने भी आत्मसमर्पण किया। विजयनगर के इस भाग की कथा पूर्णकरेण काव्य-शृङ्खला हो गई है जो अपनी प्रामाणिकता को कम कर देती है। किन्तु अब हम सुनते हैं कि चार शक्तिशाली के नाम सिंहदत्त तथा अन्य द्वीपवासियों ने

समुद्रगुप्त की अधीनस्थ विजया स्वीकार कर ली तथा कम्बोधान्त भी किया, विजयादिन्य का भारत महासागर की ओर अभिवाग कदाग्रस्य नहीं काम करता ।

कचरी नदियों का अभिवाग इसके पश्चात् हुआ । वैयधिक रूप से पञ्जाब तथा पश्चिमोत्तर श्रीमहासागर के राजाओं का उल्लेख नहीं हुआ है । आसिक रूप से इन क्षेत्रों पर गणतान्त्रिक राज्यों का आधिपत्य था जो विजयादिन्य के द्वारा संगठित रूप में समिष्टित होने के लिये अत्यन्त उत्सुक थे, तथा कुछ भाग गाढ़ीक-समर्थों (वैदिक-यज्ञीय) के अधिकार में थे जो अब पीछे मिलकर रहे थे । काश्मीर के राजा का नाम सुवन्द्य दिया हुआ है । सुदूर दक्षिण क्षेत्रों पर महादी जाटियों का अधिकार था । काश्मीर ने बड़ी सरलता से समर्पण कर दिया किन्तु महादी जाटियों के एक-संयोग के पश्चात् आधिपत्य स्वीकार किया ।

विदेशी जातियों में, जिनसे कर्कों को पराजित करने के पश्चात् विजयादिन्य द्वारा मुक्त करने और विजय प्राप्त करने का कर्त्तव्य आता है, बारसीक हैं । मध्य काली ई० पू० के एक इतिहास के हमें ज्ञात होता है कि कर्कों का अधिपति कोई प्युर राजा था । सुदृढधामंजरी तथा कथामरिस्ता में उल्लिखित बारसीक प्युर ही थे । वे कर्कों द्वारा कावित मूलदेव के अधिपति थे । जिन के कर्कों के विजयासन के पश्चात् विजयादिन्य का प्युरों से संबंध हुआ होता । कर्कों के पराजित करने के पश्चात् उनकी स्थिति प्रतिरोधात्मक नहीं थी बल्कि वे इतनापूर्वक आक्रमण करते तथा परंपरागत विजयविजेताओं की नीति का अनुगमन करते करते जा रहे थे । वे स्वयंसेवा से बौद्ध धर्म होते हुए भारत की स्वाभाविक सीमा पर पहुँच गये होते तथा प्युरों को उचित सीमा तक पीछे हटने दिया होगा । इन विजयपूर्वक नहीं कह सकते कि उन्होंने भारत को दीव दिया तथा पट्टवराज को उसके क्षेत्र में पराजित किया । सोमदेव ने केवल एक ही विरूच राजा (न बौद्धधर्माके) अर्थात् किसकी भाषा भारतीयों की समझ में नहीं जाती थी, का उल्लेख किया है । केवल यही एक बारसीक बरेल जिसका सोमदेव की साक्षिक में उल्लेख है विजयादिन्य की विजयवादिनी में समिष्टित हुआ था । यह बहुत संदेहास्पद है क्योंकि जन्म कोई भी विदेशी राजा उल्लिखित नहीं है बल्कि पराजित विदेशी जातियों का उल्लेख हुआ है । यदि यह मान लिया जाय कि काठियावाड़ समुद्र में अपने आक्रमण

के विभिन्न की कलक ऐसे हैं, जो हमें ज्ञात होता है कि 'रघु ने स्वयंभूतों को पारसीकों को जीतना प्रारंभ किया।' काकिकाय के उनके देश में पारसीकों की हार पर वर्णन नहीं किया। पारसीकों के पश्चात् जिस विदेशी आति ने विक्रमादित्य का ध्यान आकर्षित किया वे बचन थे। हमें अलोक के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि ग्रीक साम्राज्य की बकिमोसर जीवा पर एक योग (अथवा) सामक प्रांत का जहाँ आधोनिषन (बुनामी) बस गये थे। फिर दूसरी जगह ई० पू० के अरब में बाकरी बचनों का आक्रमण हुआ था तथा उन्होंने योग, कबोल और रांधार के प्रांतों को जीत लिया था। वे अब सुबक से गुजे थे और काबुल की घाटी में बचनों चले जा रहे थे। विक्रमादित्य के उत्तरी प्रदेशों (कीचेरी) के विजय में बचनों के भी वर्णन हुआ जिसको देश के निकट दिया गया था किंतु उन्हें काबुल की घाटी में रहने दिया गया। जहाँ बगदा मोहू भवता उन पर विजय नहीं किया गया। यह अंतिम आक्रमण रघुओं के पराजय के पश्चात् किया गया जिसको बहुत कमजोर कर दिया गया था। इस कम की दुष्ट काकिकाय से होती है जिन्होंने पारसीकों के पराजय के पश्चात् बचनों के पराजय का वर्णन किया है। विक्रमादित्य ने काबुल की घाटी के हिंदुकुश बचन कर उनके हुए योग तथा वर्तन बचनों को बचन-द्विधा के इच्छिनी भाग में पराजित किया। जहाँ दक्षिण-पूर्व की ओर जाते हुए विक्रमादित्य ने बचनों तथा बुनामी पर विजय प्राप्त किया जो बंगालपर्वत के पक्षी भूवदेव (बकरी-जमिनी कारमीर), गुनाब और फाकोरम को मज्जुनामी पर अधिकार करने हुए थे।

६. विक्रमादित्य के विजय-स्वर्णधार पर दिव्यता

कलाकृतिकार के उस अवलोकन पर, जिसमें यह वर्णन किया गया है कि विक्रमादित्य के विजयी सिद्धि में ग्रीक के ललितकुमार, कलािक के ललितक तथा काट के ललितकर्म, कारमीर के सुवर्ण, मिश्र क गोपाल तथा मिहिराज विजयक भादि ललितकृत हुए थे, सिद्धि करने हुए बहुत से सिद्धांतों का मत है कि चूंकि इन बचनों का नाम इन प्रांतों के वंशजिहाल में जहाँ उपकरण होता थातः उनके वर्णन काव्यमय तथा ऐतिहासिक रूप से महत्वहीन हैं। इस संबंध में हमना निवेदन किया जा सकता है कि उन राजाओं की संसा-दकी जिन्होंने इन प्रांतों पर कब्जा जताई ई० पू० के सातवें किया, किसी भी ज्ञात कोश में संक्षिप्त नहीं है और न उनकी दुष्ट का कोई ज्ञान ही है। कारमीर ही केवल एक अपवाद है जिसका इतिहास १२ की जगह ई० पू०

में किया गया। राजतरंगिणी में संक्षिप्त नरेशों की वंशावली में प्रथम क्षत्री ई० पू० के पहले सूर्यवंश के नाम का उल्लेख नहीं है। भारतीय कथाकारों के संयुक्त वास्तविक कठिनाई यह थी कि एक ही राजा के विभिन्न अभिधान और अनेक विद्वां से तथा वे कोई भी परिचित नाम एक लेते थे। यद्यपि वह असंभव नहीं था कि बुद्धकथा के मूल लेखक गुणाक्ष इम प्रांतों के नरेशों के (जिन्होंने प्रथम क्षत्री ई० पू० में राज्य किया) वास्तविक नाम न जानते रहे हों और उन्होंने संभव और उपयुक्त नाम का निर्माण कर लिया हो। किंतु इससे विक्रमादित्य के विजय-वर्णन के तथ्यों का अकथनत्व नहीं होता।

८. रघु के विजिजय से तुलना

यह ऐक्या मिश्रित आधारवक है कि विक्रमादित्य के राजकवि काकिकाक्ष ने अपने आभयवाता के विभिन्न पर कुछ प्रकाश डाला है या नहीं। प्रमुक्त^१ में काकिकाक्ष ने रघु-विजिजय का वर्णन किया है। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिये कि कवि क्षत्रध्वंसीय राजनीतिक तथा सैनिक बदनामी का वर्णन नहीं कर रहा है किन्तु वह अपने महाकाव्य में इन बदनामी का वर्णन कर रहा है जो बहुत पहले की थीं। एक लक्षत कवि की भौति काकिकाक्ष अपनी ककात्मक तर्क तथा अपने ज्ञान पर इस अति प्राचीन काक की लकाई के साथ चित्रित करने का प्रयास कर रहे थे। वे अधिक से अधिक अपने समकालिक इतिहास से प्रेरित हुये होंगे तथा अस्पष्ट रूप से अपने समय की बदनामी को भी प्रतिबिम्बित किया होगा। इस काव्य-सिद्धांत की दृष्टि में एकत्र रघु के विजयों से विक्रमादित्य के विजयों का समीकरण नहीं कर सकते। रघु के विजिजय में हम अधिक से अधिक हतनी आता एक सकते हैं कि विक्रमादित्य के विजयों को अज्ञात तथा अस्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित किया गया होगा।

रघु अयोध्या के राजा थे। त ही कभी विदेहिनी ने उनकी राजधानी पर अधिकार किया था और वे उन्हें विदेही आक्रमण का भय ही था। वे कविों के परम्परागत सार्वभौम प्रभुता के आवर्स से प्रेरित हुये थे। उन्होंने विजिजय आरम्भ किया। किन्तु वे सर्वप्रथम मुराड तथा अपराध की ओर नहीं दौड़ पड़े, जिनसे विक्रमादित्य को सर्वप्रथम निपटना या क्योंकि वहाँ शत्रु का ओर था। वे पीरे-पीरे पूर्व की ओर गये (स ययै प्रथमं प्राचीम्)। पूर्वी क्षत्रियों पर

विजय का वर्णन करते हुये काकिकाट संगक्षिप्य का वर्णन नहीं करते जिसका सम्बन्ध विद्यमादित्य के अधिकृत क्षेत्रों में हुआ है, किन्तु रघु के समुद्रक युद्ध (पश्चिमी संग्राम) तथा रंग (पूर्वी संग्राम) के वर्णन करते हैं। इनके साथ रघु उष्ण तथा कर्दम का विजय करते हैं। विद्यमादित्य के पुत्र कोय के विजय में केवल पश्चिमी का उल्लेख हुआ है। अश्वत्थ वर्णन के वर्णन को पराजित करते रघु ने नहीं सरकता की दक्षिमापक में प्रवेश किया तथा पुत्र काक एक कालगिरि पर स्थित काकवे के राजा पाम्प्य राजकुमारों की दुरावा, की दक्षिणी पक्ष को न होकर लगे। विद्यमादित्य के दक्षिमापक-विजय के वर्णन में राजा तथा राज्य का अभिप्राय कर के सम्बन्ध नहीं है। रघु विजय तथा पारस महासागर के सम्य हीनों में नहीं गये। राजा रैत तथा राज्य कर्षण के वे लक्ष्य की ओर पुत्र गये तथा केरक (माकदार), केरक के समीप सुराज (मिलकी सिंघाई सुराज नहीं की होती थी) तथा अथास (उपरी कोकल) को जीत लिया। अथास में लक्ष्य के प्रभाव के कारण विद्यमादित्य को अथास-विजय बहुत अधिक बढ़ा किन्तु उन्होंने केरक तथा सुराज को भक्षण-भक्षण जीतने की बात नहीं सोची। रघु ने सुराज तथा विजय के समुद्रों के कोश नहीं किया जो विद्यमादित्य के पुत्र के महारथार्थ लक्ष्य गये थे। वहीं पक्ष की भावना बनायी कि विद्यमादित्य के लक्ष्य लक्ष्य अश्वत्थ रघु को नहीं रंग कर रहे थे। अतः काकिकाट ने उल्लेख सम्बन्ध नहीं किया है। अथास रघु अपने दिग्भ्रम को दूर करने के लिये समुद्रमार्ग के पारसीकों के सम्बन्ध लक्ष्य रहे। विद्यमादित्य के भी नहीं किया। पारस के रघु उधर दिशा (कीकरी) की ओर गये। किन्तु विद्यमादित्य की कीकरी (उधर दिशा) परमेश के पास आरतवर्ष में है। उधर में रघु के द्वारा पराजित जातियों में वयस, हून, लोच, विजय, उष्णकालकेत और मायकालिक तथा कामकल के राजा थे। किन्तु विद्यमादित्य द्वारा पराजित जातियों में अश्वत्थ, लक्ष, पारसीक, वयस, हून, कालेय तथा सुराज थे। किराट (दिग्भ्रम की संगक्षिप्य जाति), उष्णकालकेत, मायकालिक तथा कामकल के वर्णनों का सम्बन्ध विद्यमादित्य द्वारा पराजित लोगों की जातिका में (यदि वे कालों में समाहित नहीं हैं) नहीं हुआ है। यह सुझाव एक बात को स्पष्ट कर देती है कि रघु के दिग्भ्रम को विद्यमादित्य के दिग्भ्रम का सम्बन्ध नहीं किया जा सकता, यद्यपि रघु के दिग्भ्रम-वर्णन में सम्बन्धित विद्यमादित्य के दिग्भ्रम का प्रतिनिध है।

युद्ध क्षेत्रों का मत है कि रघुसंग में काकिकाट द्वारा वर्णित रघु के

गये । कस्मिन्नास रत्न के विविधजप का इन सध्वों में वर्णन करते हुए भिस्तम्बोद विक्रमादित्य के विविधजप की प्रशंसा का प्रदर्शन करते हैं—‘धर्मविजयी राजा (रत्न) ने महेश्वराध का, जिसे उसने पकड़ कर मुक्त कर दिया था, धन (जो स्वतन्त्रता का अर्थ वैभवं है) को छीन लिया किन्तु भू-प्रदेश नहीं छीना’^१ । विक्रमादित्य के विविधजप की दूसरी विशेषता यह है कि इसके उपकरण में उसने अश्वमेध शत्रु नहीं किया । यह सम्भवतः इसलिए नहीं हुआ कि यह राजनैतिक आचान्द विक्रमादित्य जैसे गणतन्त्र के नायक के लिए अप्रयुक्त नहीं था

—०००००००—

१. श्रुतीतमविमुक्तस्य स धर्मविजयी मृग-३

विधिं महेश्वराधस्य आहारं न तु मेदिनीम् ॥ रत्नविज ४, ७५ ।

अष्टम अध्याय

विक्रमादित्य के समय मालव राज्य

१. राजनैतिक स्थिति

अजयपुरी में स्थापित शाक्य राज्य गणधर्मसेन गर्दभिष्ठ तथा उसके पुत्र विक्रमादित्य से आयुक्त प्रभावित प्रादेशिक रूप में एक नवीन सृष्टि थी। किन्तु इससे पीछे एक लम्बी परम्परा थी। शाक्य मूलतः गुजरात के निवासी थे तथा वहीं उन्होंने राजशासन की स्थापना की थी। पश्चिमोत्तर भारत के राजनीतिक आलावरण से उन्हें संभाव्य क्षेत्रों के लिए बाध्य किया तथा उन्हें एक स्थाय की दूसरी स्थापना पर माना पड़ा। उनका मूल प्रदेश उनके हाथ से निकल गया किन्तु उन्होंने अपनी राज-परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखा। जब वे अजयपुरी पहुँचे वे एक नवीन स्थायी राज्य के निर्माण में समर्थ थे। इस नवीन परिस्थितियों ने मिलकर उन्हें सामना कराया पड़ा राज्य के विधायन को प्रभावित किया किन्तु राज्य के मूलधार राजनैतिक ही रहे।

२. राज्य के मूलधार

गुजरात में ही शाक्य अपना आतिथ्य स्वर धार कर चुके थे तथा उन्होंने प्रादेशिक आधार पर एक राज्य की स्थापना की थी जो विभिन्न स्तरों का बहुचरित्र था। पणिनि अपनी 'अष्टाध्यायी' में इस राज्य का उल्लेख करते हैं। 'शाक्य संघ का माहेश्वर और अभिषेक पर शाक्य कहा जायगा जब कि क्षत्रिय की संज्ञा शाक्य ही होगी। किन्तु दोनों वृक्षाओं में बहुवचन 'शाक्या' होगा।' व्याकरण का यह नियम स्पष्टतः विभिन्न सामाजिक स्तरों से निर्मित और प्राथमिक अस्तित्व आतिथ्य स्तर से विशिष्ट प्रादेशिक राज्य के स्तर की ओर संकेत करता है। शाक्य अपनी परम्परा को नवीन शासक शासक तथा अजयपुरी में भी लाये। बाद की परम्परान्वे विक्रमादित्य को एक राजनैतिक शासक के रूप में प्रस्तुत करती हैं जो प्रादेशिक भाग का आतिथ्य। दक्षिणी राजस्थान में प्राप्त मंदिरा रूप अभिलेखों से प्रमाणित होता है कि

पृथ्वीय शक्ती ई० तक मातङ्ग राज्य का आधार सैनिक था तथा मातङ्गवंश राज्य के विभिन्न सामाजिक वर्गों से निर्मित था ।^१

भूमदेव के अविरल मातङ्ग राज्य का दूसरा आधार सैनिक था । राज्य के विद्यान में सर्वस्यो की सैनिक योग्यता का विशेष महत्व था । सिकन्दर के विजित के लेख इस बात का स्पष्ट्य उपस्थित करते हैं कि पञ्जाब के राज्यों में मानव और पुद्गल भयनी सैनिक कुशलता के लिये आश्रय प्रसिद्ध थे । इनके अनुसार मातङ्गों की सैनिक शक्ति १००००० थी तथा उनका राज्य सैनिक था । मकन्दियावालों ने इस सैन्य को देखते ही अपना साहस को रिया । 'कल जन्ही पला चला कि अभी एक पुद्ग और कङ्कन है जिसमें भारतवर्ष की सबसे बड़ी लकाऊ जाति उनकी विरोधी होगी वे एक अवस्थागत भय से अवशीत हो गये तथा अपने राजा को संशुद्ध शत्रुओं से फटकारने लगे' । घुमागी लेखकों के मातङ्ग राज्य की सैनिक-स्वरूप के प्रति ये विचार पणिजि^२ के जगुधजीवी संघ (शक्ती पर भयनी जीविका चलायेवाले) तथा कीटिव^३ के लक्ष्मणजीवी संघ से निकले-हुकते हैं । ये शत्रु राजावधोपजीवी (राजा की अपाधि धारण करनेवाले) के विरोध में प्रयुक्त किये गये थे । मातङ्गों ने राजस्वाम तथा भद्रस्त्री चले जाने के पश्चात् भी राजा की अपाधि का प्रयोग नहीं किया तथा लक्ष्मणजीवी बने रहे । मातङ्ग राज्य का सैनिक आधार इसके संपूर्ण अवस्थानकाल में तक तक बराबर बना रहा जब-तक गुर्गों के क्षत्राभ्युदय ने उसे भिगा नहीं किया

३. राज्य का संविधान

पञ्जाब में मातङ्ग राज्य का विधान गणतान्त्रिक था । इसके अनुसार राज्य के मन्त्रेक सर्वस्य को पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त थी । इसमें कोई निर्वाचित राजा नहीं प्रयुक्त निर्वाचित सर्वस्यो का समूह होता था । यहाँ तक कि राज्य के सैनिक अधिकारी भी निर्वाचित होते थे । घुमागी लेखक कटियस कहता है कि मातङ्गों तथा पुद्गलों की सेना का संयोजन करने के लिये एक अनुमयी नेता निर्वाचित हुआ था । सिकन्दर के साथ साम्प्रदायिकता के समर्थ उन्होंने

१. पणि० इण्डिया, भाग २७ ।

२. कटियस, भाग ९, अध्याय ४, मैक्रिडिक २, २ प०, पृष्ठ २१४ ।

३. जराध्वानी ५-१ ।

४. अर्थशास्त्र २ ।

अपने राज्यों को बेतल था जो गरीबों तथा बड़े-छोटे के समुदाय में थे । उन्हें समर्थ करने का उद्देश्य अधिकार दे दिया गया था^१ :

अपने अपने राज्य अवधनी में व्यवहार्य परिस्थितियों के कारण उन्हें अपने गणतन्त्रीय विधान की परिचरित करना पड़ा । विदेशी आक्रमणों तथा युद्धों के कारण में पुराना पूर्ण लोकतन्त्रात्मक विधान उन्हें अनुकूल नहीं मिला । सभी राज्य गणतन्त्र-प्रण के विधान में अभिजात नहीं का प्रभावसे हुआ । इस विधान में वृद्धि परिकल्पना आधुनिक सिद्धान्तों के आधार पर प्रत्यक्ष ही कुटुम्बी को राज्य-संरचना का अधिकार दीया था, यद्यपि अधिकार शासक गणतन्त्र के रूप में थे । दूसरा परिचरित संविधान कानूनों के एक संग्रह के रूप में निर्धारण का विधान था । राज्य-संरचना की शक्ति थी । यह संविधान गणतन्त्र-प्रण तथा विद्ययादिभ्यः तक आधुनिक केन्द्र में परिचरित हो गई, क्योंकि इस संरचना के अनुसार को कई गरीबों तक राज्य करते हुए पाते हैं^२ । किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि गणतन्त्र का विचार ही गरीबों का प्रभाव के प्रति उत्तरदायी नहीं था । इसका इस निमित्त रूप से जानते हैं कि कृषीय गरीबों के अन्त तक गणतन्त्र-प्रण दृष्टि में राज्य-प्रण में शासक-प्रण-विषय (शासकों के द्वारा अधिकृत भू-सूचक) कायम की जाति था । यह हमें संरक्षा रूप अधिकारों के प्राप्त होता है^३ । ये अधिकार शासकों के विधान पर प्रकाश डालते हैं । उनके प्राप्त होता है कि शासकों की कोणी व्यवस्था के नेता की ओर से । उनके विधान व्यवस्था तथा विधान-प्रण-प्रण-प्रण की शासकों के नेता से^४ । ये नेता बहुत ही अधिकारी थे । उनके अधिकार तथा प्रभाव विस्तृत थे । किन्तु उन्हें राज्याभिषेक करारियों के कारण करने की जरूरत नहीं थी । ऐसा प्रतीत होता है कि शासक विधान गणतन्त्र तथा अधिकार शासन का अधिकार ही था । नेता उच्चतम का होता था किन्तु फिर भी शासकों को तब कहते थे तथा उनके लिये तब के भाव ही हो सकते रहे^५ । आधुनिक की प्रभाव प्रकटित में उन्हें अधिकार गरीबों के विषय प्रभाव जाति की कोणी में रखा गया है ।

अधुनिक संविधान संविधान केवल राज्य-प्रण तथा अवधनी के विषय

१. परिचरित. भाग १, पृष्ठ १००, पैरिचरित १, १००-१०१-१०२ ।

२. पैरिचरित—कैमरुद्दारादिनी ।

३. परिचरित, भाग १० ।

४. दृष्टि ।

५. आधुनिक शासकों की दृष्टि पर रिपोर्ट, भाग १ ।

ही सीमित नहीं था। भारतीय इतिहास में ऐसे अन्य उदाहरण भी पाये जाते हैं, पाकि ग्रंथों में हमें पेरुमिकों का उल्लेख मिलता है जो आनुवंशिक शासक थे^१। भारत में सिकन्दर के आक्रमण के समय यूनानियों ने मगध नदी के किनारे घरे हुए इससे अभिन्न नहीं तो बहुत-कुछ मिलने-जुलते राज्य को पाया था^२। महाभारत में हमें ऐसे राजकुलों का उल्लेख मिलता है जो राजसम्प्राप्तक थे^३। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में संघर्षी (गणतान्त्रिक) राजकुलों (शासक परिवारों) का उल्लेख किया है^४। पूर्वकथ से राजसम्प्राप्तक प्रवृत्ति की अभिवृद्धि को रोकने के लिये साठमजन शासककुलों को परिवर्तित कर दिया करते थे^५। डेसिडस ने जर्मेन जातियों के प्राचीन इतिहास में उनके प्रतिमिति संविधान का, जिसमें लोकतन्त्रीय और अभिजाततन्त्रीय दोनों वर्गों का समावेश था, उल्लेख किया है^६।

४. गणराज्यों का संघ

मालव जाति अनेक उपजातियों में विभक्त थी। अधिकतर विदेशी आक्रमणों के भय से उन्होंने अपने अपने क्षेत्र तो संघ बनाया ही, अन्य राज-राज्यों के साथ भी संघ स्थापित किया। हमें उनके संघ के वास्तविक स्वरूप का पता नहीं है किन्तु अधिक सम्भव है कि उनका स्वरूप पहले तरकाहीन उत्तरी भारत के बीड़ गणराज्यों के संघों से मिलता-जुलता रहा हो जो प्रत्येक सदस्य^७ की समान शक्ति तथा संघ के प्रत्येक बटक से प्रतिनिधियों की समान संख्या पर आधारित था। संघ-राज्यों के नेता का निर्वाचन राज्यों के सदस्यों में ही होता था^८। प्रचलित उदाहरण में विकसादित्य गणराज्यों (राजराज) के संघ के नेता थे। महाभारत में प्राचीन यावों का इससे कुछ मिलता-जुलता संघ उल्लिखित है^९। मेसोन-अरसेक आदि याव गणराज्यों की स्थापना करते हुए कहते हैं,

१. पलीट, कॉलस इन्सक्रिप्शन्स इण्डिकोरम्, भाग ६।

२. मैकिडन २, २, पृ० १११।

३. हानिपर्व, अध्याय १०४

४. अध्याय ११

५. नीदरस यूव अभिलेख, भाग १०

६. डेसिडस भाग २, पृ० ११८ (२वरीमैस कावमेरी सीरीज)

७. कस्समूच, ११८।

८. अभिजीनसाकुन्तक ७, १४

९. पर्व १०, अध्याय १०७।

‘हमें इस ग्रन्थ (महाभारत) से पता चलता है कि यादव छोटी छोटी जातियों के संघ थे । प्रत्येक में आनुवंशिक प्रभुत्व होता था और सर्वसामान्य समस्याओं का समाधान निर्धारित व्यवस्था का समूह करता था । ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ प्रत्येक राज्य राजतन्त्रात्मक थे किन्तु संघ गणतान्त्रिक’^१ । संघ से सम्बन्धित उपर्युक्त उल्लेख समीचीन है किन्तु लेखक को जायदर में आनुवंशिक राजतन्त्र की भाँति हो गई है ।

५. राज्य के अंग

विक्रमादित्य के समय में राज्य (राजतान्त्रिक व्यवस्था गणतान्त्रिक) को सात अंगों से संबद्धित समझा जाता था । विक्रमादित्य के समकालीन काठियावाड़^२ अपने स्वरूप में राज्य के अंगों का पक्षेक करते हैं । विक्रमादित्य के दूसरे समकालीन अमरसिंह अपने कोश में राज्य के अंगों की इस प्रकार गिनाते हैं स्वामी, अमात्य (उच्चाधिकारी), भुक्त (मित्र), कोश, राज, दुरा तथा वध (सेवा)^३ । इस धारणा ने राज्य में अज्ञाती व्यवस्था का भाव दिखर कर दिया था । राज्यांगों की यह व्यवस्था ‘अर्थशास्त्र’ तथा ‘मनुस्मृति’ से भी गयी है जिनकी व्यवस्था क्रमशः मौर्य और गुप्तकाल में हुई थी

६. राज्य-प्रभुत्व

इस पहले ही देखा चुके हैं कि राज्य का प्रधान तथा सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग स्वामी था, जो राज्य का प्रभुत्व होता था । भंडसा ग्रन्थ-अभिलेखों के अनुसार इसे नेता^४ कहते थे । माकवा में आनुवंशिक नेतृत्व की प्रवृत्ति ने राज्य-प्रभुत्व की स्थिति को दृढ़ कर दिया था, यद्यपि राज का अस्तित्व समाप्त नहीं हुआ था । परिस्थितियों के अनुसार बहुत कुछ नेता के व्यक्तिगत और कार्यों पर ही निर्भर था । माकवा राज्य के नेता विक्रमादित्य को वासक के सर्वोत्कृष्ट आदर्श वाक्य से अधिक प्रेरणा मिली थी । उनके परित्र की कुछ विशेषतायें कयासविस्तार से स्पष्ट हो जाती हैं । ‘यद्यपि वे बहुत कुछ शक्तिशाली जननायक थे किन्तु उन्हें परकोश का भय था, कीचोड़ा होने पर भी

१. मेरवेष्ट इण्डिया एण्ड इटलु सिविलीजेशन पृ० १० ।

२. कठस्थलेषु - १।१, ६० ४, २१, ८. इन् २२ २३, २६, २८

३. स्वाम्यमायुधवृत्तकोट्टाहृदयवैभक्ति य ।

४. १, १, साम्राज्यानि प्रकृतयः—**॥ अमरकोश २, ८, २७ ।

५. १, २२४ + २५६ ।

६. पवि० इति० मिल्ल २४ ।

उनका हाथ कटोर न था। "वे पिन्हीनों के पिता, मिन्हीनों के पिता, निराश्रितों की मदद तथा अपनी प्रजा के क्या नहीं थे?" प्रबंधकोश में अंकित अनुश्रुति के अनुसार विक्रमादित्य ने राम को अपना आदर्श बनाया था। वे यह कहते हुए वर्णित हुए हैं, जिस प्रकार से राम ने अपनी प्रजा को अपने व्यवहार से प्रसन्न किया उसी प्रकार मैं भी करूँगा^१। उन्होंने दान देने, स्मारक निर्माण करवाने, सामाजिक भर्खा की रक्ष रक्षने तथा बलों का सम्मान करने में राम का अनुसरण किया। उन्हें अभिनव राम (नवीन राम) कहलाने में कामचू मिलता था।

७. आदर्श

विक्रमादित्य के राजकवि काकिदास अपने साहित्यिक ग्रंथों में चरितना-त्यों के चित्रों को आदर्श बनाते हुए स्वभाषता अपने-आप-व्यवहारा के उदाहरणों को प्रतिबिम्बित करते हैं। 'यु त्वाग तथा भोग के अपूर्ण सामग्रय को व्यक्त करने वाले पञ्चमोहि के निदर्शार्थ राजा हैं।' काकिदास के राम एक नैतिक परिणता के सूर्तिमान स्वकप के किन्हीं अपने जीवन में राजोचित विनास और मासनाओं तथा अपनी प्रजा की भलाई और सन्तुष्टि के लिये प्रत्येक वस्तु का परिचयान करके राजा के कटोर कर्म का पाठन करते हुए एक पक्ष आदर्श प्रदर्शित किया। उत्तरकाशीन कोहू भी राजकीय आदर्श इससे अधिक भर्खा का उदाहरण नहीं दिया सका और इस परिस्थिति में यह विवक्षुक्त समुचित है कि राजराज्य लोकजीवन के लिए सामान्य अभिव्यक्ति बन जाय जिसमें जनता का स्वार्थ सासक के पहले रखा जाता है।^२ भारतवर्ष में विक्रमादित्य की प्रसिद्धि का रहस्य इस आदर्श के सन्निकट पहुँचना था। बुधन्त का परिभाषण करते हुए काकिदास कहते हैं कि सासक के कार्य के अंतर्गत सतत सावधानता और प्रयत्नशीलता आती है। इसमें विनाश का स्थान नहीं^३। उसे भारी तथा कटोर उत्तरवाचिकों की प्रशंसा करना पड़ता है। कवि ने जाने कहा है कि सासक सूर्य, जिसके जोड़े एक भार ही हटाना आते हैं, वायु

१. विक्रमादित्यप्रबंध न० १७।

२. वही।

३. विक्रमादित्य प्रबन्ध सू० २७

४. ए. बी. शिव ए हिंदी ओरु संस्कृत लिटरेचर

५. वही, सू० २२

६. अभिनवमोहो लोकव्यवसायिकाः। अभिज्ञानशकुन्तल, ५।

को अद्वैतिक प्रवृत्तमान रहता है और तब को सर्वज्ञ अपने आभोग पर दूसरी का भार बढ़ाचिन्ने रहता है, के समान होता है ।

८. युग-निर्माता

राज्यप्रभु का इन उपायों को प्रारम्भ करने तथा उत्पन्न करने की शक्ति के कारण अपने युग का निर्माण कर सकता है । उसे अपने युग का उत्पन्न करने का अधिकार है । वह तब 'काकिवाल' के संघों में प्रतिनिधित्व करता है । वह विद्यमाहित्य की सुव्यवस्था प्रतिष्ठा तथा उपायों का साहित्यिक सम्बन्ध स्थापित होता है और उनके द्वारा प्रदर्शित संस्कृति का निर्माण करता है ।

९. कर्तव्य

राज्यप्रभु को आचार्य और परीक्षा करने वाले के—सैनिक, व्यावसायिक तथा शैक्षणिक—के बीच में सैन्य-संरक्षण, प्रशासन के विवरण का निरीक्षण, राज्यशासकों का वर्णन और व्यापक के अन्तर्गत वृद्ध को सुलभित करना या । कर्माविवेकात्त में विद्यमाहित्य के बहुविध कार्यों की कल्पना निम्नलिखित रूपों में है । 'तथा विद्यमाहित्य' कल्पना का उदाहरण प्रकाशनात्त वृद्ध विद्या प्रकाश के कर्तव्य प्रकाश में होता है । अर्थात् राजा की तब तक के सम्बन्धित वृद्ध की ओर कभी नहीं देखता है, उदाहरण के एक विद्या प्रकाश करता है और उसके विद्या में उदाहरण प्रकाश करता है । इसी शक्ति की तरह केलाती, एकरी तथा अन्य विद्याओं को अपने सामान में लाते और कर्माविवेकों और कर्माविवेकों को कर्माविवेक वृद्ध देते हैं । विद्यमाहित्य की सेवाओं में सम्बन्धित वृद्ध वही प्रकार वृद्धों का सम्बन्धित विद्या प्रकाश इतिहासिक प्रकाश विद्या में प्रकाश प्रकाश है^१ । वृद्धों की साहित्यिक अनुपस्थिति तथा लोक-कथाओं में विद्यमाहित्य कर्माविवेक व्यापक करने, कर्माविवेकों को प्रकाश करने और कर्माविवेकों को वृद्ध देने में सम्बन्धित विद्या है । अतः प्रकाश के प्रकाश प्रकाश उनका सम्बन्धित कर्माविवेक है । प्रकाश का वृद्धात्त महत्त्वपूर्ण कर्माविवेक का वृद्ध वृद्ध सम्बन्धित संकटों के अन्तर्गत वृद्धों की रक्षा करना । इसके लिए 'कवि' के द्वारा वृद्ध गीता (एक) कहा गया है । प्रकाश का एक अन्य महत्त्वपूर्ण कर्माविवेक वह है कि वृद्धों की भौतिक आवश्यकताओं को पूरा करते हुए वृद्ध

१. विद्यमाहित्य

२. २८, २ ९-३३

३. राजा वृद्धिजनसत्त २५० १३, २५, उत्पन्नता ५, ४

४. २५, २५ ।

अपनी प्रजा का पोषण करें^१। शासक के इन कर्तव्यों में राज्य के आवश्यक कार्य का जाले है और आदर्श शासक को इन्हें मध्यासाध्य उत्तम रीति से करना पड़ता था।

१०. मन्त्रि-परिषद्

एक लोकिक राजा की भाँति गणराज्य के सामक विक्रमादित्य को भी मन्त्रि-परिषद् प्राप्त थी जो उन्हें राज्यप्रमुख के कर्तव्य में सहायता पहुँचाती थी। विक्रमादित्यसम्बन्धी साहित्यिक अनुश्रुतियों से हमें ज्ञात होता है कि उनके सुमति नामक महामन्त्री तथा यज्ञाशुभ नामक प्रतिहार के^२। मालकों में आनुवंशिक शासकत्व की दृष्टि के साथ सम्भवतः मन्त्रियों का पद भी आनुवंशिक हो गया था। यह इस बात से प्रमाणित होता है कि विक्रमादित्य के राज्यकाल में सुमति का पुत्र महामति महामन्त्री तथा यज्ञाशुभ का पुत्र यज्ञाशुभ प्रतिहार था^३। यह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है वैसे कि हम परवर्ती राज्यों से जानते हैं। मन्त्रिय बहुत ही आनुवंशिक ही था^४।

जहाँ तक परिषद् के संगठन का प्रश्न है निम्निल कथ से कुछ भी ज्ञात नहीं है। विक्रमादित्य के समकालीन तथा उनकी सभा में रहनेवाले जय-मिह ने^५ निम्नलिखित मन्त्रियों का उल्लेख किया है।

- (१) महामात्र अथवा प्रधान (प्रधानमंत्री)
- (२) मंत्री, धीसन्धि अथवा अमात्य (परामर्शदाता मंत्री)
- (३) कर्त्तसन्धि (शासनमंत्री)
- (४) पुरोधस अथवा पुरोहित (धर्मविभागा का मंत्री)
- (५) प्राह्विदाक (विधिसम्बन्धी मंत्री)
- (६) अकद्वर्क (प्रशासकीय लेखों का मंत्री)

११. केन्द्रीय शासन का संगठन

चूँकि हमारे पास मध्यक प्रमाण बहुत थोड़े हैं अतः यह कहना अव्यक्त कठिन है कि विक्रमादित्य के केन्द्रीय शासन का संगठन किस प्रकार होता

१ प्रमानां हृषे स्थिता । बर्ही, ५, ३३ ।

२ कथासरित्सागर १८, १, १४ ।

३ बर्ही ५२-५४ ।

४ अम्वजप्रसादाभिधः । बर्हीट गुप्त मन्त्रिकेय, पृ० १० ।

५ जयमकीय १, ८, ४, ५ ।

या । अमरसिंह अपने कोश में कुछ विभागाध्यक्षों का उल्लेख करते हैं जिन्हें 'अध्यक्ष' अथवा 'अधिष्ठित'^२ कहते थे । कालिदास ने इन विभागाध्यक्षों को सीधे कहा है । तत्कालीन साक्ष्यों से विभिन्न विभागाध्यक्षों के अमिषाच ज्ञात नहीं होते । किन्तु विक्रमादित्य के कुछ शक्तियों पूर्व कीटिक्य ने १८ विभागाध्यक्षों^३ के अमिषाच बतलाये हैं । हम बड़ी सरलतापूर्वक एकीकार कर सकते हैं कि साक्यगणतन्त्र की विविध आवश्यकताओं के अनुकूल कुछ आवश्यक परिवर्तनों के साथ वेही विभागाध्यक्ष विक्रमादित्य के समय तक रहे होंगे ।

(१) मन्त्री और पुरोहित^४ (वे समितित रूप से राज्य की धार्मिक और पञ्चपकार की नीति के सिद्ध उत्तरदायी थे ।)

(२) समाहर्ता (राजस्वमंत्री)

(३) सन्निधाता (अर्थमंत्री)

(४) पुत्राग

(५) सेनापति (सेना का मंत्री)

(६) पदेवा (शास्त्रज्ञ-व्यापारका का प्रधान व्यापारीक)

(७) व्यावहारिक (व्यवहार का प्रधान व्यापारीक)

(८) नायक (सेना का अध्यक्ष)

(९) कर्माधिक (उद्योग-व्यवसाय का मंत्री)

(१०) मन्त्रिपरिवर्तक (मन्त्रिपरिवर्तक का अध्यक्ष)

(११) इन्द्रपाद (जिस पर सेना के घोषण का भार था)

(१२) भक्तपाद (सीमाप्राप्तों का मंत्री)

(१३) दुर्गापाद (सुरक्षासचिव)

(१४) पौर अध्यक्ष नागरिक (राजभाषी का नायक)

(१५) प्रशासक (प्रशासकीय विधि का मंत्री)

(१६) दीव्यारिक (राजमन्त्र का अध्यक्ष)

(१७) अन्तर्गतिक (राजस्वकी का अधिकारी)

(१८) आदिक (जनविभाग का मंत्री)

यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उपर्युक्त १८ विभागाध्यक्ष सीधे

२ अमरकोश २, ८, ९

३. उपर्युक्त १७, १८

४ अर्थशास्त्र, भाग ३ :

५ अमरकोश २, ८, ५ में हमें पुरोषा शब्द मिलता है

के समान विद्यालयात्मक के लिए आवश्यक थे। अर्थात् तक विक्रमादित्य के अन्तर्गत मालवराज्य का सम्बन्ध है, ४, १६, १७ संख्याओं के विभागाम्यक कर्म्य प्रतीत होते हैं। किन्तु चूंकि मालवों में आनुवंशिक नेतृत्व की प्रवृत्ति बढ रही थी अतः सम्भव है कि वे भी रहे हों।

१२. प्रादेशिक विभाग

मालवों का उस क्षेत्रों पर अधिकार था जिन्हें आज मालवा तथा दक्षिणी पूर्वी राजस्थान कहते हैं। जहाँ के समय में वे भूप्रादेश अवधिराज के अंग थे^१। दक्षिण प्रांती ई० में इन प्रदेशों का उत्तरी-पूर्वी भाग 'मालवराज्य' नाम से अभिहित था। परवर्ती प्रयोगों में मालवों के अधिकृत क्षेत्र की अव्यक्ती अवस्था मालव कहते थे^२। मालव राज्य किन्तु प्रशासकीय दृष्टि में विभक्त था चर शिखर करतः अत्यन्त कठिन है। अधिक सम्भव है कि बड़े-बड़े विभागों का आधा-मालवों की विभिन्न उपजातियों द्वारा अधिकृत भूप्रादेश थे। अमरसिंह^३ ग्रामग्रमुक्त को श्यामुक्त और ग्रामग्रमुक्त के अधिकारी को गोप कहते हैं^४। वे 'क्षेत्राणां' अथवा नगरभित्तियों का भी उल्लेख करते हैं^५। ऐसा जान पड़ता है कि ग्रामी तथा नगरी में श्यावत कायल था।

१३. राज्यकार-सम्बन्धी प्रशासन

सरकारी राज्य कबसे बहुत तथा विभिन्न प्रकार के कायल थे। सम्भवतः बड़ी साधन राजतन्त्रिक या राज-तन्त्रिक दोनों कोषों की पूर्ति करते थे। काकिदास निम्नलिखित अवतरण में आज के विभिन्न साधनों का जो राजा के लिए आवश्यक था उल्लेख किया है—'पृथ्वी में उसके द्वारा रक्षा के अनुपात में पारितोषिक दिया। उसके लिए उसके कार्यों से रक्त, क्षेत्रों से सख और वनों से हाथी उत्पन्न किये'। अमरसिंह कर्षे तथा आय के अन्य साधनों को निम्न प्रकार से गिनाते हैं^६।

१ महाभारत ५८।

२ संस्कृत पृथ-प्रमितेज, पृथि इतिहास, निबन्ध २०।

३ ग्रामग्रमुक्त ४।

४ अमरकोश २, ८, ७

५ गोपी प्राज्ञेषु भूविदुः। बड़ी

६ पौराण्य संग्रहोपनिषद् ५। बड़ी २, ८, १८

७ अग्निविः सुपुत्रे एतं क्षेत्रैः सर्वं वनेयमात्।

विदेक वेतनं तस्मै रक्षासङ्ग्रहमेव भूः ॥ एव १७, १९।

८ अमरकोश २, ८, १७ १८।

- (१) आगयेव (उपज में राख का भाग)
- (२) वक्ति (राज्य के प्रमुख अधिकारी अथवा भगवत् के आदेशों के लिए अधिकार)
- (३) शुल्क (जुर्ना)
- (४) उपायन (अधिकृत अथवा संवर्धन वटकों से कर)
- (५) उपहार ।

उपसृत्य साधनों के अतिरिक्त व्यापार अथवा व्यवसाय भी राज्य की भाष का एक महत्वपूर्ण कोत रहा है । काकिल्लास के ग्रंथों में हमें सामुद्रिक व्यापार का उल्लेख मिलता है । 'अनमिन्न नामक व्यापारी समुद्रों में व्यापार करते समय दोत भग्न हो जाने से उल्लेख हो गया था' । काकिल्लास 'वीनाशुक' (वीनी ऐलस) का भी उल्लेख करते हैं जिसका आचार्य चीन से होता रहा होगा । काकिल्लास के ग्रंथों तथा विक्रमादित्य-सम्बन्धी साहित्यिक अनुश्रुतियों में बहुत से औद्योगिक व्यवसायों का उल्लेख होता है जिससे राज्य को कर प्राप्त होता रहा होगा^१। मरिच, मृगशीर्षा और वैद्युतों पर राज्य का नियन्त्रण था तथा उन पर कर किया जाता था । लकड़ियों के निर्माण, मुद्रा, वन, जलों कादि पर राज्य का एकाधिकार था । व्यापक तथ्य पुर्नाना भी भाष के भाष साधन थे । पुनर्जीव व्यक्ति के मर जाने पर उसकी सम्पत्ति भी राज्य की हो जाती थी^२ ।

भारतवर्ष का यह परम्परागत सिद्धान्त कि राज्यकर राज्य को रक्षा करने के बदले में दिया जाता है विक्रमादित्य के काल में ही स्वीकार कर लिया गया था । काकिल्लास राज्यकर को राज्य द्वारा की गयी सेवा की रक्षा के अनुपात में प्राप्त वेतन ही मानते हैं ।^३ उन्होंने परम्परानुमोदित वधावन के पञ्चांग का ही कर की दर के रूप में उल्लेख किया है ।^४ फिर भी यह दर सभी प्रकार के करों पर नहीं, केवल भूमि-उत्पादन पर ही लागू होती थी । कर-

१ समुद्रव्यवहारी हावबाहरी वनविषो नाव नौ व्यवहारे विषय. साकु० १। रघु० १, ५७, २४, ८२

२ कुमारसम्भव ३०-१, साकु० १ ।

३ अनपराधः क्लिप्त सः राजगामी तु स्वार्द्रसिद्धयः साकुल्लक. १ ।

४ विदेश वेतनं तस्मै राजासदृशमेव नृः रघु० १७-१६ ।

५ गरी, १७, ३५, साकुल्लक ५-६

सम्बन्धी प्रशासन का अभ्युदय समाहृत होता था जिसकी सहायता अन्य बहुत से अभ्युदय यथा कर्मकाण्ड्यक, कृष्याभ्युदय आदि करते थे^१।

१४. न्याय का प्रशासन

विक्रमादित्य के समय न्याय का कार्य राज्य के सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्यों में एक था तथा उसकी लोकप्रसिद्धि न्यायकर्मता और सज्जनों की पारितोषिक एवं हुजूरों की वृद्ध होने पर अधिक निर्भर थी। लोकप्रिय कथाओं तथा साहित्यिक अनुश्रुतियों में उनके अपराध को पता लगाने तथा उनके वागवान और उनके निष्पक्ष न्यायालय की कथाओं का प्रचुर वर्णन है। प्रचलित भाषा में विक्रमादित्य न्याय का ही दूसरा नाम है।

न्याय निम्नलिखित नामों से जाना जाता था^२।

(१) अज्ञेय	(९) पुनः
(२) न्याय	(१०) औपानिक
(३) अक्षय	(११) कण
(४) अक्षय	(१२) सनमन
(५) समकृत	(१३) अभिनीत

अभिनीत के अर्थ को 'विवाद' तथा विधिसंबंधी कार्यवाही को 'न्याय' कहा जाता था। माचीन बीह साहित्य^३ के अनुसार कुछ राज-साम्प्रदाय संविधान में न्यायालय का कार्य या तो राज-मुख की अध्यक्षता में लोकसभा में होता था या विधिक अंगणों द्वारा निर्मित कक्षा में होता था^४। आनुवंशिक सत्त्व की वृद्धि के साथ साक्षात् में वह स्थिति बदल गयी तथा राज्यप्रमुख न्याय-कार्य में भी अपना महत्वपूर्ण तथा विशिष्ट कार्य करने लगा^५। किन्तु उसका पथ-प्रदर्शन साधारण तौर से अमात्य, मंत्री तथा पुरोधा करते थे। कभी-कभी अमात्य ही बावों को प्रेरणा देते थे।^६

तत्कालीन ग्रंथों से हमें उत्तराधिकार, चोरसंबंधी नियमों और न्यायकर्म

१. अमरकोश १, ८, ७

२. अमरकोश २, ८, १५

३. दि. कामर्गात ऑफ़ बुद्ध, १, १३३।

४. देखिए दर्नर मे० ए० ए० वी० ७ पृ० १२३-४।

५. अश्विहामसाहुत्तरक, ६

६. अश्विहामसाहुत्तरक ३।

में तब अपराधों के निर्मातों के लिए अपनाही गयी विधि की कुछ सख्त सिक जाती है। अभिज्ञानशाकुन्तल^१ नाटक में उत्तराधिकारसंबंधी म्याथ के एक विवाद को संश्लिष्ट रूप से तब किया और उसकी सुचना राजा के पास भेज दी जो निम्न प्रकार है :

‘अन्तिमिक नामक व्यापारी समुद्र में व्यापार करते हुए रोष के मग्न हो जाने से मर गया। उस बेचारे के पास कोई संतान नहीं है इसलिए उसकी संपत्ति विभागतः राजा की हो जाती है। राजा उस सूचना पर निम्नलिखित व्यवस्था देते हैं—

यदि वह बनी या हो इसके अनेक पक्षियों होंगी। पता लगाया जाय कि उनमें से किसी से संतान होने की आशा है। गर्भ के बाधक को पितः की संपत्ति का अधिकार है।’

उपर्युक्त उद्धृत व्यवस्था से ज्ञात होता है कि साम्प्रदायिक विधान के अनुसार विधवा अपने पति की संपत्ति की उत्तराधिकारिणी नहीं थी बल्कि संरक्षण तथा निर्वाह का अधिकार उसे प्राप्त था। तथापि विधान यह स्वीकार करता था कि गर्भ के बाधक को उसके पितः का उत्तराधिकारी समझना चाहिये। संतान चाहे पुत्र ही या न हो इसका कुछ भी भ्रान्त नहीं होना चाहता था। किंतु विधवा की होने के नाते उसके लिए अशोभ्य समझी जाती थी। वह विभिन्न बात की परवर्ती हिंदू विधान के अनुसार विधवा को अपने पति की संपत्ति की उत्तराधिकारिणी होने का सीमित अधिकार था।

जहाँ तक कोय समय हिंसामूलक धर्मों का प्रश्न है अभिज्ञानशाकुन्तल में ही एक उदाहरण प्राप्त होता है। राजधानी के दो आरक्षकों ने नगर के एक मंदिर की एक हीरे की भंगूठी लिए हुए एकत्र। उसे हिरासत में ले लिया गया तथा सिपाहियों ने भंगूठी के बारे में उसको पूछा। तत्पश्चात् उसे नगराध्यक्ष के पास पहुँचाया गया जिसने अच्छी तरह बरिप्रश्न किया। जंततोराया निर्णय के लिए उसे राजा के पास भेज दिया गया। पुलिस के उन दो सिपाहियों ने अनेक अधिकार में जोर या अनुमान लगाया कि अपराधी को प्रायश्चित्त दिया जायगा।^२ इससे यह पता चलता है कि चोरी राज्य के विरुद्ध एक गुप्त अपराध था और इसके लिए विभागतः सजा सुनिश्चित किया जाता था।

१. अभिज्ञानशाकुन्तल, १.

२. गुप्तचरविधिपति मुनी मुक्तः ५; द्रव्यपि. १. ५०।

विक्रमादित्य संचयी साहित्यिक अनुभूति में हमें लवकियों के घुरा ले जाने के कुछ उदाहरण मिलते हैं^१ 'तब राजा विक्रमादित्य' 'उस स्थान पर जावे जहाँ वे कुमारियों थीं' × × × तब राजा ने हम लोगों (अपराधियों) को अपनी शक्ति से रोककर और उसने हम लोगों को अप्रसन्न रोककर, क्योंकि हमलोग प्रणत होवे की आशा का से सम्पन्न थे। आशा थी, 'जो हुं। एक वर्ष तक संशय में रहे तब हम लोग मुक्त कर दिये जाओगे। किंतु मुक्त होने पर कभी ऐसा अपराध न करना और यदि करोगे तो मैं तुम्हें प्रणत हूँगा।' उपर्युक्त अवतरण से हम अनुमान लगा सकते हैं कि लवकियों के अपहरण के लिए व्युत्पन्न नियत था किंतु यदि वास्तव में तो उस प्रणत को कारावास एवं भी परिवर्तित कर सकता था। अपराध की पुनरावृत्ति होने पर अपराधी को प्रणत अवश्य मिलता था।

सभी प्रांत उदाहरणों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि राज्य-प्रमुख का ही निर्णय अंतिम होता था। उनके कर्मी को कुछ छुट अवसरों पर शक्ति के समाप्त होने से पूर्व ही मुक्त करने का अधिकार था। 'जब शरीर को ऐसे कर्मी नहीं मिले जिनको वह अपने पुत्र के अन्त से हर्षित होकर मुक्त कर सक, उसने अपने पूर्वजों के बंधन से जो ज्ञान के भ्रम से मसिद्ध था अपने को ही मुक्त कर लिया।'^२

१५. सैनिक प्रशासन

भारतवर्ष में राजतन्त्रों की दक्षिण सैनिक परंपरा थी। क्योंकि वे गणतन्त्र भूमिस्वतंत्र की दृष्टि से छोटे होते थे उनको अपनी रक्षा के लिए अपना सैनिक संगठन पूर्ण बनाता पड़ता था। कभी-कभी साम्राज्यवादी शक्तियाँ उनका सहयोग प्राप्त करती थीं तथा उनकी शक्ति पर गर्व भी करती थीं। यह स्वीकार किया जाता था कि उत्तरी-पश्चिमी तथा पश्चिमी भारत के राजराज्य सैनिक दृष्टि से भारतवर्ष के अन्य भागों की अपेक्षा अधिक स्वतंत्र थे तथा उन्हें पूर्णरूप से 'सकोपजीवी' (शक्ति पर ही जीवन बितानेवाले) कहा जाता था। सच कहिये तो समूचा राष्ट्र ही सशक्त था^३। मारवा उसमें से एक था। जिस समय वे पंजाब में रहते थे और सिक्खों का आक्रमण हुआ उन्होंने बहुत विनाश संश्लिष्ट सेवा एकट्ठी की तथा युद्धक्षेत्र में विदेशियों के संमुख एक कटोर

१. कथासरित्सागर, १८।

२. अभिज्ञानशाकुन्तल, ५

३. सुकन्या, अभेष्टा

आकरोच उपस्थित किया।^१ उन्होंने अपनी पहुँचने पर जली परंपरा का पालन किया। उनका पुत्र-कीर्तिक तथा सैनिक-संगठन एक बार पुनः परीक्षा की कसौटी पर कसा गया जिस समय सबों के विरुद्ध, जिन्होंने प्रयत्न जारी रखा था, आक्रमण किया था, बाबा बोकना रहा था। विक्रमादित्य की सभी सैनिक सफलताओं का कहना है कि तथा सैनिक-संगठन पर ही निर्भर थी।

इलाहाबाद राजनीतिक दृष्टि के कारण सबकों की भावनाएँ तथा आक्रमण के किन्हीं अपने सैनिक विभागों का पुनः संरक्षण तथा विस्तार करना था। राजधानी, राज्य की सीमा तथा देश के चारों ओर के विशेष सम्पूर्ण में ही यह सब हुआ। यह प्रक्रिया काश्मिर^२ के निष्ठाकिसित अन्तराल में प्रतिबिम्बित हुई है 'जब यह दिग्विजय के शिरो विकसित उन्होंने इस बात का पूरा विश्वास कर लिया था कि उनका युद्ध (राजधानी), श्रीमद्भाग्य (प्रत्यक्ष) तथा पारस (पार्सि) पूर्ण रूप से सुरक्षित हैं।' इस सम्पूर्ण सैनिक-संगठन की तीन श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं—(१) राजधानी तथा सैनिक दृष्टि के महत्वपूर्ण भाग राजधानी की किलेबंदी, (२) राजधानी का विमर्श व संग्रह और (३) देश की भर्ती तथा उसका पोषण।

इस राज्य के अर्थों में दो एक प्रमुख बात माना जाता था।^३ यह सैनिक दृष्टि के विशेषकर राजा के शिरो बहुत ही महत्वपूर्ण था। राजकीय साहित्य में विभिन्न प्रकार के युद्धों का वर्णन नहीं मिलता किन्तु बौद्ध किलेबंदी की कला चीनों के काल ही में पूर्ण रूप से विकसित हो चुकी थी, निर्भय होकर हम कह सकते हैं कि निष्ठाकिसित परम्परागत चारों प्रकार के युद्ध विक्रमादित्य के काल में भी पाये जाते थे।

- | | |
|-----------------|-----------------------------|
| (१) स्वयंभूत, | (२) स्वयंभूत और |
| (३) गिरिभूत, | (४) स्वयंभूत (महामहत्तु)। |

सबकों के द्वारा अभिज्ञत भू प्रदेश में स्वयं, अथ, पहाड़ियों तथा महामहत्तु के। अतः मित्र-मित्र प्रकार के युद्ध बनाने की सैनिक दृष्टि से भी आवश्यकता थी। विशेष रूप से पश्चिमी सीमाभाग की किलेबंदी विशेष आक्रमणकारियों की राजा के शिरो बहुत एक रूप से होती थी।

१. कटिबद्ध भाग ९, अध्याय ४।

२. राजवंश, १, २०।

३. अमरकोश, १, ८, १७

४. तुलना, अर्थात्

गणतामिक मालवों के विकसित सैनिकीकरण ने राजाओं के निर्माण तथा उनके संग्रह की आवश्यकता उत्पन्न कर दी थी। उनके सामन्य तथा प्रेरणा से लिखित साहित्य में बहुत से राजाओं के नाम पाये जाते हैं जो उस समय के युद्धों में प्रयुक्त होते थे। उनमें से कुछ का उल्लेख किया जा सकता है^१ :

- | | |
|------------------------------|------------------|
| (१) धनुष तथा बाण, | (८) भिदिपाठ, |
| (२) शक्ति, | (९) परिस |
| (३) पराज, | (१०) क्षुरिका, |
| (४) अस्त्र, | (११) शंख |
| (५) मोक्ष, | (१२) शर्मल, |
| (६) सुवर्ण, | (१३) लोमर भीर |
| (७) इति लक्ष्मण करवात्मिक, | (१४) चर्म । |

राजकीय कारवायों में राजाओं का निर्माण होता था, यद्यपि जनता के द्वारा साधारण अर्थों के निर्माण पर कोई रोक नहीं लगाई गई थी। सेवा के लिए राजाओं की अग्रसरता पूर्ति के लिए राजशासकों की व्यवस्था राज्य बनने करता था।

तत्पश्चात् सैनिक-संगठन के लीसरे विषय की चारी आती है। इसके चार परापरगत अंग थे—(१) गज (२) शक्ति (३) रथ भीर (४) पदाति^२। स्पष्टतः यह भारतीय राज्य की स्पष्ट सेवा थी। यह सैनिक आक्रमण तथा प्रवेशीय अधिकार में महत्वपूर्ण भाग लेती थी। तथापि हाथियों का प्रयोग भवी के युद्धों में भी होता था। वे गज-सेना को बड़ी क्षमतापूर्वक कुचाल चाहते थे। कालिदास रघु के वंशांक के अभिषाग का वर्णन करते हुए लिखते हैं : 'अपनी शक्ति तथा पराक्रम से वंश के राजाओं की पराजित करके, जो अपने जहाजी वेध से शासन करने के लिए प्रस्तुत थे, उस नेता ने गणा की धारतों के बीच हाथियों का एक विजयस्तम्भ खड़ा कर दिया^३। समुद्र के किनारे रहने के कारण वंशों ने सेवा तैयार कर लिया था। अकस्मी और वंशाव में मालवों को स्थलों से ही भिरे रहने के कारण अकस्मात की आवश्यकता नहीं पड़ी, यद्यपि नदियों के पुनः के लिये वेध की आवश्यकता

१. समरकोश २, ८, ९७

२. वही २, ८, ९९।

३. रघुवंश, ४, १८।

थी। यह स्थिति जनों के निष्कासन के पश्चात् बहुत गम्भीर रूप से अपराध, सिन्धु और सीराङ्ग तथा एलिन प्रयोग की सीमावाले प्रदेशों के सम्पर्क में आया। मातृओं के तत्कालीन सन्तुष्टकों के अपने सुख में महारों का प्रयोग किया। मातृओं के इस तथ्य को भुला नहीं दिया तथा उन्हें भी पाश्चात्य सन्तुष्टी आक्रमण का सामना करने के लिए महारों के रक्षण पड़ा।

सेना में मरती होने के निम्न-निम्न सामान्य थे। काठियावाड़ के अनुसार सेना को सन्तुष्टी करने के साथ साथ 'वर्धन' वस्तु भी कहा जाता था। यदि 'वर्धन' की व्याख्या नहीं करता किन्तु कोशकार अमरसिंह^१ सेना के नौ वर्गों की निम्न प्रकार से गिनते हैं :

- (१) मीठ (सैनिक सेनियों के निम्न की भर्ती होती थी)
- (२) भूतक (जो वे घर रहे हुए निम्न की रक्षा भारत नहीं था और जो केवल रक्षण के लिए लड़ते थे)
- (३) सेनिक (सैनिक सेनियों में निम्न की भर्ती होती थी)
- (४) निम्नक (निम्नरूपों की सेनाओं)
- (५) मरिचक (सन्तुष्टों की सेनाओं)
- (६) मातृविक्रमक (निम्न की भर्ती जंगली जातियों से होती थी)

विजयवित्त के काक में मरतवर्ष में सिन्धु, गान्धार तथा कश्मीर के भूमिगत लोगों की कोई जगह नहीं थी। अतः उनका आवास प्रचुर मात्रा में विदेशों से होता था। सेना के लिए लोगों की पूर्ति करने वाले देशों में ब्रह्मपुत्र (अरब), पारसी (फारस) तथा बाह्यिक (पश्चिमोत्तर अफगानिस्तान) के^२ सर्वोत्तम हाथी हिमालय तथा मादास के जंगलों से प्राप्त होते थे। इतिहासकार के हाथी विन्ध, पश्चिम तथा सुराष्ट्र के जंगलों से प्राप्त कर लिये जाते थे। मातृओं की विन्ध, पश्चिम तथा सुराष्ट्र के हाथियों पर ही निर्भर रहना पड़ता था।

सेना का संगठन वर्ग-क्रम से होता था। जेठे भद्रक का नाम पति था। इसमें एक हाथी, एक रथ, तीन घोड़े तथा पाँच पदाति होते थे। इस प्रकार तीन पदियों से 'सेनासुख' बनता था, तीन सेनासुख से मुख, तीन मुखों से

१. पुराण, ४, १०।

२. अमरकोश ३, ८।

३. महा १, ८, ४५।

एक गण, तीन शर्तों से एक वाहिनी, तीन वाहिनीयों से एक घुलना, तीन घुलनाओं से एक चमू, तीन चमूओं से एक अनीकिनी तथा इस अनीकिनीयों से एक अनीकिणी बनती थी। इस प्रकार का संगठन परम्परागत था तथा भारतवर्ष में कम से कम महाभारत काल तक पुराना था।

सेना तथा उसके भिन्न-भिन्न घटक विभिन्न "अधिकारियों" के अधीन थे। उनमें सबसे बड़ा महासेनापति था^१। उसके अधीन सेनापति अथवा सेनाधिपति थे। युद्धक्षेत्र में सेना का संचालन करते हुए राज्यप्रमुख को नेता^२ अथवा गोता^३ कहते थे। सेना के अन्य घटकों के अधिकारी इस प्रकार थे^४ :

- | | |
|-----------------|----------------|
| (१) सैनिक | (५) सैनिक |
| (२) सेनाधी | (६) अनुसैनिक |
| (३) तीक्ष्ण | (७) वाहक |
| (४) वाहिनीपति | (८) आधुनिक |

सेना-विभाग का दूसरा प्रमुख अधिकारी अन्तर्गत होता था^५। उसके अधिकार में सीमांत प्रवेश होते थे जो कि सैनिक इति से विशेष महत्वपूर्ण समझे जाते थे। अधिकारियों में परिशिष्ट, परिचर आदि थे। सेना की रक्षा करने वालों का नाम सेनारक्षक अथवा सैनिक था^६।

विजयनाथ के समकालीन साहित्य में उनसे सम्बन्धित पुरुषों के निर्देश और वर्णन पाये जाते हैं। राजा के विरोध में सेना के बढ़ने को अभियोग अथवा अभिगमन^७ कहते थे। रघुवंश^८ में हमें इसकी एक-दो मिलती है जिसमें राजा की विरक्ति का वर्णन हुआ है। भारतवर्ष में कुछ सामान्यतः अनुमान के बाद ही आरम्भ होता था। विजयनाथियों का सञ्चारण स्वयं राजप्रमुख करते थे। सेना के राजधानी छोड़ने के पूर्व प्रधान को एक धार्मिक संस्कार करना पड़ता था जिसका नाम जयस्नान था तथा बाबाओं को पवित्र मन्त्रों से

१. मातृकाभिनिमज्ज १, विजयवंशीय ५।

२. रघुवंश ४, १६।

३. मातृकाभिनिमज्ज १।

४. अमरकोश ५, ६, ११।

५. मातृकाभिनिमज्ज १।

६. अमरकोश ५, ८, १३।

७. बही ९, ८, १५।

८. रघुवंश ४।

अभिनिमित्त किया जाता था। सैनिक कवच तथा शिरस्त्राण धारण करते थे। युद्धसमय सेना में सबसे आगे रहते थे। गतनशील सेना के पुरुषों का नाम सैन्यपुरुष अथवा प्रतिग्रह था^१। चक्रवात आरम्भ करने के पश्चात् सेना को 'चक्रित' अथवा 'प्रचक्र' कहा जाता था। इसका विस्तार अर्थात् अथवा प्रसरण कहलाता था^२। सेना के पुरुषों में विभक्त करने को 'अभिक्रम' कहा जाता था^३। जब सेना पुरुषों में प्रवेश करती थी तब उस समय बहुत से पुरुषों में सत्ता ही जाती थी। अमरकोश^४ उन्हें पुरुष आदि कहकर विनाश दे। अर्थात्^५ के अनुसार भिन्न प्रकार के पुरुष होते थे :

(१) समग्रपुरुष	(१३) शूरकर्मपुरुष
(२) विप्राग्रपुरुष	(१४) विनाश-विप्राग्रपुरुष
(३) वृद्धपुरुष	(१५) वृद्धपुरुष
(४) प्रकृतिपुरुष	(१६) आपावनपुरुष
(५) योगपुरुष	(१७) शूचीपुरुष
(६) असंहतपुरुष	(१८) वरपुरुष
(७) प्रवरपुरुष	(१९) दुर्गपुरुष
(८) वरपुरुष	(२०) कर्मपुरुष
(९) अक्षरपुरुष	(२१) प्रक्षरपुरुष
(१०) श्रेष्ठपुरुष	(२२) मरुतपुरुष
(११) सज्जनपुरुष	(२३) सर्वतोभयपुरुष
(१२) विजयपुरुष	

पुरुषों में अथवा सैनिक कवचों की रक्षा का प्रवर्धन करने में एक दूसरे से स्पर्धा करते थे। इस प्रक्रिया का नाम^६ 'अग्रपूरिका' (पहले में) तथा आहोपुरिका (कवच को उससे अनुपम में है) शिरस्त्राण की अभिव्यक्ति को विक्रम अथवा पराक्रम कहते थे^७। अर्थात् सैनिक युद्ध के पूर्व तथा पश्चात् मन्त्रि

१. अमरकोश २, ८, ५६ ।

२. वही ।

३. वही ५६ ।

४. वही ५, ८, ७५ ।

५. २०, ५७६ ।

६. अमरकोश २, ८, १०५ ।

७. वही २, ८, २०६ ।

पीकर मर हो जाते थे। चारणों के द्वारा भी उन्हें भ्रंश मिलती थी जो उत्तेजक तथा प्रबोधक शक्तों में युद्ध की प्रवर्धन करते थे। स्वयं विक्रमादित्य द्वारा कहे गये युद्ध का भी वर्णन प्राप्त होता है : 'राजा ! तब दुरन्त, सेना में भगावों की आवाज सुनाई दी और दुरन्त सधु राक्षसों का समूह भेदकों के साथ वहाँ दिखाई पड़ा। तब हमारी तथा सन्तुषों की सेना एक दूसरे को देखकर लड़ होकर बपावे के साथ गुप्त पड़ी और युद्ध आरम्भ हो गया X X और अमानक युद्ध का दूकान खड़ा हो गया और सेना के द्वारा उखाड़ी हुई धूल के बादलों पर छा गया जिसमें लकड़वाहें कर्ष की तरह गिरने लगीं तथा बीरों की तरज होने लगीं हम लोगों के सन्तुषों के लिए उठकर (क्योंकि वे घट गये थे) और फिर गिरकर माने पक्ष प्रकट कर रहे थे कि हम लोगों की 'जयध्वजी' कान्धुक-लीला कर रही है। एक ही क्षण में उन लोरेखों ने जो हवाकाश से पक्ष निकले थे, किन्तु उनकी सेना का पीछा किया गया था, अधीनता स्वीकार कर ली और स्वार्थ आपने सामन्त के सिविर में आत्म-समर्पण कर दिया'।

सैनिकों की स्वभावगारों में रहना पड़ता था। उनका जीवन कठिन और संकटमय था। फिर भी उन्हें अस्त्र तथा भोज करने के पदार्थ अवसर थे। काकिदास^१ कहते हैं कि सधु की दिनपहाहिनी में सैनिक प्रविरा पीकर प्रसुप्ति होते थे (रजितापानभूयः)। विजयोत्सव भी 'सधु' में मना होकर ही मनाया जाता था। प्राजाकलाओं से प्रकटित भूमिद्वेष पर खण्डर्च विज्ञाकर बीडे हुए सैनिकों ने आसन्न की पीकर विजय में होने वाली धकाधक की हवा किया^२।

१५. आरक्षक प्रशासन

विक्रमादित्य के समय सेना की सहायता वृक्ष आरक्षक करते थे। इस तथ्य का अनुमान हम अभिज्ञानशाकुन्तल^३ से कर सकते हैं। वहाँ तक राजधानी का प्रवेश है, दुर्गिल का प्रशासन नगरक करता था जिसके अधिरक्षण में कार्य होता था। दुर्गिल के सिपाहियों को रक्षित कहते थे जो नगर की बराबर चौकसी किया करते तथा बोरी आदि के मामलों का पता

१. कथासरित्सागर १८, १

२. सुमंत्र ४, ४२।

३. श्री ४, ३५।

४. अह, ९।

कमाया करते थे। उस विभाग का सम्पूर्ण वर्ग ही 'इक्षितवर्ग' (पुस्तिक के सिपाहियों का वर्ग) कहा जाता था। जो नगर के किस्से या बड़ी गाँव के किस्से ही था। प्रत्येक पुस्तिक के अतिरिक्त एक गुप्त पुस्तिक भी थी जिसके सदस्यों को घर या गुप्तस्थान कहते थे^१।

१७. राज्य की वैदेशिक नीति

भारतवर्ष में अधिक संख्या में राज्यों का होना तथा विदेशी आक्रमण का भय ही विक्रमादित्य की विदेशी नीति की पीठिका थी। इसमें से कई राज्य दुर्बल थे। कब्यों के आधिपत्य में मराठ साप्ताभ्य वर्षांत रूप से जीता हो गया था तथा अपनी संकटमय स्थिति के बीच गुल्ल रहता था। इसके अतिरिक्त उत्तर में भाग्य राज्यताम्रिक तथा राज्यताम्रिक राज्य थे। उसी प्रकार दक्षिण भी छोटे-छोटे एकताधिक राज्यों में विभक्त था। इनमें से कुछ राज्य विक्रमादित्य के मित्र थे, कुछ शत्रु और कुछ उदासीन। मौर्यकाल में विकसित भारतीय परम्परा के अनुसार अन्ताराज्यपरमेश्वर भी मन्त्रक रूप में कल्पना की गयी थी, जिसका उद्देश्य काकिरास अपने शत्रुपरा में करते हैं^२। अन्तरिक्ष अपने कोश में मन्त्रक का बड़ेक नहीं करते किन्तु वे चार प्रकार की शक्तियों का उद्देश्य (पुष्पेन्द्राधिक शक्तों पर आश्रित) विभिन्नियों के सम्बन्ध में करते हैं। वे इस प्रकार हैं^३।

- (१) शत्रु (निकटतम पड़ोसी राज्य)
- (२) मित्र (शत्रु के बाद स्थित राज्य)
- (३) उदासीन (मित्र के बाद स्थित राज्य)
- (४) पार्ष्णिप्राह (पीछे का निकटतम शत्रु राज्य)

रघुवंश की दृष्टि करते हुए महिमाध मन्त्रक की व्याख्या करने के लिये वात्सल्य का उद्देश्य देते हैं जो कीर्तिक्रम का अनुशासन करते हुये अशोकित १२ प्रकार के राज्यों के निर्मित मन्त्रक की कल्पना करता है^४।

- (१) शत्रु
- (२) मित्र

१ अमरकोश, १, ८, ११।

२ अमरकोश ११ अ मन्त्रकनाधितामनुविशाम्यसिवातपचारणा १, १५।

३ विष्णुसहस्रनामो राजा सप्तमिषयतः परम्।

उदासीनः परवरा पार्ष्णिप्राहस्तु एवम् ॥ अमरकोश, १, ८, ११।

४. रघुवंश ४-१५; युद्धार्थ अर्थशास्त्र

- (३) भरिमित्र
 (४) मित्रमित्र (मित्र का मित्र)
 (५) भरिमित्रमित्र (मित्र के मित्र का मित्र)
 (६) पार्थिवग्राह (पीछे का मित्र)
 (७) भाकम्भ (पीछे का मित्र)
 (८) पार्थिवग्राहसार (पीछे के मित्र का मित्र)
 (९) भाकम्भसार (पीछे के मित्र का मित्र)
 (१०) मन्वस्य (मन्वस्य)
 (११) उदासीन (मन्वस्य)
 (१२) विशिर्मायु (विजित)

समस्त राजनीतिक सम्बन्धों का केन्द्र विशिर्मायु था । इसी के संदर्भ में मालव राज्यों की व्यवस्था भी तभी की । उपर्युक्त साक्षिका को निम्नरूप से सरक किया जा सकता है^१ :

- | | |
|-------------|---------------|
| (१) भरि | (३) मन्वस्य |
| (२) मित्र | (४) उदासीन |

इन राज्यों से सम्बन्धित नीति का संघटन चार प्रकार की नीतियों से होता था : (१) साम (२) शान (३) जेय और (४) दण्ड (युद्ध) । इस बात का पक्का समर्थन किया गया था कि कासक को यथासंभव युद्ध भोग नहीं देना चाहिये । काम से प्रथम तीनों नीतियों (सीढ़ी) पर प्रयास करके असफल होने पर चौथी ओर पर का सहारा चाहिये । काकिकास के अनुसार नीति के बिना नीति कायरता है किन्तु बिना नीति के सक्ति पल्लवर्धन है^२ । सक्ति को न केवल सारीरिक ही समझा गया था अपितु इसमें (१) ममान (२) मन्व और (३) वासाह भी सम्मेलन माने गये थे^३ । राजनीति तथा कूटनीति में सफल होने के लिए सासक को निम्नलिखित छः गुणों को ध्यान करना आवश्यक है :

१. अर्थशास्त्र ४-१ ।

२. उद्यमद्वय, १३-५५; मन्वस्योद्य २, ८, १० ।

३. कासक केन्द्र नीति: शीर्ष स्वास्त्रवेष्टितम् । उद्य २०-५७ ।

४. उद्यमसिद्धि: मन्वस्योद्यमनन्वयः । मन्वस्योद्य २, ८, ११ ।

५. मन्वस्योद्य ५, ८, १८ ।

- (१) सन्धि (सन्धित)
- (२) मित्र (मित्र)
- (३) आसन्न (तदस्मत्ता)
- (४) वान (वयान)
- (५) संधान (मित्रता)
- (६) द्वैधीभाव (दोहरी नीति)

कूटनीति का कथ्य यह होता था कि समीपवर्ती राज्यों में सन्धि का स्मृत्काल समाप्त हो अर्थात् एक दूध कूटनीतिज्ञ उन्हें अत्यधिक सन्धिकारकी तथा सुखक कभी नहीं होने देता था। कासिदास कहते हैं कि 'मित्रों को निम्न स्थिति में रखने से वे कभी पक्ष नहीं ग्रहण कर सकते। जब उन्हें उच्च स्थिति में रखा जाता है तो वे कतुवत् व्यवहार करने लगते हैं। इस कारण उसने अपने मित्रों को अन्धम स्थिति में रखा।' आक्रमण की नीति राजनीतिक ज्ञान और चातुर्ष्य के आधार पर ही माया है। 'अपनी तथा शत्रुओं की सैनिक शक्ति, परिस्थिति, समय तथा अन्य वस्तुओं का ठीक अनुमान करने के पक्षान् पक्ष उसने अपने को शत्रु से शक्यात समझा तो उस पर आक्रमण कर दिया। अन्धधर कुछ ही बैसा रहा।' सन्धि तथा मित्रता एक चार होने पर उन्हें विश्वासपूर्वक मित्रता माना।

राज्य की वैदेशिक नीति को बहुत ही गुप्त रखा जाता था। पड़ोसी राज्यों को अपने सम्बन्ध तथा दृष्टिकोण का अनुमान लगाया अत्यन्त कठिन हो जाता था। जलम राजदूतों के द्वारा विदेशी नीति का पालन किया जाता था।

—266—

१. सुकनार्थ अर्थसाधक ४-१।

२. राजवर्क, १४-५८।

३. पदो, १४-५९।

नवम अध्याय

सामाजिक जीवन

१. सामाजिक संगठन

कर्ण-व्यवस्था ही विष्णुमूर्तित्व के सम्यक् में सामाजिक संगठन का आकार थी। जैन तथा बौद्ध धर्मों ने सिद्धान्ततः इस व्यवस्था को हीका अवलम्ब कर दिया था किन्तु उन्होंने कर्णचतुष्टय के धार्मिक-सामाजिक विभाजन पर कोई गुरुतर चर्चा नहीं पहुँचाई। यहाँ तक कि बौद्ध केवलक भस्मसिंह को भी यह सभ्य स्वीकार करना पड़ा। अपने कोश^१ में वे समाज के चार विभाजन करते हैं—(१) ब्राह्मण वर्ग (२) क्षत्रिय वर्ग (३) वैश्य वर्ग (४) शूद्र वर्ग, जैन लेखकों ने भी इस सभ्य को स्वीकार किया। ब्राह्मण वर्ग के लेखकों के सिद्ध तो यह समसिद्धि थी। आदिवास^२ के अनुसार समाज चार वर्गों में विभक्त था तथा सांसक का यह कर्तव्य था कि वह इस बात का निरीक्षण करे कि तात्सम्यवर्ती नियमों का पालन होता है या नहीं।^३ यह ध्यातव्य है कि उत्तरी भारत के अधिकांश राजवंश बौद्ध व्यवस्था सेन हो गये उस समय भी पंचाश, राजपूताना, सिन्धु, मध्य भारत तथा सीराज् आशान-बर्मावदम्भी ही बने रहे तथा उनका साम्प्रतिक विचार के होते हुए भी उन्होंने उसी सामाजिक पद्धति का अनुसरण किया। यहाँ तक समावस्था का प्रश्न था उसका राज्य के प्रकार से कुछ भी सम्बन्ध नहीं था। द्वापूर सामाजिक जीवन वर्ग के ही चारों ओर घूमता था।

(१) ब्राह्मण

सामाजिक अनुक्रम में ब्राह्मण ही सर्वोच्च माने जाते थे जिन्हें 'द्विज', (जिसका हो चार अंग हो), ब्राह्मणम् (जिसका अन्ग सर्वप्रथम हुआ हो), भूदेव (पृथ्वी के देवता), ब्राह्म (ब्रह्म से सम्बन्धित = वैदिक यह), विम (कवि), तथा ब्राह्मण (ब्रह्म को जानने वाला) कहा जाता था^४। उनके सिद्ध

१. अमरकोश, २, ७, ८, ९, नीर १०१

२. अनुवर्तमानकोश: खड्ग १०-२०१

३. भूपत्य कर्मावसाधकान् वस्तु एव वर्गो बभूवा प्रकीर्तः। खड्ग १४-६७।

४. अमरकोश, ९, ७, ४।

निरालिखित विसंख्य^१ प्रयुक्त होते थे जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि समाज सबसे क्या चाहता था :

(१) विद्वान्	(९) मनीषी	(१०) कृति
(२) विपश्चिद्	(१०) ज्ञा	(११) कृति
(३) सत्	(११) साक्ष	(१२) लब्धवर्ण
(४) सुधी	(१२) संव्यासात्	(१३) दूरदर्शी
(५) क्रोधिद्	(१३) पण्डित	(१४) दीर्घदर्शी
(६) कुक्ष	(१४) कवि	(१५) भोगिन्
(७) शोचन्	(१५) वीर्यात्	(१६) भाग्यवत्
(८) धीर	(१६) धीर	(१७) विचक्षण

माझण का परम्परागत कर्तों को करते थे—(१) अभ्यपन (२) अध्यापन (३) वजन (४) दाशन (५) क्षान् और (६) प्रतिग्रह । अभ्यापन-अध्यापन एवं उन्हींमें सतम्भरा एकाधिकार कर लिया था तथा वे गुरु, आचार्य, कावेष्टा अभ्यापक तथा वक्ताभाव नामों से प्रख्यात थे ।^२ साक्षात्कीन साक्षिण हैं मन्त्री, प्रज्ञासक, साधु तथा कदियों के रूप में माझणों का चिह्न हुआ है^३ । कभी-कभी अपवाद के रूप में वे परम्परानुगत व्यवसायों से हटा व्यवसायों को भी अपना लेते थे । कभी-कभी कुछ माझण राजसभा में विद्वक के रूप में मौजूद कर लेते थे, उदाहरणार्थ—अग्निमित्र की राजसभा का विद्वक बड़ा पैदा था^४ तथापि माझणों का कर्तव्य भी पवित्रता, तपस्या, अभ्यसन एवं कल्याण के लिये प्रसिद्ध था । अभिज्ञानशाकुन्तल में कण्व तथा मरीचि लावर्क माझणों के चरित्र का प्रतिनिधित्व करते हैं ।^५

(१) कृत्रिय

माझणों के बाव् सामाजिक अनुक्रम में कृत्रियों का स्थान था । वे निरालिखित नामों से प्रसिद्ध थे^६

१. वही, १, अ. ५-६

२. वही वृत्तमा वागादिभिर्द्वैतः । अमरकोश, २, अ. ४

३. वही, २, अ. ७-८ ।

४. रघुवंश ।

५. मातृका, अंक १ ।

६. अंक ४ तथा ७ ।

७. अमरकोश, २, ८, १ ।

- (१) मुद्राभिषिक्त (जिसका सिर राजतिलक के समान चमक जल से सिञ्चित हो जाता था) वह नाम राजवंश का सूचक था ।
- (२) राजन्य (राजवंश से उत्पन्न) ।
- (३) काकुत्थ (पौराणिक कथ से परम्परा की बाहु से उत्पन्न) ।
- (४) कृत्रिम (कर्तों से रचा करने वाला) ।
- (५) विराज (चमकने वाला) ।

कृत्रिम सम्यक् अधिक लोकप्रचलित था तथा यह उस वर्ग के आधारभूत कार्यों का प्रतिनिधित्व करता था, यथा, समाज को कर्तों से चमकना । कालिदास^१ राष्ट्रवंश में कहते हैं, 'मिथस्त्येह कर्तों से रचा करने के कारण ही राजा राज्य विश्व में कद हो गया ।' जिसका कर्तव्य इसके विपरीत होता है इसके लिये कर्तृकपूर्ण जीवन था राज्य से क्या लाभ ? कृत्रिम लोग कालक, प्रसासक सेनानायक, सौम्यलंकारक, सैनिक तथा पुलिस के सिपाही हुआ करते थे ।^२ मिथस्त्येह यह विचार परम्परागत है किन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि कृत्रिम समाज का केन्द्रीय तथा अतिशक्तिशाली वर्ग था और उनकी राजनीतिक महत्ता के कारण सामाजिक जीवन उन्हीं के चारों ओर घूमता था ।

(३) वैश्य

सामाजिक संरचना में वैश्यों का तीसरा स्थान था । अमरकोश में उनके समाजप्रचलित निम्नलिखित पितृपण दिये गये हैं^३ :

- (१) कर्त्तव्य (विराट पुत्र के ऊप से उत्पन्न)
- (२) कर्त्तव्य (" " " ")
- (३) अर्था (आधार तथा व्यवसाय में प्रमग करनेवाले)
- (४) वैश्य (जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में प्रवेश करनेवाले)
- (५) भूमिदृष्टा (भूमि को स्वर्ण अर्थात् सुताई करनेवाले)
- (६) धिक्ता (प्रजा)

उपयुक्त शब्दों में प्रथम दो उनकी पौराणिक उत्पत्ति को व्यक्त करते हैं, तृतीय, चतुर्थ तथा पंचम उनके कार्यों को और अन्तिम सम्यक् समाज में उनकी स्थिति को व्यक्त करता है । चूंकि वैश्य समाज के वार्षिक आधार से इसलिये

१ अनामिका नामत शत्रुघ्नः चन्द्रस्य सन्धौ मुकुतेषु रुद्धः ॥ २-५६ ।

२ रघुवीर्य तथा कालिदास की नारद ।

३ २, ९, १ ।

अमरकोश^१ में शीशम की भारता से ही उनका सम्बन्ध बताया है जो भारतीय, शीशिक, बाबा, कुचि, बर्तन तथा शीशम आदि सबों से सम्बन्ध होता है। वैद्यों द्वारा किये जाने वाले व्यवसाय तीन थे—(१) कुचि, (२) पशुपालन तथा (३) वाणिज्य।^२ किसान की वैश्वजीव (दोनों में विद्वन्नी विमाने-बाबा), कर्मक (इस ओतयेबाबा), कुचक तथा कुचिक (ओत बाबा), कड़ा साता बा।^३ संभवतः बीड़ और जैन धर्म के प्रभाव के कारण पशुजीवन की प्रविष्टता पर अत्यधिक बल देने के कारण कुचि का पेसा कम^४ (भीष्म तथा अमरक पर आधारित) कहा जाने लगा; कुचि को इस प्रकार चित्रित करने का कारण यह था कि इसमें दिसा का पाप कम जाता था।^५ यहाँ हमें सर्वसंगत कारण का क्या चमत्ता है कि अधिक कर्मबुद्धि वाले वैद्यों ने कुचि को सभी स्वीकृत दिया और क्यों व्यापार व व्यवसाय में ही पूर्णरूप से लगे रहे तथा क्यों कुचक सभी से जो पशुजीवन की प्रविष्टता पर विशेष ध्यान नहीं देते थे, सर्वश्रित बनाने जाने लगे। किन्तु व्यापार या व्यवसाय की कठिनाई से मुक्त नहीं था क्योंकि इसे भी सत्पादक (सत्पादक से विहित) कहा गया है। शीशम शूद्रपौरी का पेसा भी करते थे जिसे अर्धप्रयोग, कुसीर, तथा वृद्धिजीविक भी कहते थे^६। काकिवृत्त के प्रयोग में तथा वैज्ञानिकीय आदित्य में, यथा, पुराणकृत ब्रह्मसंहितामें^७, अष्टावक्रिज्ञानर तथा शीश विद्वानों में अज्ञान के अनुभवों का विग्रह कारण तथा विकसितपूर्ण है। शीशिक रूप से संभव इस जीवन का आधार विस्मयैह सद्यः कुचि, व्यापार-व्यवसाय तथा वैद्यों द्वारा संगठित विभिन्न प्रकार के उद्योग-व्यवहारे थे। साधारण तौर से व्यवसायी का धर्म का और राज्य तथा समाज इसका आधार भी करता था।^८ राज्य कुचकों एवं पशुपालकों की शक्ति तथा सम्पत्ति का विशेष ध्यान रखता था और उन्हें सभी प्रकार का रक्षण और सहाय्य मिलता था। इनके कामार्थ विपुल धर्म के किन्हीं शार्ङ्गधर्मों की जाती थी।^९

२. यही

१. अही, २, ५, ३

२. यही, २, ५, ६।

३. अही, २, ५, २।

४. दित्तामौत्रप्रधानसामान्यं कुचि।

५. अमरकोश २, ५, ६।

६. कुचकतल ५।

७. समस्त तर विद्योवाः साम्यवृद्धिः प्रमाह। आहु० अ, ६५।

(४) गृह

सामाजिक संरचना में गृहों का स्थान सबसे निम्न था। प्रथम तीन वर्गों की ही भाँति ये भी निम्नोक्त विशेषताओं से कटे जाते थे^१ :

- (१) गृह (जो लोक से इच्छित हो जाय)
- (२) कवर वर्ग (नीची जाति)
- (३) वृषक (जो वृष या घर्ष अर्थात् सजीवन के आचरण का अनावरण करता है)
- (४) अश्वत्थ (बिराट वृक्ष के समस्त निचले भाग से वृक्ष)

सिद्धान्ततः ग्राम लोगों को गृह कहा जाता था जिसमें उत्साह, सहन-शक्ति की कमी रहती थी, जो सामान्य एवं नीच संबंधों में बड़े होते रहते थे और जो सांस्कृतिक रूप से पिछड़ी हुई जातियों से जाते थे। किंतु उगता है कि इस समय वर्ष-व्यवस्था अपनी तरह अवस्था में नहीं थी तथा वर्गों के विभाजन में वस्त्र का मान अधिक रहने लगा था। अतः परिस्थितियों से प्रभाव होकर गृहों की संरचना गृह ही बहुराई और स्थायी अवस्था की भारी बनी। क्योंकि गृह अधिकतर घरेलू, कृषि-संबंधी एवं औद्योगिक धर्म में होते रहते थे अतः लष्करीय लालच में उनके अन्तर्गत बहुत कम हुआ है। तथापि अमरकोश^२ में गृहवर्ग के आन्तर्गत काठ का निक्षेपों की बहुत ही जातियों का उल्लेख किया गया है किंतु उनका वर्ग अनेक शास्त्रों और परिचारकों के रूप में हुआ है। कतिपय अवस्थाओं के होते हुए भी वे समाज के अधिक अंग समझे जाते थे। इन्हें 'प्रकृति' अथवा 'प्रजा' से सम्मिलित किया जाता था तथा उन्हें एक समाज के सामान्य व्यवसाय का संबंध या राज्य उनके अथवा अधिभार्य अंग मानता था^३।

(५) संकर वर्ग

मनुस्मृति का अनुसरण करते अमरकोश^४ ने संकर वर्गों की शक्ति की ही को अन्तर्जातीय विवाहों से, जिसको स्मृतियों ने प्रोत्साहन नहीं दिया, उत्पन्न समाजों से कल्पित की गयी है। वास्तव में निम्नोक्त संकर वर्ग हैं :

१. अमरकोश, १, १०, १।

२. २, १०।

३. प्रवर्तता प्रकृतिद्वारा वर्णितः। वाङ्मय-अ१५।

४. ५-२०।

कुलों का सम्बन्ध रखने वाले), वाणिज्यिक (जो बाजार से सिकार करते थे) तथा दण्ड (दण्ड) का सम्बन्ध है। कालिदास ने पद्मार्थ, विष्णु, विराट, वज्र इत्यादि भक्तियुक्त जातियों का भी उल्लेख किया है जो स्वभावतः हिमालय के प्रदेश में रहते थे। उन्होंने अथर्व, वज्र, पारसीक तथा वृद्ध इत्यादि का भी उल्लेख किया है जो स्वभावतः विदेशी जातियों की और पश्चिमोत्तर भारत की सीमा पर रहती थीं। कालिदास के ग्रन्थों में 'वाय' जैसी बौराजिक जातियों का भी उल्लेख हुआ है जो विस्तृत मनुष्य के और सामाजिक रूप से भारतीय लोगों से संबंधित थे।^१

२. आश्रम चतुष्टय

धर्मग्रन्थों तथा स्मृतिवृत्तों की परम्परा का अनुसरण करते हुए विक्रमशिल्प की जीवनी पर प्रभाव डालने वाले समाजिक तथा उपन्यासीय ग्रन्थों में आश्रम-व्यवस्था का उल्लेख किया गया है। अथर्ववेद^२ में उल्लिखित चार आश्रमों का उल्लेख करता है जिनमें व्यक्ति का जीवन विभक्त था।

(१) ब्रह्मचर्य

(२) गृहस्थ

(३) वृद्ध

(४) संन्यास

आश्रम-चतुष्टय में वस्तुतः व्यक्ति के जीवन के चार क्रमिक स्तर थे। इन स्तरों का आश्रम नाम इस कारण था कि (१) का जो लोग पहले आश्रम प्राप्त करते थे वे ब्रह्मचर्य (२) लोग अपने कर्तव्यों को पूरा करने के लिए सर्वसंग्रहणी भ्रम करते थे।^३

उपनयन संस्कार के बाद जब किम्ब जन्मावक के पास ज्ञान और शिक्षा प्राप्त करने के लिए जाता था तो उस समय ही ब्रह्मचर्य आश्रम का प्रारम्भ होता था। किम्ब अपने जीवन-प्रभाव का बहुमूल्य सोलह वर्ष का समय अपने जन्मावक के पास बिताता था तथा शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् उससे आश्रम के जीवन के द्वितीय स्तर में पहुँचने के द्वारा से होकर था।^४ सामान्यतः साधारण जातकों को शिक्षा के लक्ष्य माना जाता था किन्तु ब्रह्म

१. अनुबन्ध १३।

२. ३, ४, ५।

३. अथर्ववेद में उल्लेख है। यहाँ आश्रम-व्यवस्था के अन्तर्गत, स्वर्णश्रमण-व्यवस्था।

अथर्ववेद २, ३ वर मातृजी कीर्ति की टीका।

४. अथर्ववेद में उल्लिखित विभिन्न विधियों के अनुसार गुरु के गुरुद्वारा २५० १-२५।

५. यहाँ ५, २४-२५।

राजपुत्रों को उनके माता-पिता के द्वारा इसे हुए कुलक एवं समस्त सम्पादन उनके घर पर ही सिखा दिया करते थे, अर्थात्तः विक्रमादित्य की शिक्षा उनके घर पर ही हुई थी ।^१

जीवन के द्वितीय स्तर में व्यक्ति गृही (गृहपुत्र) होता था । यह आश्रम सामाजिक जीवन का केन्द्र तथा आधार सम्झा जाता था । सामान्य परिस्थिति में प्रत्येक व्यक्ति के माता की चाती थी कि वह इस आश्रम में प्रवेश करेगा । यह द्वितीय आश्रम सभी की सेवा करने में प्रथम सम्झा जाता था ।^२ इसी आश्रम में गृही अपने अध्ययन के मुक्त होता था । 'राजा वसिष्ठ प्रभों को पढ़ाने करके वहाँ को सम्पन्न करके और प्रजापति की उपाधि करके देवताओं, ऋषियों और शिष्टों के आज से मुक्त होकर अपने परिवेश के मुक्त पूर्व की भाँति आकर हो उठे ।'^३ इस सामान्य विषय के अन्वय में बहुत लोग रहते थे जो कि त्याग की उत्कट इच्छा से परिचायित होते थे अथवा कारीरिक रूप से बेकार रहते थे । बीच तथा बीच वर्ग की उपाधि तथा प्रसार में इस प्रकार के सम्पुलित जीवन पर एक गहरा प्रहार किया तथा बहुत से अपवाद निकल आए । बहुत प्रसिद्ध द्वापार कालक गया सरस्वती का है जिसका विक्रमादित्य के इतिहास से विचार सम्बन्ध है ।

आश्रम-अन्वयण के अनुसार गृही २५ वर्ष तक संघट, आत्मनोपयोग तथा सामाजिक सेवा का जीवन बिताने के पश्चात् वानप्रस्थ नामक अपने जीवन के तृतीय आश्रम में प्रवेश करता था । वानप्रस्थ अर्थात्तः वन में जीवन की स्वाभंगता है जिसमें व्यक्ति समीपवर्ती वन में रुका जाता था । 'उस (पुत्र) का जो विधवा होकर माता का और एक योग्य पत्नी से संयुक्त हो गया था, स्वागत करते और कुछ की देक-देक का कर उसके सौंपकर आश्रित्य जीवन बिताने के लिए अभिलषित हो गया, क्योंकि पुत्र के पुत्र का घर संयुक्त कर सकने योग्य हो जाने पर पूर्ववत् में उत्पन्न हुए लोग अधिक समय तक घर में संलग्न नहीं रहते' ।^४ कथासहितानुसार में भी कहा गया है कि विक्रमादित्य के पिता महेन्द्रादित्य ने अपने पुत्र को राजसिंहासन पर बैठाकर

१. गृही, २-२५ ।

२. कथासहितानुसार १४-१५ ।

३. काव्ये कथ संक्षिप्त द्वितीय उपोपनिषद्वाक्यार्थ है । १३० ५-२० ।

४. उपनिषद् ६-३० ।

५. १३० ५ ११ ।

साहित्यिक जीवन बिताने के लिए आत्मसत्य के लिए।' किन्तु यह कहना अत्यन्त कठिन है कि जीवन की यह आत्मिक एकग्रता कहीं तक सामान्य रूप से प्रचलित थी। जैन और बौद्ध धर्मों ने आत्मसत्य के जीवन को प्रवर्धन दिया। उनके अनुसार भक्ति तब चाहे गृहस्थ-आश्रम में आवश्यक रूप से बिना प्रविष्ट हुए ही आवश्यक हो सकती है। व्यवस्था के पहले आत्मसत्य प्रवर्धन करने के अनेक उपाय हैं।

अमरकोश के अनुसार जीवन का चतुर्थ धर्म 'मित्र' का था। यह सम्बन्धतः बौद्ध धर्म के प्रभाव को व्यक्त करता है। इस धर्म में व्यक्ति सभी सांसारिक मोह वाशों को तोड़कर 'मित्रजयी' तथा 'अमृतजयी' बन जाता था और सीधे आत्मिक मोक्ष में लगे पड़ने को कहा जाता था। 'तब तब अपने पुत्र को हृदय से प्रकाश में निकट रखकर आत्मज्ञान के परिणामस्वरूप मायावादी इन्द्रियों के स्पर्श से भी स्वभावतः उदासीन हो गये।' साहित्यिक और भी आगे बढ़ते हैं कि राजा दुर्जय की हत्या के पक्ष में होने के तथा पूर्ण त्याग का आग्रह करते थे।' वहीं संन्यास तथा मित्र होने के उदाहरण सामने आते हैं कि उद्धृत किये गये हैं तथा धर्मशास्त्र ग्रन्थों को ही नियमित रूप से प्रविष्ट होने की आज्ञा देते हैं। किन्तु यह व्यवस्था सामान्य लोगों से अप्रत्यक्ष नहीं दिखाई पड़ती। जैन और बौद्ध धर्मों में मित्र पद्धति परंपरागत धर्म धर्म का वाक्य नहीं करते थे किन्तु उन्होंने दरिद्रताओं और संन्यासियों की संख्या में वृद्धि अवश्य कर दी थी।

३. विवाह व्यवस्था

विक्रमचरित के समय में दूले सम्प्रदाय में यौनिक व्यवस्था समाप्त जाता था तथा सामान्यतः सभी लोगों से इसमें प्रवेश करने की आज्ञा की जाती थी। अमरकोश विवाह को विभिन्न नामों से पुकारते हैं। विवाह, परिणय, उद्वाह, उपवास, पणिपीवन। साहित्यिक ग्रन्थों में वैश और मार्च को तोड़कर धर्मधर्मों और स्मृतियों में किये गये सभी प्रकार के विवाहों का उल्लेख मिलता है। अत्यधिक प्रचलित प्रकार का वह था जिसमें बच्चे के जन्म-पिता घर तथा उसके

१. २८, २, ५०।

२. मित्रजयी: अमरकोश, ५, २, १ में नातुनी दीक्षित की टीका।

३. रघुवंश ८, २०; २५, २।

४. ८-२६।

५. अमरकोश, २, ५, ५६-५७।

एक के लोगों को बुलाकर बसंतुत करके वेद-विधि से घर को कम्पा-दान कर देते थे। काकिदास द्वारा वर्णित इसका बहुत ही आदर्श उदाहरण पार्वती-संकट का विवाह है^१। राजापाल प्रकाश के विवाह का भी जिसमें कम्पा तथा घर दोनों को चर्मे, चर्मे और काज का सामान अधिकार था, उल्लेख मिलता है^२। भासुर नाम से ज्ञात विवाह का भी जिसमें कम्पा के संरक्षक कम्पा का मुख्य तरीका करते थे, उल्लेख हुआ है किन्तु कम्पा का मुख्य लेने वाले की भासुर को वेदगा से पीड़ित दिखाया गया है^३। साम्बर्ण विवाह कृत्रिणों में ही प्रचलित था जिसमें समाज के सबसे स्वच्छन्द तथा निर्द्विष थे^४। इस प्रकार के विवाह से घर तथा कम्पा दोनों काज तथा पारस्परिक आकर्षण-वस्तु संरक्षकों अथवा सम्बन्धियों के आश्रित किए बिना वेद-विधि को कटकर विवाह सम्पन्न कर लेते थे। इस प्रकार से सम्पन्न किये गये विवाह बहुत सुखर भरी होते थे क्योंकि वासना को जीवन का सबसे कृत्रिण तत्व है इस प्रकार के विवाहों का आशय था। बहुभुक्ता का राजा भी इस बात का अच्छी तरह विद्वत् करता है। अन्तिम दो प्रकार के विवाहों एकस और वैवाच का उदाहरण विक्रमादित्य के जीवन का वर्णन करने वाले कथापरिचयनाम और तीन विषयों में प्राप्त होते हैं जिसमें संरक्षकों की हृत्प्राप्ति के विषय उनकी कम्पाओं के वस्तु अपहरण का वर्णन है। हमें ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जिसमें कम्पाओं को प्रसन्नतापूर्वक तथा गुताकम्पा में ही बुककर उनका कृतीव नष्ट कर दिया गया था^५। यहाँ तक इन विवाहों के प्रापेक्षिक मूल्य का प्रश्न है जो कि और राजापाल अधिक समझता है। साम्बर्ण और भासुर विवाहों को समाज सहम कर रहा था किन्तु उनका बाहर नहीं होता था। राजस और वैवाच दोनों निम्नित थे किन्तु उनके सम्बन्ध में निम्न वस्तु दिये गये थे कि वैसी कम्पाओं जिसका सतीव नष्ट कर दिया गया है कृतीव नष्ट करने वाले के कतिरिक्त अन्य किसी को राज न होगी। इसका कारण धौन-सुवि-विषयक सामाजिक धारणा थी।

कृत्रिणों, किलेकर राजपराओं में, स्वयंकर तथा जल-विवाह (घर कुच

१. कुवार्ड, ७

२. कुवार्ड ।

३. पीविरो सुविद्वत्पदार्थनाम । पृ० ११-१८

४. कुवार्ड, २-२५ ।

५. कथापरिचयनाम, १८, २; उदात्त अन्य उदा० ।

सत्तों को दूर करके कन्या से विवाह करता था) की प्रथाओं की प्रचलित थी। चर्मकाष्ठों में इन प्रथाओं का उल्लेख नहीं मिलता। किन्तु काकिल्लास के ग्रन्थों में इनका वर्णन है। इन्दुमती^१ का विवाह यक्ष्म राजा सीता^२ का विवाह द्वितीय कोटि में आता है। किन्तु दोनों प्रथाओं का प्रचलन कुछ सीमाओं के भीतर ही था। वस्तुतः विवाह के पूर्व घर की आशय। तथा योग्यता देख कर आती थी। इन प्रथाओं के चर्मकाष्ठों में उल्लिखित न होने का मुख्य कारण यह है कि दोनों प्रकार के विवाह काल में आका-विधि से ही सम्पन्न होते थे और सबसे धार्मिक उद्देश्य पूरा होता था।

विवाह की प्रथा में कुछ सीमाएँ भी थीं। अधिकतम विवाह अपने ही वर्ग में किन्तु अपने के भिन्न विन्ध और गोत्र में किये जाते थे। प्रथम सीमा के अन्वय में उपलब्ध होते हैं। विधेयता, आशय और चरित्रों में अन्तर्जातीय विवाह (मसकर्म विवाह) के भी उदाहरण मिलते हैं। काकिल्लास अधिमिश्र (आशय) का मानविधायक (चरित्र कन्या) के साथ और दुष्कर्म (चरित्र) का शकुन्तला^३ (आशय की चर्मपुत्री) के साथ विवाह का वर्णन करते हैं। यद्यपि ये दूसरे विवाह के प्रसंग में दुष्कर्म की मानसिक शिक्षा का भी उल्लेख करते हैं। ज्ञान प्रकटा है कि अनुक्रम विवाह (उपक्रम के घर का भिन्न वर्ग की कन्या के साथ विवाह) का एक अंग भी प्रचलित था किन्तु प्रतिक्रम विवाह प्रचलित नहीं किया जाता था। दूसरी सीमा का सामान्यतः आधुनिक विवाह आता था। उसी मरत के ज्ञानों जैसी कुछ सीमा सामाजिक कारित्यों समेत विवाह किया करती थी किन्तु वे सामाजिक व राजनीतिक रूप से पूर्णतः ही गये और धीरे-धीरे उन पर भी आक्रम-अनुशासन का गया।

साहित्यिक ग्रन्थों में वर्णित कालगत सभी प्रकार के उदाहरणों में घर और कन्या दोनों ही समरक होते थे तथा वे विवाह तक होने में अपने विशेष का प्रयोग कर सकते थे। कन्या का अपने माता-पिता तथा घरवालों के चुनाव और मत को मानना अच्छा समझा जाता था। 'राज्यपति राजकुमार में जिसने समयावस्यार गुरुजनों से शिक्षा पायी थी और जो अपने जीवन के विकास से

१. पृष्ठ १५५, १५६।

२. पृष्ठ १५६, १५७ और आगे।

३. साहित्यिक अधिमिश्र।

४. पृष्ठ १५५।

भीर भी सुन्दर हो गया था, अनुरक्त होने पर भी उसी प्रकार से अपने स्वामी की आज्ञा की प्रतीक्षा कर रही थी जिस प्रकार भीर कम्पा किसी घर अनुरक्त होने पर भी अपने पिता की आज्ञा की प्रतीक्षा करती है।^१ इन छत्र विधियों में माता की आज्ञा पिता से अधिक निर्णायक समझी जाती थी यद्यपि वह आचारमत्त। अपने पति के ही मत्त का अनुसरण करती थी।^२ गान्धर्वविवाह के उदाहरणों में, जो कि अपवादस्वरूप थे, न तो संरक्षकों के परामर्श किया जाता था और न उनकी आज्ञा का आग्रह ही किया जाता था, यद्यपि वे ऐसे मामलों में अपनी अनुमति दे देना कुटुम्बिका की समझते थे, क्योंकि ऐसे विवाह पहले ही सम्पन्न हो चुकते थे अतएव विशेष कारण स्वर्ण होता था। सकुम्भका के वर्णविता कथ में द्रुपदम् और सकुम्भका के गान्धर्वविवाह का अनुमोदन किया था।^३

विवाह सब करने का कोई भी प्रकार क्यों न हो वह आवश्यक, कमसे कम लवीह, समझा जाता था कि प्रत्येक प्रकार के विवाह में वैवाहिक संस्कार हों जिससे वह धार्मिक और सामाजिक स्वीकृति पा सके। 'सुमरस्तम्भ' में कर्किकदास द्वारा तथा के उदाहरण का वर्णन विवाह की व्यवस्था और आवश्यकता के लिए अपवादी शब्दवाची संज्ञात्मक विधि का प्रकाश डालता है। सर्वप्रथम वैवाहिकी विधि विहित की जाती थी। कम्पा के घर तथा बहोत-पहोत को ललाचा जाता था। विवाह के दिन कम्पा का शरीर अच्छी प्रकार से सज्जित किया जाता था। उसका 'संगरक्षक' होता था तथा कीतुकदेही का वह बैझी की जहाँ उसका और भी अलङ्करण होता था। उसकी कलाई पर कम का चना हुआ छत्र लुब् (कीतुक-दस्तचूच) बाँध दिया जाता था। वह अपने पक्ष के लोगों के साथ एक कुबिलाक वैवाहिक संघाचा (सङ्घ) बनाकर कम्पा के पिता के घर जाता था जिसकी कम्पा के पिता के सम्पत्ती तथा बचोली सभी उत्तुम्भता से देखते थे। घरवत्त के लोगों का उचित आग्रह होता था तथा वह भी उपहार देने वाले थे। कुम्भ-पुरोहित की व्यवस्था में पवित्र धर्म के समुक्त संस्कार सम्पन्न किये जाते थे। विवाह के दो प्रमुख संस्कार वाणिप्रवण (रक्षी के शङ्ख-धोवन के उपादानित्य का प्रतीक)

१ श्री. सावित्रायणि पुरोहितों कीरन कम्पा पितृव्यकांड। २३०-५, १८।

२. प्रथम पुरोहितेवाः कम्पावैषु कुटुम्बिकः। कुमार= २, ८५-८६।

३. सकुम्भक ९।

४. ९ और ७।

तथा अग्निप्रवृत्ति (अग्नि के चारों ओर घूमना, जो संस्कार का स्थायी स्तम्भ था, साक्षि का परिचायक) थे । विवाह संपन्न होने के पश्चात् घर और बंधु अपने बंधों तथा सम्बन्धियों से अन्तीर्षद् व उपहार प्राप्त करते थे । तदनन्तर घर बंधु को लेकर उचित वृक्ष के छांव रथ में बैठकर वापस आता था ।^१ सम्पन्न वे कई महीनों तक प्रसन्नतापूर्वक केलिमास मनाते थे ।

जन्मसाधारण में सामान्यतः एकपत्नीविवाह ही प्रचलित था । कामाचार तथा बहुपत्ति का एक भी चिह्न नहीं मिलता । किन्तु शासक तथा सम्पन्न कुटुम्बों में बहुपत्नीविवाह अधिकांशतः प्रचलित था । बहुपत्नीक को कोई काज्ज नहीं लगता था वरन् पहली पत्नी स्वपत्नियों के आने पर बुरा मानती थी । 'राजा माकदिका को अधिक प्यार करने लगी वे किन्तु रानी भारणिका की सावनाओं की डेल न लगे वृत्ति' उन्होंने अपने को बससे बुर रखा ।^२ बहुत से नरेश जन्तपुर में अपने मुर की सर्वज्ञेय सुन्दरियों को रखा करते थे ।^३ विक्रमादित्य के जन्तपुर में भी लक्ष्मकाकीन केकाओं के अनुसार बहुत-सी सुन्दरी कियों थीं । कगमग प्रत्येक मुर में वे एक न एक की काये थे । बनी जगपारी निवसतः कई कियों रखते थे । 'यदि वह बनी या तो उसके कई रतिनर्तों लवहर रही होती ।'^४ तथाकि काकिरास जल^५ तथा शम्भ के वर्णन में बहुपत्नीय के सम्माननीय जपवाह प्रस्तुत करते हैं । बुधुमती की स्त्राय पर भय का विकास कोकोति बन गया है । अवलोक्य मरु के समय राम ने दूसरी पत्नी प्रवृत्त करवा स्वीकार नहीं किया तथा उन्होंने अपने साथ सीता की प्रतिभा को रखा था । वरन् ही समाज बहुपत्नीय को सहन करता था किन्तु कवियों द्वारा कवित्त आर्द्रा विवाह एकपत्नीय ही था ।

४. वैवाहिक जीवन का आदर्श

वैवाहिक जीवन का आदर्श धर्म, अर्थ और कामके विषयों में रति-रसनी का पूर्ण सामन्वय तथा एक दूसरे के प्रति श्रद्धा विश्वास था । तथापि वैवाहिक

१. भास्वामुक्तमहर्षि । रघु० ७, ३९ ।

२. माकनिका० ३, साङ्ग० बंद ९ ।

३. प्रतिक्रितिरचनान्तो वृत्तिसम्बन्धितः । समधिकारकपाः । रघु० १८, ५४

४. काकुत्स्थ ३ ।

५. रघु० ८, ५२ ।

६. रघु० १५

जीवन सदैव लाचार्य और क्लेशमय बन नहीं होता था। वह आकर्षक रूप से प्रतापशाली तथा कठिनाइयों का जीवन था। इस आदर्श की पूर्ति में प्रति कभी-कभी शीकर पड़ जाता था परन्तु की सामान्यतः इस आदर्श की पूर्ति में सफल रहती थी। कविदास अपने स्त्री-चरित्रों का विशेषतः नायिकाओं का चित्रण स्वयं, प्रेम और सह-सुखता की दृष्टिमा से रूप में ही करते हैं। राम ने राज्यकर्तृत्व से वाच्य होकर सीता के साथ कठोरता का व्यवहार किया तथा रक्षित की व्यवस्था में ही निवेशित कर दिया। किन्तु सीता ने अपने प्रति के प्रति बिना किसी सम्मिश्रण के निष्पक्षिकित रूपों का प्रयोग किया जो कर्मपत्नी की भावनाओं की कठिनीय अभिव्यक्ति है : 'इस परिस्थिति में बहकन सम्मान उत्पन्न हो जाने के प्रभाव पूर्व की ओर जाने लगाकर तब कठिनी मिलने सम्मानान्तर में भी आए हो मेरे प्रति हों और विभोग की स्थिति उत्पन्न न हो'।^१ राम बचपि कठोर अनुशासनप्रिय राजा थे किन्तु अपनी पत्नी के प्रति नरुद्ध थे। कथमन ने जब राम को सीता के से सम्बन्धित होने की उनकी भावों में भ्रमों से डूले घर राखी जैसे पौष मास का पूर्वकल्प पुरुष विरामे कथन है।^२ आदर्श पत्नी के कर्मों को कविदास ने निष्पक्षिकित रूपों में दिया है : 'यहाँ का आदेश करो, प्रपत्ति के प्रति प्रेमपूर्व व्यवहार करो और यदि सुदृष्टता प्रति कठोरता का कर्तव्य करता है तो तुम भी कठोर न बचो तथा अपने लोचनों के प्रति उदास नहीं रहो। इस प्रकार वे कठिनी प्रति के घर में बसना सिद्ध होती, सुदृष्टा किने अभिजात नहीं।'^३ आदर्श वैवाहिक जीवन सफल होना चाहिए। संस्थाओं का घर में स्वागत होता था और बड़े स्नेह के साथ उनका कष्टम-कोषण और निष्ठा होती थी : ऐसा व्यक्ति कथमुच भाग्यशाली समझा जाता था जिसकी गोद भूख में बेलने हुए बर्तों से पूरित हो जाती थी।^४

५. समाज में स्त्री का स्थान

अनारक्षक^५ में स्त्री के निष्पक्षिकित कर्तव्यों से स्पष्ट हो जायगा कि स्त्रियों को समाज में कितनी प्रति से देखा जाता था :

१. भूषो वधा ये जनान्तरेऽपि तथैव वर्ता न च विप्रशमः २५० १४, ६।

२. बहूव राघः श्रेष्ठः सवान्तरसुखारवधौ सहस्रकन्दः २५० १४, ६५।

३. शाकु० ४

४. मन्त्राभयवर्धनसुखदान्दन्तो वन्द्यस्तद्वारकता मन्त्रिनीभवन्ति। शाकु० ७, १०।

५. अनारक्षक ९, ६, २-४।

- (१) खी (जो सम्मान उत्पन्न करने के योग्य हो)
- (२) बेचिह (सेवक करने वाली)
- (३) भवका (बहूनीना)
- (४) शोका (शिवा)
- (५) नादी (नर-सम्बन्धी)
- (६) सीमन्तिनी (कर्म केवक वाली)
- (७) बधू (सहनशीला)
- (८) घटीपद्मिनी (तिरवा देखने वाली)
- (९) वामा (मेल उदेकने वाली)
- (१०) वमिता (उमदनी हुई वासना वाली)
- (११) महिका (आश करने योग्य)
- (१२) भंगना (सुन्दर भेरी वाली)
- (१३) सीध (वरपोष)
- (१४) कामिनी (उत्पन्न काम वाली)
- (१५) वामकोचना (भाँकी में वासना किए हुए)
- (१६) वमवा (मधु से पूर्ण)
- (१७) मागिनी (मान करने वाली)
- (१८) कान्ता (सुन्दर)
- (१९) कलना (दुकारी)
- (२०) मितमिनी (कावत मितमों वाली)
- (२१) सुन्दरी (देखने में अच्छी लगने वाली)
- (२२) रमली (रमन करने योग्य)
- (२३) रामा (अच्छी लगने वाली)
- (२४) कोपना (कुपित होने वाली)
- (२५) भगिनी (शोध दिखाने वाली)
- (२६) वरारोहा (बने-बने कुवहों वाली)
- (२७) मत्तकाशिनी (मत्तपान के कलात् चमकने वाली)
- (२८) उल्लास (लज्जे अच्छी)
- (२९) वरवर्जिनी (सुन्दर रंग वाली)

१. श्रीमद्भक्तिसुखाश्री प्रीति वर सुकलोत्पत्ता ।

सर्वलक्षा व व नारी का नवेद्वर्जिनीय वर : वागुनी दीक्षित द्वारा
अपरकोष्ठ की टीका में उद्धृत । हमने जो के विभिन्न वर्णों की व्याख्या में
वागुनी दीक्षित का अनुसरण किया है ।

श्री के बारे में प्रयुक्त वे शब्द कीकी जातिगत, शारीरिक तथा सौम्यर्ष और प्रेममूलक कारणों का निर्देश करते हैं। इन शब्दों का प्रयोग बहुत अधिक विनों से होता जा रहा है तथा वे आदिम क्रियाभेद पर आधारित हैं, यद्यपि इस युग तक वे जीवित थे और अपने मूल अर्थ पर बिना कोई ध्यान दिए ही उनका प्रयोग किया जाता था। यदि हम इस युग के साहित्यिक ग्रंथों का अध्ययन करें तो हम देखेंगे कि अपनी आदिम और सांख्यिक सीमा के बाहर भी श्री का प्रयोग हुआ है।

जैसा कि काकियास के ग्रंथों से पता चलता है विनों का समाज में बहुत ही ऊँचा स्थान था। दुष्ठी के रूप में कुटुम्ब में उसका बहुत बुरकार होता था, काला-पिता के द्वारा उसका शासन-धीन और मित्रा होती थी यद्यपि इस समयको करते हुए पिता के मन में एक दुःख की भावना उत्पन्न रहती थी क्योंकि एक दिन वह उसको दूसरे को दे देती सकती थी : 'कथ्वा दूसरे का भन है, बहुभूषण एक है जो माता-पिता के पास भिक्षेय के रूप में तब तक रहता है जब तक उसका वास्तविक स्वामी उसे नहीं ले जाता। और भन देने उसको उससे परमार्थ स्वामी को दे दिया है। अतएव मेरी भावना का मोह हलका हो गया है। भन में अधिक सम्बन्धकार्यक बात कैला हुआ मनील होता हूँ।' उसे अपने संरक्षकों के रक्षण में समर्पण जाता था। फिर भी उसे दूमरे की स्वतन्त्रता थी तथा उसे अपना जीवन-साथी चुनने का, विवेकता, गाम्भीर्य विवाह तथा स्वर्णर में भाग लेने का पूर्ण अधिकार था।

पत्नी के रूप में वह पुरुषस्वामिनी थी यद्यपि विद्यामलः वह अपने पति के अधीन थी। 'वास्तव में मैं दुष्ठी का स्वामी नाममात्र को हूँ जब कि मेरा मेम गम्भीर लक्ष्यों से संकलित होकर तुम्हीं से केन्द्रित है।' पति श्री का आत्मन्त भाव करता था। भन अपनी पत्नी की शत्रु पर विचार करते हुए करते हैं 'तुम्हीं मेरी पत्नी, परामर्शदात्री, एकान्तसंगिनी तथा कठिन कष्टानों से मेरी निवृत्तिष्वा थीं। संक्षेप में, तुम्हीं केसर, कदो, शत्रु ने मेरा क्या कोरा ? निर्द्वैत होकर उसने मुझे लड़ लिया।'^१

१. यहाँ हि कथा परमेश्वर एवं राजाच सन्धेय परिशुद्धि।

आलो मयान विद्वतः ब्रह्मर्षि संवत्सरात् इरान्तरात्मना ॥ आशु० ४, २२ ।

२. आशु० ८, ५२ ।

३. आशु० ८, ५०

धर्म, धर्म और काम की पूर्ति में ही पति की अनवरत समिन्धी थी तथा धार्मिक कृत्यों में पति के साथ उसकी उपस्थिति इतनी अनिवार्य थी कि उसकी अनुपस्थिति में उसका कोई प्रतीक ही रखा किया जाता था। जिस समय राम अचानक बाहर कर रहे थे उन्होंने सीता की अनुपस्थिति में अपने पार्श्व में सीता की धर्मप्रतिमा प्रतिमा रखी थी।^१ अतः तक कन्या के विवाह का प्रश्न या माता या मूल पिता से अधिक मातृ सम्बन्ध जाता था।^२

जिस समय की माता बनती थी उसका महत्व कोरों की दृष्टि में बढ़ जाता था। माता के रूप में वह सर्वदा बाहर तथा पूजा का पात्र थी। अतः तक सम्मान का प्रश्न या माता का स्थान पिता से ही अधिक था। जब राम कन्या से अयोध्या लौट आए, उनका सर्वप्रथम काम अपनी माताओं के पास पहुँचना तथा उन्हें अक्षापूर्वक सम्मानित करना था।^३ विश्वनाथ के जीवनवृत्तात्मक कर्णों में वे अधिक मातृ-भक्त वर्णित किये गये हैं।^४

साहित्यिक ग्रन्थ की की सामाजिक तथा धार्मिक दृष्टा पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं किन्तु उनकी धार्मिक स्थिति के बारे में कोई स्पष्ट बात प्राप्त नहीं होती। विश्व ही वे विवाह के अनवरत पर पर्याप्त आह्वानी^५ (देख तथा कथन) काती थी जो जीवन का प्रमुख मंत्र होता था किन्तु अपने पति की सम्पत्ति में उसका क्या अधिकार था, पर्याप्त साधनों के अभाव में कहना कठिन है। काशिका के 'अभिज्ञानसाकुन्तल' में एक चरित्र है जो पति की सम्पत्ति के उत्तराधिकार में ही की स्थिति का विधान करता है।

यहाँ कहता है। 'यद्यपि सन्तुष्ट्यापारी धर्मिक मोल मान होने से तब ही तथा। वेचारे को कोई भी सम्मान नहीं है। मंत्री सिद्धता है कि उसकी स्त्री सम्पत्ति को राज्य हस्तगत कर लेगा। सम्मान न होता ही क्या सुभाष है। वेचारी, धनी लीहत्तर के कई किराँ होंगी। इसका पता लगाया आदि कि उनमें कोई समिन्धी है या नहीं x x गर्भ के वाक्य को पिता की सम्पत्ति के उत्तराधिकार में अधिकार है।'

१. रघु० १४, ८५।

२. कुमार० १, ८५।

३. रघु० २४।

४. विश्वनाथ-सम्बन्धग्रन्थ संग्रह।

५. रघु० ४, ३९।

६. १, २१ कोट के अन्त।

उपयुक्त वाक्यक्रम इस बात का निर्देश करता है कि श्री पति की संरक्षिणी श्री उत्तराधिकारिणी नहीं बन सकती श्री समाधि उसके जीवन के लिए राज्य की ओर से प्रयत्न कर दिया जाता था। जीवन की सम्भावना राज्य की इस योजना से प्रकट होती है 'यह सम्भावक बात है कि किसी के सम्मान है अथवा नहीं। यह योजना कर देनी चाहिये कि दुष्कृत (राज्य) दुष्टों के अतिरिक्त उन सभी लोगों का सम्बन्धी है जिसके सम्बन्धी मर चुके हैं।' श्री के जीवन रहने पर भी राज्य द्वारा सम्पत्तिद्वारा इस बात का संकेत करता है कि स्वतन्त्र व्यक्ति के रूप में श्री सम्पत्ति नहीं एक सकती थी और राज्य एक प्रकार के आधुनिक समाजवाद का प्रयोग करता था और यह सम्पत्ति को दूर के सम्बन्धियों में नहीं जाने देता था। श्री श्री आर्थिक अयोग्यता स्पष्ट है।

यहाँ तक पति को सम्पन्न करने और पूजने की स्वतन्त्रता का मत है श्री को ऐसी पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त थी। उसे विवाह के लिए राज्य नहीं दिया जा सकता था और न उसकी दुष्कृत के विरुद्ध उसे सम्पत्ति का जीवन बिताने से रोका जाता था। समाधि जीवन की स्मार्त-व्यवस्था के अनुसार उसे सम्वादावस्था में प्रसिद्ध व्यक्तियों की देख-रेक में रहना पड़ता था। काश्चित् द्वारा वर्णित रूप के आधार में अनेक सम्पत्तिरिणी क्षिप्ति भी थी।^१ वीर वर्ण के आधारित होकर क्षिप्ति अधिक संख्या में भिक्षुओं या वेदों का गनी थी और सम्पत्तिद्वारा पूर्णक भूमि थी। पूजने की स्वतन्त्रता कुछ परिवर्तिकाओं, भिक्षुओं अथवा वनवासियों की सम्पत्तिों तक ही सीमित नहीं थी अतिरिक्त इसमें रानियों, माताओं या गृहस्थियों का भी भाग था।^२ समाधि क्षिप्ति कुछ विविक्तता का भी दाकन करती थी। वीर भिक्षुओं से पूजक आवासों में रहते थे। काकिदम के ग्रन्थों में 'अवरोधनों' तथा राजाओं और वर्णस्थियों के वास्तुपुरों का उल्लेख है।^३ समाधि ने राज्य (अपने वर्तमान अर्थ में) वह प्रथा के अतिरिक्त को भिन्न नहीं करते जिसका अर्थ लोगों की रक्ति में गरि का अवगुण्य है। उनका अर्थ केवल पूर्ण रहित सिद्ध तथा अत्र पुजने के वरों की क्षिप्ति से है। क्षिप्ति की यह आसिद्ध विविक्तता भी सर्वव्यापी नहीं थी। केवल उच्च कुलों में ही देसा होता था। विक्रमादित्य के समय में अधिचार्य रूप से सती प्रथा भी अप्रचलित थी।

१. अविज्ञानशाकुन्तलम् १, २, ३

२. मातृमिताक्षिप्तिम् ।

३. उल्लेख १, १५; ४, ६४; १६, १५, ५५, ७२, कुमार- ७, २२

हमें पति की मृत्यु के बाद जीवित रहने वाली विधवाओं का वर्णन मिलता है।^१ इसमें सम्बेह नहीं कि कुछ किर्यों अपने पति की शिता पर ही मरम हो जाती थीं किन्तु अधिकांश ऐसा नहीं करती थीं। गर्मिणी किर्यों को निश्चयता सती होने से रोक दिया जाता था।^२ कुमारसम्भवे^३ में रति का दृष्टान्त विचारणीय है। निम्नलिखित मनोभावों को व्यक्त करने से कहाता है कि जले हुए पति काम का अनुसरण करने की ही उसकी आकांक्षा थी। 'अश्रुमा मे साथ उसकी चोंचनी भी चली जाती है और बनों के साथ सौदा-मिनी भी अन्तर्हित हो जाती है। इसी प्रकार किर्यों भी पति का अनुसरण करती हैं जितना तो कुबिहीन भी जानते हैं,' किन्तु करने स्वयं अपने को चीरन बंधामा तथा जल मरने से रोक रखा। तथापि उसके शब्दों से प्रकट होता है कि सती प्रथा छुल नहीं हुई थी। यह पूर्ण श्रम्भ है कि राजपूताना तथा मध्य-भारत की राजसाम्रिक जातियों में इस प्रथा का प्रचलन रहा हो। कुछ सत्ताकिर्यों पूर्व धूमनिर्घों ने पंजाब में इन आतियों के पूर्वजों में इस प्रथा को बैका था।^४



१ कुमार= ४, १।

२ दृष्ट= १५, ५६।

३ ४, ३६।

४ मेक्सिक्काक अ० १, १, पृ० ६६

दशम अध्याय

धार्मिक जीवन

१. भूमिका

प्रथम शती ई० पू० में भारतवर्ष के तीन प्रमुख धर्म—वैदिक, जैन और बौद्ध—विड़की पाँच सतियों से साथ ही साथ एकपते बंधे जा रहे थे। प्रतिक्रिया और समन्वय की प्रक्रिया को उन्होंने एक दूसरे को प्रभावित किया। यद्यपि उनका अपना अलग-अलग अस्तित्व था किन्तु उनमें बहुत कुछ समानताएँ भी थीं। सुविधा के लिए हम धर्मों की अलग-अलग चर्चा की आवश्यकता तथा उनके मुख्य अंग स्पष्ट किये जायेंगे।

२. वैदिक धर्म

मीनों के पतन के बाद, जो जैन और बौद्ध दो वैदिक एवं सुधारवादी धार्मिक आन्दोलनों के आग्रहद्वारा थे, वैदिक धर्मवाक्यवादी शास्त्री ने वैदिक धर्म के ऐक्यमण्डल, अभ्यासशास्त्र और कर्मकाण्ड का पुनरुद्धार किया। पूर्वोक्त भारत के गणतन्त्रों के ठीक विपक्ष जो बौद्ध-धर्म के प्रभाव को समिभूत हो गये थे, राजपुताबा तथा मध्य-भारत के गणतन्त्र अपनी पूजा और विकास में पहले से ही वैदिकधर्मवाक्यवादी के शास्त्र-धर्म का यह पुनरुद्धार विवश-दिव्य के काल में भी जारी रहा। वस्तुतः मीमांसा की धर्म-विपक्ष आशय ही यह हो गयी कि 'धर्म बहरी है जो वेद द्वारा उपस्थापित विधियों के अनुसार किया जाना'।^१ सामकालीन ग्रन्थों में वैदिक देवताओं तथा वैदिक संस्कारों का बहुत उल्लेख हुआ है। विगमकिसित देवताओं का बहुत-बा र्णन मिलता है—इन्द्र, वरुण, अग्नि, मिथुन, कदिर्य, सोम, पुरुष, प्रजापति, शिव, यम वासु आदि। इनका आवाहन यज्ञ के विभिन्न अवसरों पर किया जाता था तथा उनसे वरदान के लिए प्रार्थना की जाती थी। इन देवताओं की पूजा दो विधियों से होती थी। (१) प्रार्थनाओं द्वारा और (२) यज्ञ द्वारा। देवताओं की विभिन्न प्रकार की प्रार्थनाएँ की जाती थीं जिनमें अच्छी को जीवनोपयोगी वस्तुएँ प्रदान करने के लिए देवताओं से निवेदन किया जाता

या। इन्द्र का सम्बन्ध अब भी वर्षा से था : 'इन्द्र कोनों के लिए अधिक बुद्धि करें तथा तुम वर्षा को प्रसन्न करें।' विभिन्न वैदिक देवताओं की विभिन्न प्रकार की प्रार्थनाएँ की जाती थीं। जहाँ तक वर्षा का प्रश्न है वे बहुत अधिक प्रचलित थे और रघुवंश में राजाजय में वाइनों के निरन्तर वर्षों में छोटे रहने का वर्णन मिलता है : 'उन्होंने स्वयंस्व प्राप्त में, जहाँ पुरों का प्राप्ति था, अर्थात् दास स्वीकार करने के अनन्तर सम्राट्त्वं अर्थात् आशीर्वाद प्राप्त किया।' और भी कहा गया है, 'सरयू का, जिसके किनारे पर जनेक रूप गये हुए हैं, अथर्ववेद के प्रसन्न में रघुवंशियों के नरनाशन करने से पवित्र हुआ एक अयोध्या राजधानी के चारों तरफ बहता है।' धीरकाशीन यज्ञों का भी उल्लेख हुआ है। 'इस समय वह पावक लोक में है जिसके द्वार सूर्य ने इसलिये बन्द कर रखे हैं कि धीरकाशीन यज्ञों में रत्न प्रवेष्टाओं की दृष्टि की कमी न पड़े।' सातक वर्ष के कोट जन्मवेद,^१ विधिवत् तथा राजपुत्र^२ आदि राजनीतिक बन्ध किया करते थे की-वैत में उनकी पुरुषवृत्ता के प्रतीक थे। गृहस्थों के घर पर रथ-महापक्ष हुआ करते थे।^३ वे इस प्रकार हैं : (१) महापक्ष (पवित्र ग्रन्थों का अध्ययन), (२) देवपक्ष (देवताओं के लिए यज्ञ), (३) पितृपक्ष (पितरों को दिव्यदान), (४) अतिथिपक्ष (अतिथिसेवा), (५) भूतपक्ष (सभी प्राणियों को दान)। इनके अतिरिक्त निम्नलिखित संस्कारों^४ को भी गृही करता था जातकर्म, नामकरण, नीक, उपनयन, व्रतारम्भ, विवाह तथा जन्मवेदि। पितरों को प्रतिदिन आन्न भी प्रदान किया जाता था।^५ जुषेहि जैसे काम्ययज्ञ भी किये जाते थे।^६ पुनर्जीवित

१. महातृ तत्र विधीनाः प्रत्ययबुद्धिः प्रजातु त्वमपि विप्रतमसो वज्रिनं भगवेषाः ।
अभिधान-शाकु० ४, १५ ।

२. रघु० १, ४४ ।

३. रघु० १३, ३१

४. रघु० १, ८० ।

५. यज्ञी० १५, ५८ से आगे; मातृमिकाप्रतिग्रहम् ।

६. यज्ञी० ५, १ ।

७. रघु० १३, ३५ ।

८. यज्ञी० १०, ७८; १५, ३१; १०, ४ ।

९. यज्ञी १, ३८ के अन्ते ।

१०. यज्ञी ।

वैदिक धर्म पहले तो छद्मों के आवरण में, तत्पश्चात् भाइयारवादी गणसन्धियों के आवरण में लपका हो गया था और अभी भी माना जाता है। इस तरह का साधन पुराणीय कदापि ई० का नव्वता धूप अभिलेख है। इस अभिलेख के अनुसार सारथी ने उठने पूर्व बाद भी अवस्था की प्रसन्नता के किन्तु पुरुषवर्ति ब्रह्म किया।^१

३. वैदिक धर्म में नई प्रवृत्तियों

यद्यपि वैदिक धर्म का पुनरुद्धार और पुनर्जीवन हुआ था तथापि बहुत नवीन विचारों और विचारों से प्रभूत नयी प्रवृत्तियों को जो विभिन्न क्षेत्रों को प्रभावित कर रही थीं न रोक सका। अतः वैदिक धर्म के समझीते और परिवर्तन की अवस्था में प्रवेश किया और इसमें बहुत सी नवीन बातों का विकास हुआ। वैदिक देवताओं में परिवर्तन हुआ। महावीर तथा बुद्ध जैसे न्याय पुरुष आद्य धर्म के ईश्वर, देवों और देवियों के साकारवाद की पूर्णता के कारण बने, उन्होंने पूर्व विकसित अवतारवाद की भावना को सुविधा प्रदान की और मानव कर्तों में देवताओं और देवी नवधियों की उपासना को प्रोत्साहन दिया। आद्यधर्म ने इस परिस्थिति का पूरा लाभ उठाया तथा उसने भारतवर्ष के धार्मिक इतिहास में एक नया सम्भव्य पक्ष प्रकट किया। वैदिक धर्म के अन्तर्गत ईश्वर अवस्था देवता पूजा के ही विषय थे, किन्तु वेन तथा श्री धर्म के प्रभाव के अन्तर्गत पुरुष पूजा का विषय बन गया तथा इस पूजा में अधिक का विषय उत्पन्न में स्थित ईश्वर बन गया।

वैदिक देवताओं तथा देवियों ने नवीन नाम तथा स्वरूप प्राप्त किया। भीष्म वृद्धावस्था उपस्थित किये जाते हैं। महान् वैदिक देवता इन्द्र को विभिन्न भावनाओं और सम्बन्धों के आधार पर निम्नलिखित नाम^२ दिये गये थे।

(१) इन्द्र	(१) धृतराष्ट्र	(११) केशवर्धन
(२) महानाभ	(२) सुनासीर	(१२) लक्ष
(३) मलयन्	(३) पुरुहूत	(१३) सतसम्पु
(४) विडोवा	(४) पुरन्दर	(१४) दिवस्पति
(५) पाकलासन	(५) मिश्र	(१५) सुनामन्

१. यजु० इति० वि० २७।

२. अथर्व० २, २, ४४-४७।

(१३) गौतमिद	(२३) बलासति	(३०) दुःस्वप्न
(१४) वसिन्	(२४) शचीपति	(३१) तुरापाद्
(१५) वासव	(२५) अन्नमेदिन्	(३२) मेघमातुष
(१६) धृतराष्ट्र	(२६) हरिहप	(३३) भास्वत्
(२०) धृपन्	(२७) स्वाराज्	(३४) सहसाध
(२१) वास्तोष्पति	(२८) नमुचिसूदन	(३५) कमुचन्
(२२) सुरपति	(२९) संजीवन्	

इन्म की परकी हृन्मणी मे, ओ केवल एक कल्पना मात्र थी, एक स्वल्प और शची और सुकोमला हो नाम धारण कर रक्के थे।^१ हृन्म की राजधानी अमरावती, उनके घोड़े दक्षीभवा, उनका सारथि मातकि, वनका इषान मन्मन्, उनका शास्त्र वैजयन्त, धनका पुत्र जयन्त तथा वाक्यारुति, उनके हाथी देशवत, अन्नमातंग, देशवत एवं अन्नमुवन्न, उनके वस्त्र हार्दिकी, वस्त्र, कृत्ति, भिदुर, पथि, सतकोवि, वषट्, मन्म, इन्मोकि व अस्तति, उनके रथ ज्योमघान तथा विमान, उनकी सभा सुधर्मा मन्म देवसभा आदि सभी का स्फुरकप में विचार किया गया है।

अन्म वैदिक देवता यथा विष्णु,^१ अग्नि,^२ वरुण,^३ विश्व,^४ यम,^५ वायु,^६ मरु^७ इत्यादि में भी परिवर्तन हुए तथा उनकी मनीन नाम की दिये गये। परिवर्तन की प्रक्रिया के अतिरिक्त सृष्टि तथा सृष्टि की प्रक्रिया भी चलती रही। बहुत से नये देवी-देवता सामने आये। भस्वत्, काम, कपती, पार्वती, गणेश, स्कन्ध, कुमेर आदि का मनीन देवता-मण्डल में महत्त्वपूर्ण स्थान था।^८ अर्धदेव-देवियों का भी उद्भव हुआ यथा किन्नर, गन्धर्व, विद्याधर,

१. यही २, १, २४।

२. मन्मकोश १, २, २५।

३. यही १, १८, २६।

४. यही १, २, ४८-५२।

५. यही २, १, ३२-३६।

६. यही २, २, ३२-३५।

७. यही १, २, ६४-६६।

८. यही १, २, २६-२७।

९. यही १, १-११।

बच, गच्छ', अस्तिरा, अस्तिव हृत्पादि छोगों को बेलारों, राक्षसों तथा अन्य बहुत सी नीच-आत्माओं पर भी बिम्बित था ।^१

देवताओं में नये तथ्यों के विकास के साथ पूजा तथा धार्मिक पुण्ययात्रि के नये-नये साधनों का परिचय हुआ जब देवताओं को पूर्णतया मनुष्य रूप में मान लिया गया तो मूर्तिपूजा लोकप्रिय हो गयी । मूर्ति की प्रतिमा, प्रतिविम्ब, प्रतिमान, प्रतिपातना, प्रतिष्ठाया, प्रतिकृति, अर्थात् तथा प्रतिभिधि कहते थे ।^२ मूर्तियों को मण्डिरों में, जिन्हें 'मिन्दिर',^३ देवतापवन,^४ देवालय^५ आदि कहते थे, रखा जाता था । मण्डिर के पुजारी को देवल^६ कहते थे और समाज में उनका स्थान ऊँचा न था । इससे पता चलता है कि जब भी समाज में वैदिक कर्मकाण्डों का पक्ष प्रबल था और मूर्तिपूजा को हीन दृष्टि से देखा जाता था । पवित्र स्थाओं की धर्मयात्रा तथा पवित्र नदियों में स्नान धर्म का सामान्य रूप हो गया था । ब्राह्मणों का अत्यन्त आदर होता था तथा उन्हें दान देना पुण्यकारक समझा जाता था^७ । गावें पूजा तथा आदर का पात्र बन गयी थी । वैसे प्रति के बचाने के लिए कोई मूल्य अधिक नहीं समझा जाता था ।^८ शरीरपीडन तथा तपस्या की जिसे वैज, वीर तथा ब्राह्मण धर्मों में पक्ष के ही लोकप्रिय बना दिया था समाज में स्थान प्राप्त था^९ । क्षत्रकाहीन आत्माओं में तपस्या,^{१०} शरीरपीडन^{११} तथा वीरगिक^{१२} साधनों का पक्ष प्रबल होता है ।

१. श्रुती १, २; १३०; कुमारसम्भव, चक्रवर्त्तक ।

२. यही ।

३. अमरकोश १, १, १५, १६; २६ ।

४. विष्णुत ।

५. १३५४ ।

६. यही ।

७. अमरकोश १-२० ।

८. मातृविक्रम ५-१ ५ ।

९. १३० १, ४५, ८४, ८५; मातृविक्रम ४ ।

१०. १३० १८, १८-४१ ।

११. यही १, ५६ कुमार ५ ।

१२. यही १५; ४५ ।

१३. यही ।

४. ब्राह्मण सम्प्रदाय

कुछ वैदिक आध्यात्मियों तथा देवताओं के परिवर्तन से ब्राह्मण धर्म में कतिपय सम्प्रदायों को जन्म दिया। उपनिषदों का 'ब्रह्मन्' जिसे परमसत्य तथा ब्रह्माण्ड का आधार समझा जाता था अथवा ब्रह्मा के रूप में परिचित हुआ। विष्णु जो इन्द्रिया का एक रूप समझा जाता था तथा जो अपने कर्मे-कर्मों द्वारा से सम्पूर्ण आकाश को गाय वाकता था तथा जिसका आसुरवान भावों और मनु से पूरित रहता था, वास्तविकता विष्णु बन गया। वैदिक युग का अन्तर्गत एक समय आकर सिव अर्थात् कमलाकाशी बन तथा जिसमें सर्वनात्मक और स्वसात्मक दोनों कर्तों का संयोग था। पहले एक ही सत्य के ब्रह्मा, विष्णु और सिव के तीन स्वकल्प समझे जाते थे। फिर कर्तुं ब्रह्म ब्राह्मण धर्म में त्रिदेवों का रूप धारण किया। किन्तु ई० पूर्वं प्रथम शती में अतों से प्रत्येक का सम्प्रदाय बना तथा उनके सम्प्रदायों ने प्रत्येक की पूर्ण सत्य भाषा और उसे ईश्वर की शक्ति और भावों से सम्पन्न किया।

(१) ब्राह्म सम्प्रदाय

ब्रह्मा के सृजन और अमरत्वोन्मील भावों के कारण उनका एक सम्प्रदाय बन गया अतः यह अधिक लोकप्रिय नहीं था। ब्रह्मा को निम्नलिखित नामों से पुकारा जाता था—

(१) ब्रह्मा,	(८) स्वर्धन्व,	(१५) ब्रह्मा
(२) अपोमित्र,	(९) चतुरात्म	(१६) प्रजापति
(३) सूर्योद्भ,	(१०) आता,	(१७) वैष्ण
(४) परमेष्ठिन्,	(११) अमरपोनि,	(१८) विष्वाका
(५) पितामह,	(१२) मुनि,	(१९) विश्वेश्व
(६) हिरण्यगर्भ	(१३) विश्वि,	(२०) विश्वि
(७) कोकेल	(१४) कमलात्म,	

प्रथम दो नाम उनकी स्वतः कल्पित को व्यक्त करते हैं, इनके बाद के तीन उनकी प्राथमिकता को सूचित करते हैं तथा अन्य उनकी सृजनात्मक शक्ति के प्रतीक हैं। अमरपोनि तथा कमलात्म परीणिष्ठ नाम हैं किन्तु वे धर्म के अन्तर्गत होने वाली सूक्ष्म प्रक्रिया की ओर संकेत करते हैं। कमल

या लक्ष्य जिससे ब्रह्मा की उत्पत्ति की कल्पना की गयी है पुराणों के अनुसार विष्णु की नामि से निकला था । इस सुम्पर पौराणिक कल्पना से प्रकट होता है कि किस प्रकार विष्णु ब्रह्मा की प्राथमिकता को आत्मसाद करते जा रहे थे तथापि ब्रह्मा अपनी सृष्टि और कार्य की अधिक रक्षा किये हुए थे । यह बात कुमारसम्भवे की मिश्रलिखित प्रार्थना से स्पष्ट हो जाता है जिसे देवताओं ने उच्चारित किया था ।

‘त्रिमूर्ति, तुम्हें समझा रहा है, यद्यपि तुम सृष्टि के पहले एक ही रहते हो किन्तु बाद में तीनों गुणों के (सत्य, रज और तम में) विभाज्य हेतु विभक्त होते हो । तीनों शक्तियों से तुम अपनी ही सद्गता का नाम करते हो । प्रलय, विधिति और सृष्टि के तुम्हीं एक कारण हो ।’

किन्तु इसका तो कहना ही होगा कि ब्रह्मा कुछ विचारपरक ही रह गये तथा इनकी वास्तविक पूजा तथा भक्ति के लिए अपनी ही संस्था का पद रखी ।

(२) वैष्णव सम्प्रदाय

विष्णु का सम्प्रदाय ब्रह्मा के सम्प्रदाय से अधिक मजबूत था तथा इसने बहुत दली संख्या में भक्तों को आकृष्ट किया । चतुर्थ सताब्दी ई० पू० में धुबानी राजपूत मेगरथनीय को कृष्ण की सम्प्रभूमि मधुरा में जो वैष्णव धर्म का केन्द्र बना हुआ था, यह सम्प्रदाय दक्षिणोत्तर हुआ था ।^१ यह सम्प्रदाय यहाँ से भारत के अन्य भागों में फैल रहा था । द्वितीय सताब्दी ई० पू० के अन्तिम चरण में विविधा (आधुनिक भिन्नता, सम्प्रदाय) में जो ग्रहण की दूसरी राजधानी भी मानवत धर्म (वैष्णव धर्म) लोकप्रिय धर्म था । बेलनगर के मजबूत-स्तरम अभिलेख से विदित होता है कि वैकाथि-देव वासुदेव का यह सर्वप्रथम लक्षिकार के पद्मन राजा अन्तर्लिकित (दृष्टिआकलित) के राजपूत एवं विज (दिर्भोग) के पुत्र हेक्तिमोहोर,

१. कमलिमूर्ति पुण्य प्रत्यक्षः केवलधर्मः । गुणधर्मविभागाय पञ्चाज्येवमुपेयुः ॥

क्षितिभित्तमवरवाग्निर्महिमानमुदीरयत् प्रकवधितिसर्गात्मिक कारणज्ञा गते ॥

२. ४. ६ ।

२. मेकिङ्क-देवदेव दक्षिणा एक दिक्तरण्य दार्द मेगरथनीय प्रक परियम ५० ४०२ २०२, मन्दाकर, आद० श्री० वैष्णवधर्म, सेविन्न एव आदर दिक्कित सिस्तेस ४, भाग १, ५० १२ २३ ।

जो राजा भागवत की राजसभा में उसके शासन के १४वें वर्ष में आया था, के द्वारा मनवाया गया।^१ विदेशियों का इस सम्प्रदाय में दीक्षित होना इस सम्प्रदाय के जीवन और लोकनिष्ठ होने का प्रमाण है। पश्चिमी भारत में मैन्नाम धर्म के अस्तित्व का प्रमाण सातवाहनों के अभिलेखों से मिल जाता है जो पांचराव ब्रह्म के दो सत्सर्वों ब्राह्मदेव और संकरेण की पूजा का उल्लेख करते हैं।^२

जमरकोट^३ में विष्णु मित्रकलिखित नामों से पुकारे जाते हैं जो हमके विभिन्न कर्णों पर प्रकाश डालते हैं—

(१) विष्णु	(११) अच्युत	(२१) पुरुषोत्तम
(२) तारापण	(१२) तार्तिन्	(२२) दममाकिन्
(३) कृष्ण	(१३) दिव्यसेन	(२३) अलिम्बसिन्
(४) नैकुण्ठ	(१४) जगन्मन	(२४) अक्षराति
(५) मित्राभवत्	(१५) उपेन्द्र	(२५) अयोधन
(६) बामोदर	(१६) इन्द्रावरुण	(२६) दिव्यभद्र
(७) हृषीकेश	(१७) चक्रपाणि	(२७) सौमभक्ति
(८) केशव	(१८) चतुर्भुज	(२८) विष्णु
(९) माधव	(१९) पद्मनाभ	(२९) अधिपत्यवर्धन
(१०) कबन्धु	(२०) मधुविष्णु	(३०) पुष्पाणपुष्प
(११) सैन्धवि	(२१) बालदेव	(३१) अक्षपुष्प
(१२) पुण्डरीकाक्ष	(२२) त्रिविक्रम	(३२) नरकाभक्त
(१३) गोविन्द	(२३) वैष्णवीमन्दन	(३३) अक्षयविन्
(१४) राक्षसघ्न	(२४) श्रीरि	(३४) विश्वरूप
(१५) दीप्ताम्बर	(२५) श्रीपति	(३५) सुकृष्ण
		(३६) सुरमर्षन

उपयुक्त तालिका से पता चलता है कि इस समय तक आते-आते ब्राह्मदेव कृष्ण तथा विष्णु का एकीकरण हो चुका था तथा उन्हें अधिक संख्या में एकेवरमादी, ऐतिहासिक और पौराणिक विशेषणों एवं गुणों से विभूषित किया गया था। काठियावाड़ भी अपने इलाकों में विष्णु का उल्लेख करते हैं।

१. एपि० इपि० भाग २० पृष्ठ ६०० १, जे० एल० वा० ५६, २, ७०-८२।

२. जार्जें, जेम्स, इपि० भाग ५, पृ० ६०, ८१।

३. १, २, ३०-३१।

‘ज्यों ही मैं (वैष्णव) समुद्र के किनारे पहुँचे परमपुरुष विष्णु आग पड़े’^१ तथा स्वर्गवासियों ने उन्हें रोपनाग से बंधे हुए आसन पर विराजमान देखा । उनका लीर इसके किनारे पत्तों की ज्योतिर्पूर्ण मणियों से प्रकाशित था । उनका एक पैर कमलसम भाँसी लक्ष्मी की गोद में पड़ा हुआ था’^२ नादि ।^३

विष्णु के अवतार की भावना तथा विश्वास जन-जन में समा गया था । उसी को कवि निम्नलिखित शब्दों में प्रतिबिम्बित करता है : ‘मैं को दशरथ के पुत्र के रूप में जन्म ले रहा हूँ, मैं दण्डपति में अपने लीखे भागों से इसको कमलजल सिरों का ढेर लगा दूँगा’ ।^४

बहुत बड़ा अद्भुत है कि काकित्वास ने अपने स्वप्नों में कहीं भी विष्णु की पूजा के अस्तित्व का उल्लेख नहीं किया । काकित्वास तथा उसके आचारात्ता का वैयक्तिक धर्म शीत था । विद्विता को विपरीत की वैष्णव धर्म का श्रेष्ठ या उल्लेख (जहाँ अभिप्राय काकित्वास रहे) शीत धर्म का श्रेष्ठ थी । अतएव उसकी भावनाओं और उनका वातावरण वैष्णवोपासना के पक्ष में न थे । तथापि विष्णु के अवतारों में राम काकित्वास को अच्छे करो । उन्होंने राम के कुछ छोटी अपने महाकाव्य का विषय बनाकर बृहत् काल को रच कर दिया है । यद्यपि राम विष्णु के अवतार मान किये गये थे तथापि अभी रामोपासना सम्प्रदाय का आरम्भ नहीं हुआ था । इसके स्थान पर उपासना का प्रचलित सम्प्रदाय कृष्ण-वासुदेव का था जिनके विषय में सम्भवतः काकित्वास को आशंका की जा सकती नहीं थी । वे विष्णु की उपर्युक्त प्राचीन पौराणिक अवस्थाओं से ही प्रसन्न हो गये तथा विष्णु की वास्तविक पूजा के बारे में अधिक चिन्तित नहीं हुए ।

(३) शौकसम्प्रदाय

इस पुत्र में शिव का सम्प्रदाय बहुत लोकप्रिय था । अतएव^५ ने शिव के निम्नलिखित नाम बताये हैं जिनसे उनके विशिष्ट स्वभावों का परिचय मिलता है :

(१) शम्भु	(५) शूल	(९) ईशान
(२) ईश	(६) महेश्वर	(१०) शंकर
(३) पशुपति	(७) ईश्वर	(११) चन्द्रसेसर
(४) शिव	(८) शर्व	(१२) भूतेश

(१३) कण्ठपरशु	(२५) कपालशुद्ध	(३७) म्बोज
(१४) गौरीश	(२६) कामदेव	(३८) सिपुरास्तक
(१५) गिरिज	(२७) महादेव	(३९) गंगाधर
(१६) मृग	(२८) विक्रवाच	(४०) भगवत्विन्दु
(१७) मृदुलपत्र	(२९) त्रिकोचनः	(४१) मनुष्यसिन्धु
(१८) कृतिदास	(३०) कृताश्रितसू	(४२) सुवभषस
(१९) विनाकिन्	(३१) लवङ्ग	(४३) श्वोमकेत
(२०) प्रमथाधिप	(३२) भूजरी	(४४) भव
(२१) वज्र	(३३) भीकलोहित	(४५) भीम
(२२) कपर्दिन्	(३४) हर	(४६) रघाशु
(२३) शिकण्ड	(३५) समरहर	(४७) राघ
(२४) सिलिकण्ड	(३६) धर्म	(४८) उमापति

शिव के नामों की शक्तिका से वही सरलतापूर्वक यह विचारार्थ निकाला जा सकता है कि वसुधि उनमें भव भी कुछ मनुष्य रूप रह गये थे किन्तु उनके मूल भवकार रूप का उत्पन्न होने परकर्म में रूप हो गया था। वे विध्वंसित थे, किन्तु वे अधिकारता, अपनी शक्तियों का जगत् की प्रसन्नता तथा समाधि के लिए ही प्रयोग करते थे। लगभगत् इसी कारण वे दिनादिना कीकप्रिय होते जा रहे थे। शिव नाम भी इस बात का संकेत करता है कि उनकी पूजा मन्दिर में प्रतिष्ठा बना कर की जाती थी। उनके प्रधान लक्षण कर्पूर^१ या लज्जान्द्र, पिनाक नामक चतुष्प, त्रिशूल, कण्ठपरशु, मुण्डमाका (कपालशुद्ध), इतिचर्म आदि थे। उनका करीर विभूति, भूति या देवत्व से पूरित रहता था।^२ उनके बहुत से परिवर्तनक से जो सामूहिक रूप से समझ कहलाते थे।^३ शिव की पत्नी पार्वती थी जो कात्यायनी, गौरी, काली, हैमवती, ईश्वरी, शिवा, भवानी, वज्रानी, सखी, सर्वमङ्गला, भवार्ता, सुरार्ता, मृदानी, चण्डिका, कण्ठिका, काष्ठी, वाचायनी, गिरिजा आदि नामों से विख्यात थी।^४ उनका आसन महान् सुवर्ण मण्डी था।^५ शिव के पुत्र गणेश तथा स्कन्द भी महत्वपूर्ण देवता हो गये थे और उनके भी संग्रहाय थे।^६

उज्जयिनी क्षेत्र धर्म का एक प्रसिद्ध क्षेत्र थी। इस युग के महान् कवि

१. लज्जान्द्र २।१।१६, १२-१४

२. वही २२, ३८।

३. वही २२, ४८-४०

४. वही २।२, २७।

५. वही, २३, ४२

६. वही २, २, ४७-४८

काष्ठिवास ने, जो ठगमिनी में रहा करते थे तथा शिवका व्यक्तिगत धर्म लैब था, अपने मेघदूत का पत्र भेज दिया है और उसे एविन बगरी जलमिनी का अवलोकन करने और महाकाक की पूजा में सम्मिलित होने का आदेश दिया है : 'मेघ ! (संख्या के अतिरिक्त) किसी भी सम्मत् तुम महाकाक पहुँच कर सूर्यास्त तक रुके रहना । जब शिव की संघापूजा सम्पन्न हो जायगी तब तुम अपने गर्जनों का उपहार बढ़ाते हुए उनका पूर्ण काम पाओगे ।' मध्यकालीन जैन केवकों ने भी बारबार इस परम्परा का उल्लेख किया है कि विक्रमादित्य के पिता गर्वभिन्न लैब थे और विक्रमादित्य स्वयं जैन साधु द्वारा जैन बना दिव जाने के पूर्वतन उसी धर्म को मानते रहे ।^१ लैब धर्म की लोकप्रियता अन्य अग्रगण्य प्रमाणी से भी सिद्ध होती है कदाभग इसी समय काट (दक्षिणी गुजरात में) ककुलीन ने पाशुपत धर्म चलाया था और वह समीपवर्ती प्रदेशों में फैल रहा था । विक्रमादित्य के काट के भोवे ही समय पक्षेष्ट प्रथम कताव्ही इसवी में लैब धर्म की स्थापकता अधिक संख्या में प्राप्त कुकण सिकों से सिद्ध होती है जिनपर शिव की प्रतिमा उनके कवनों के नाम अंकित हुई है ।^२

काष्ठिवास द्वारा प्रस्तुत शिव का स्वरूप सर्वोत्तरवादी है : सम्पूर्ण शिव ही जो कुल भी है वह सभी स्वयं शिव है । शिव ही सबका कारण है और निम्न-निम्न कवों में अपने को व्यक्त करता है—'ईश (शिव) तुम पर प्रसन्न होकर आठ श्वक कवों से तुम्हारी रक्षा करें—जल जो लहर की प्रथम लुहि है, अग्नि जो देवताओं को ही हुई आहुति प्रदान करती है, होता, सूर्य और चन्द्र जो समय का निर्णय करते हैं, शम्भु जो जल्य का निधन है और जो महापद में व्याप्त है दूसरी जो सम्पूर्ण प्राणियों के बीज वपन का आधार है तथा वायु जिसके कारण प्राणी जीवित रहते हैं' ।^३

५. जैन धर्म

प्रथम शती ई० पू० में जैनधर्म का इतिहास सुँधला तथा अभिलिखित है

१ अन्धवदिसम्पन्नं महाकाकमात्रां काके

स्वाधर्म्यं ते नदमविषयं वाचयसेति भासुः ।

कुर्वन्तन्वादिष्यन्तुतां शुक्तिं कावनीया-

मात्रानां कलसविषयं कल्पते तन्निदानम् ॥ मेघ० १. ३८ ।

२ एवमेवेति—जैन निबन्ध ।

३ क्वी० जे० मार० प० पृ०, २१०७ पृ० ४१९ ।

४. जयिधानाकुन्तल १-१

किन्तु जगन्नाथ देव कलापरी पूर्व परवर्ती मूर्तों के सबसे महान् साक्षक सम्प्रति के साक्षकका में जैन धर्म ने पर्वोत् उत्पत्ति की। सम्प्रति की राजधानी जगन्नाथी जैनधर्म-सम्प्रदायी धर्मों का केन्द्र थी। ऐसा प्रतीत होता है कि लोगों ने जो वैदिक धर्म के संरक्षक थे अपनी दूसरी राजधानी बिहिना से जगन्नाथ के धार्मिक सम्प्रदाय को खोला होकर दिया था। तथापि सभी धर्म्य साधनों से स्पष्ट हो जाता है कि जैनधर्म उत्तरी भारत में बना रहा तथा कम से कम मधुरा, जगन्नाथ, सुराष्ट्र और जड़िया में इसने पर्वोत् उत्पत्ति की। मधुरा में प्राप्त कुछ पुरातात्विक (मूर्तिसम्प्रदायी और आभिलेखिक) अवशेष जो इसी काल के बताये गये हैं वह स्पष्ट कर देते हैं कि यहाँ जैन धर्म का अन्तर्गत प्रचार था।^१ जड़िया में उत्पत्ति की मुक्तियों की मूर्तियों की जो इसी काल की हैं इसके इस भाग में जैन धर्म के वर्तमान होने का प्रमाण देती हैं।^२ जैन सिम्बल भी कुछ ऐसी परम्पराओं का उल्लेख करते हैं जो प्रथम कलापरी ई० में सुराष्ट्र के साथ जैनधर्म का निकट संबंध कोट देती हैं। प्रसिद्ध जैनसाधु काककाचार्य ने सुराष्ट्र तथा जगन्नाथ में परिचय दिया तथा जनता को जैन धर्म सिखाया।^३ कुछ जैनग्रन्थ विक्रमादित्य का जैनधर्म में उद्धित होना मानते हैं: 'तब जगन्नाथी में सिद्धसेन विद्याकर ने महाकाक के सिद्ध को मुक्तकर पार्थसारथी की मूर्ति का निर्माण कराकर विक्रमादित्य को स्नान कराया।'^४ पहले काले हुए सभी अमान यह स्पष्ट करते हैं कि विक्रमादित्य के युग में जैनधर्म प्रगल्भा तथा विभागीय धर्म का तथा यह अन्त-जीवन को अभिविष्ट कर रहा था।

जैनधर्म के साधकों में विभक्त होने की प्रक्रिया भी इस काल में चल रही थी। जैनधर्म-वक्तव्यों में एक शीर्षकालीन मतभेद भी था। मतभेद का मुख्य विषय यह था कि जैनधर्म के साधु ब्रह्म धारण कर सकते हैं या नहीं अन्तर्लोगिक ने दोनों बातें जैनधर्म के सम्प्रदायों में विभक्त हो गये। प्रथम को चेतनवर (चेतनवर धारण करनेवाला) और द्वितीय को विगम्बर (जो विलासों को ही अपना ब्रह्म समझता है—सभी वस्तुओं का स्नान करने वाला) सम्बन्ध कहते थे। वस्तु के समाप्त ही मतभेद का यह भी

१ ई० ई० भाग १० परिशिष्ट, पृ० १-१५६

२ जी० ई० हिमच—'दिल्ली-काक काहल मार्टिन दन इंडिया एन्ड सोनीव' पृ० ८४

३ प्रयागकरित, ४

४ पद्मावति समुच्चय पृ० ५९-६९६।

एक विषय था कि क्षिपों को संन्यासी होने की अनुमति दी जाए या नहीं और क्या वे भयंकर से सम्पन्न-मुक्त हो सकती हैं या नहीं ? खेताम्बर सम्प्रदाय उन्हें भिक्षुजी बनने की अनुमति देता था तथा उन्हें मुक्ति का अधिकारी समझता था किन्तु खेताम्बर सम्प्रदाय क्षिपों का संन्यासी होना अब भी अस्वीकार करता था और इस मान्यता को धारण करता था कि अपने कर्मों के फलस्वरूप पुण्यजीवन प्राप्त करने के पश्चात् ही उन्हें मुक्ति मिल सकती है। सुराह में खेताम्बर सम्प्रदाय अन्धी तरह संगठित था। जैनग्रन्थ महाकवचरित^१ से हमें पता चलता है कि काठकाचार्य तथा उसकी सहिन सारस्वती दोनों साधु हो गये थे तथा उन्होंने मध्यभारत तथा सुराह का परिभ्रमण किया था। मोटे तौर पर विन्ध्य-शृङ्खला के उत्तर खेताम्बर तथा दक्षिण में विशेष रूप से कच्छ तथा प्रायिक प्रदेशों में खेताम्बर सम्प्रदाय पाया जाता था।

जैनो के धार्मिक आचार्यों के सम्बन्ध में, मधुरा से प्राप्त अभिलेख, निम्नलिखित विषय ज्ञातव्य हैं^२ बताई जाती है। यह प्रकाश फाकते हैं कि वे मगधियों में अपने शीर्षकों की मूर्तियों की पूजा करते थे और उनमें एक मिश्रित पूजाविधि का विकास हो चुका था जोशों की तरह जैन भी भूय बनकाते तथा वहाँ पूजा करते थे।^३ उनके संस्मरणानुसार स्वयं भी थे।^४ तथापि हम लोगों के पास पर्याप्त सामग्री नहीं है तथापि मधुरा के अवलोकन पर से यह बताते हैं कि जैनो में भक्ति सम्प्रदाय लोकप्रिय हो रहा था तथा वे अपने शीर्षकों के बारे में अतीव भाव के साथ विचार करते थे।

६. बौद्ध धर्म

जैनो सुभारवारी धर्मों में से बौद्धधर्म जैनधर्म की अपेक्षा अधिक आकर्षक, आध्यात्मिक तथा लोकप्रिय था। जलोच के आश्रय में बहू पहले ही सत्पूर्ण भारतवर्ष में फैल गया था। विदेशों में भी इसका प्रचार हुआ था। जलोच के काठ से सत्ताह के व्यक्तिगत प्रभाव के कारण उज्जयिनी तथा विदिशा दोनों बौद्धधर्म के अन्धे केन्द्र थे। बहू स्वर्ण उज्जयिनी में तथा उसकी समुक्त राजा वेदी विदिशा में रहती थी। बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार देवी धर्मात्मा बौद्धधर्माधिकारणी थी और विशेष रूप से विदिशागिरि (विदिशा)

१ अथर्व ४ २, टी० ५० सिन्धु "विहारी आनन्द पाण्डव कार्त्तिक" पृष्ठ ८२-८४

३ वही

के निकट बनाये हुए सुम्पर विहार में रहती थी और उसने अपने पुत्र महेन्द्र का जो सिंह नामेवाके बौद्ध धर्म प्रचारक-अम्बरक का अधरक बनाया गया था, वहीं पर स्थापित किया था।^१ बी० ए० स्मिथ^२ के मतानुसार यह अधिक संभव है कि यह विहार सर्वो में बनाया गया था जहाँ विहारों तथा स्तूपों के अवशेष अब भी पाये जाते हैं। हमों के साक्ष्यकाक में वैदिक धर्म के पुनरुत्थान से बौद्धधर्म को चौंकाहोक कर दिया तथा बौद्धधर्म को विभिन्न स्थानों में दृढ़ता पड़ा। प्रथम सती ई० पूर्व में अभिलेखात्मक साक्ष्य स्पष्ट निर्देश करते हैं कि बोधगया, कारनाथ, भरहुत और सर्वो आदि क्षेत्रों में बौद्धधर्म अभी भी प्रचलित था।^३ पश्चिमी भारत के अनामिकाक्षीन अभिलेख भी यह प्रदर्शित करते हैं कि देश के एक भाग में भी बौद्धधर्म का प्रचार था।^४

बौद्धधर्म में इस समय तक भिन्न-भिन्न धार्मिक विचारधाराओं विकसित हो ली थी यद्यपि हमों विभिन्न जगहों का विकास नहीं हुआ था। इस विचारधाराओं में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं

(१) स्वविराजः । इस विचारधारा के माननेवाले स्वविरों तथा भगवान् बुद्ध के एक उपदेशों का अनुसरण करते थे। उनका विरवाक था कि सभी प्राण वस्तुओं का केवल गोचर अस्तित्व है तथा उनका ज्ञान अनुमान से होता है। स्वविर उसरी भारत तथा सिंह में अधिक संख्या में पाये जाते थे। सांनान्तिक स्वविरवादिनों की एक शाखा थे।

(२) स्वविराजः । इस सम्प्रदाय की यह धारणा थी कि सभी वस्तुओं का स्वतन्त्र अस्तित्व है तथा वे अनुमान के विषय नहीं, "स्वविरवादी दर्शन × × × इत्य का आधुनिक सिद्धान्त है जिसमें अव्यवहित प्रत्यक्ष के सिद्धान्त का सिद्धांत है।" इस सिद्धान्त के माननेवाले व्यक्ति कभी भी पाये जाते थे और कहीं से वे भारत के अन्य भागों तथा विदेशों में चले।

(३) महातत्त्विक । इस विचारधारा के माननेवालों का यह कहना था कि भिन्न ही सत्य है तथा प्राण वस्तुओं का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है प्रामुख्य से विचारमात्र है। उन्होंने बुद्ध के माननीय व्यक्ति के माननेतर व्यक्ति में परिवर्तित करने की प्रक्रिया प्रारम्भ कर ली तथा उनकी समता पूर्व बुद्धों से की। इस विचारधारा के अन्य महावस्तु में बुद्ध का

१ दीर्घसूत्र ७

२. मञ्जुस (द्वितीय संस्करण) पृ० २१५

३ सुवर्ण सिंह नाम राष्ट्रीय अभिलेखालय, पश्चिम-बिन्दु भाग २०।

४. वही।

इस प्रकार विश्रम दिया गया है 'बुद्ध मानवेतर हैं, न उन्हें मृत्यु लगती है न प्यास। वे लौकिक इच्छाओं से अन्तर्हित रहते हैं। उनकी परमा की कौमार्य मज्ज नहीं होता। केवल मानवता के हित के लिए जिससे संसार के व्यवहारों की सर्वाङ्ग की रक्षा हो वे समुज्व की तरह व्यवहार करते हैं। इससे मनुष्यों को सिद्धान्तम हो जाता है। पारिभाषिक रूप से वे लोकोत्तर हैं अर्थात् वे संसार से परे हैं।' इस विचारधारा के केन्द्र उत्तरी पश्चिमी भारत तथा मध्य एशिया में थे।

बौद्धधर्म के विचार तथा अस्तित्व का उपलब्ध संस्कृत के ग्रन्थों में भी हुआ है। स्वर्ण बौद्ध अमरसिंह ने अपने कोश^१ में बुद्ध के निम्नलिखित नाम दिये हैं:

(१) सर्वज्ञ	(७) अगम्य	(१३) अद्भुतवाही
(२) सुगत	(८) सारजित	(१४) विनायक
(३) बुद्ध	(९) लोकहित	(१५) सुनीम्न
(४) धर्मराज	(१०) विम	(१६) जीवन्
(५) सभागत	(११) चरमिन्	(१७) सास्ता
(६) समन्वयज्ञ	(१२) इक्षवक	(१८) सुनि

बुद्ध के ७ नाम और पांच जाते हैं—(१) सावर्षसिंह (२) सर्वापेक्षि (३) सौमोदिति (४) गौतम (५) अर्कवन्द्य (६) मायादेवी-सुत तथा (७) शाक्यसुनि।^२ इनमें से बहुत से नाम बौद्धधर्म में महासांघिक पद्धतियों की ओर संकेत करते हैं जिसमें बुद्ध की मानवेतर व्यक्तिता से विद्वेषित किया गया है। अमरसिंह भी बोधिपुत्र (बोधिवृक्ष) तथा पद्मका (२७) का उल्लेख करता है।^३ कालिदास निम्नलिखित शब्दों में विभाग की धारणा का उल्लेख करते हैं 'बद्ध (वसन्त) मित्रोंने समस्त इन्द्रिय-सुखों को भोग लिया था और जो विमोदिन जीवन् का हास होने से निर्वाण के समीप पहुँच रहे थे उस दीपक के समान थे जो मरुत्त में लौक्य समाप्त हो जाने पर बुझने (निर्वाण) लगता है।'^४ यहाँ हम श्रुते हुए दीपक के दृष्टान्त से निर्वाण की

१. अमरकोश १-१, ११-१४।

२. बौद्ध १-१, १४-१५।

३. बौद्ध २-४-१०, ५, ६-४

४. निरिष्टविषयानेष्टः स दशान्तमुपेक्षितः।

काशीदासप्रतिभाषा: प्रदीपान्तिबोधिसि मरुत्त १२-२

ध्यायना करते हैं। सोमदेव विक्रमादित्य के पिता महेन्द्रादित्य के धाम की प्रशंसा करते हुए बीहों के नास्तिक विश्वास का भी उल्लेख करते हैं।^१

पुनः की आस्तिक प्रवृत्तियों के सम्पर्क से साहजिक तथा जैतधर्म की तरह बौद्धधर्म भी अतिपूर्ण हो गया तथा इसकी पूजा का केन्द्र पुनः पुनः स्वरूप के प्रतीक धर्म को शुन्दर-सुन्दर आदर्श-मिदलों से सुशोभित थे। उनकी वैदिकानों और तोरणों में पुनः के जीवन के विभिन्न विषय वस्तुवित्त थे। इनमें भागवान् बुद्ध के जीवन से सम्बद्ध प्रतीकों, कथनों तथा वस्तुओं का अंकन था। इस पुनः के सबसे महत्त्वपूर्ण स्वरूप बोधगया, भरहुत, खोंची तथा अमरावती में थे।^२ बौद्ध भक्तियों के चारों ओर प्रवृत्ति-पथ पर बड़े आकर्षक रंग काटते हुए प्रवृत्ति करते थे। सम्प्रदाय में पूजा के विभिन्न पुनः की प्रतिमा अभी नहीं बनी थी किन्तु वैदिकानों और तोरणों पर बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित स्वरूप तथा प्रतीकों के अंकन ने इसके किये पुनःभूमि तैयार कर दी थी तथा इसके बाद की कलाकृति में भारतीय धूलानी कला के केन्द्र गम्भार में बुद्ध की प्रथम प्रतिमा गढ़ी गयी। वैदिकानों बीहों के धार्मिक कार्यों में बर्तमानों की भाषा प्रमुख वस्तु हो गयी थी तथा धाम और सिद्धा का अतिशय व्यवहार था। बीह साधुओं ने पुनः की सांस्कृतिक प्रवृत्तियों के सम्पर्क में रहने की आवश्यकता का अनुभव किया जिससे वे जनता का विश्वास प्राप्त कर सकें तथा उन्हें प्रभावित भी कर सकें। यह प्रवृत्ति बीहों के हीनमान तथा पञ्चात्माकील महापान, जो साहजिक धर्म के अधिक निकट पहुँच गया था, के जीवन के स्तर का प्रतिनिधित्व करती है।

७. विक्रमादित्य का व्यक्तिगत धर्म

अपने समुच्चरत तथा विस्तृत संस्कार, व्यापक उदारता तथा धार्मिक सहिष्णुता के कारण विक्रमादित्य को विभिन्न समन्वयों ने अपना सहधर्म प्रोपित किया।^३ बृहत्कथामंजरी^४ के लेखक ने उन परिस्थितियों का वर्णन किया है जिनमें विक्रमादित्य का जन्म हुआ था। उनकी उत्पत्ति, उनके माता-पिता, उनकी जीवन सभी सौवधर्म से अत्यधिक प्रभावित थे—'पुनः के नेतृत्व में देवता-गण कैलास शिखर पर स्थित शिव के पास पहुँचे और कहा कि

१. आसुरिस्तावर १८-१-५०

२. श्री० ए० शिवः : हिंदी भाषा काव्ये आर्गेस पु० १५-८१, ८६, ८८।

३. १०-१०-१२।

‘दे देव ! त्विमे के पुत्रों भक्तों ने जो कायके द्वारा पहले मह किमे पाये थे, ओषधों के रूप में पुनः कृष्ण किया है’ × × × । भगवान् शिव ने देवताओं की चार्तवाणी को सुनकर अपने गण साकम्पल को चुन्नी का भाग उतारने की आज्ञा दी × × × । शिव की आज्ञानुसार × × × उसने उग्रविनी के सैन्यशाही सहायक महेन्द्रादित्य के पुत्र के रूप में अवतार लिया । उग्रविनी मंदर को ये सब चरमार्थ पहले ही स्वप्न में दिता दी गयी थी । ‘कथासहितसागर विक्रमादित्य के सौम्यतावकाश होने का स्पष्ट वर्णन करता है—‘अचर्या में उग्रविनी नाम से प्रसिद्ध शिव की मगरी थी । × × × इसमें महेन्द्रादित्य नामक एक मिश्रविजेता राजा रहता था । × × × राजा शिव की प्रसन्न करते हुए अपने राज्य में राज्य करता था । × × × उस समय शिव शर्वरी के साथ कैलाश पर थे × × × । सभी देवता हृन् के नेतृत्व में ओषधों को वीक्षित होकर उनके पास आये × × × देवताओं द्वारा प्रार्थना किये जाने पर शिव ने उनसे कहा—‘आओ इस सम्बन्ध में चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं है विधिमत हो जाओ × × × । इतना कहने के पश्चात् शिव ने उन्हें उनके वायव्यार्थों को भेज दिया । × × × तथा उनके चले जाने के पश्चात् पश्चिम × × × साकम्पल नामक गण को आज्ञा दी—‘वास ! मनुष्य रूप में चुन्नी पर उतरो तथा महेन्द्रादित्य के वीर पुत्र के रूप में काम को ।’

आज्ञाप्रदों में आई स्थानों पर विक्रमादित्य को वीर तथा वीर धर्म का आभयवाता कहा गया है ।

दूसरी ओर जैनग्रन्थ विक्रमादित्य का जैनधर्म में वीक्षित होना वर्णन करते हैं, यद्यपि वे यह स्वीकार करते हैं कि अपने प्रारम्भिक जीवन में वे सौम्यतावकाशी थे उनके धर्मपरिवर्तन की कहानी विक्रमचरित (विक्रम दत्तचरित) हज्जरत द्वारा कल्पित ए०० ए०० भाग २६, पृष्ठ २५१—२५५) के आधार पर लीये दी जाती है ।

‘साम्प्रति जब विक्रमादित्य अपने राज में शासन कर रहे थे, एक बार की बात है कि विद्यावर जाति में एक स्त्री (कार्मिक अध्यापक तथा सप्त चित्तवतः सैनिकों की उपाधि) का जिसे धातुरणीय बुद्धबादिन् कहते थे । वह क्षमाभित अध्यापक स्त्रीक का शिष्य और स्त्री पादक्षित, अस्तने काम्यकुञ्ज के ६००००० लोगों के शासक सकण्ड का धर्मपरिवर्तन किया था, का वंशज था । उसका एक मित्र सिद्धसेन दिवाकर जो सर्वशत्रुत्र नाम से प्रसिद्ध था बूमते-बूमते अचन्ती की उपासक-भूमि में आया । [५]

भीर कब सूरि सिद्धसेन आया तथा उसके समुक्त सर्वशुभ की प्रशस्ति उच्चरित की गयी, विक्रमादित्य ने जो विहारार्थ बाहर गये हुए थे उसे देखा । उसकी परीक्षा लेने के लिए उन्होंने उसका सामान-अभिवादन किया । तब सूरि ने अपना हाथ उठाया और आशीर्वाद दिया । राजा ने कहा जब हमने अभिवादन नहीं किया तब आपने हमें यह आशीर्वाद क्यों दिया ? कब मिलने पर यह फलदायक होगा ? सूरि ने कहा यह उसे दिया गया है जिसने अभिवादन किया है । तुम हमारा आदर करने में लगे नहीं हो । किन्तु मरितान्तक सर्वदा उच्च होता है इसलिए हमारी सर्वशुभा की परीक्षा लेने के लिए हमने हमें सामासिक अभिवादन किया है । तब राजा प्रसन्न होकर हाथी की पीठ पर से नीचे उतरे, उनका स्वागत किया और उनके लिए एक करोड़ स्वर्ण-मुद्रार्थे कहे । सूरि ने मोमहीनता के कारण उन्हें स्वीकार नहीं किया और न विक्रमादित्य ही वापस ले लेंगे क्योंकि उन्हें एक बार दे दिया गया था । अतः सूरि की आज्ञा के अनुसार इसे अलग-बेरोच मण्डिरों के पुनरुद्धार में लगाया गया और राजा की केशपुत्रिका में यह लिखा गया :

(१) 'बाहु उठाकर दूर से ही आशीर्वाद देने पर राजा ने सूरि सिद्धसेन को एक करोड़ दिया '

तब राजा अपने आसोद-प्रसोद में डग गये किन्तु सूरि ने तब में बड़े ठाढ़-बाद से प्रवेश किया । इस समय अवगती के विषय समुदाय ने कहा, 'अभयम् । नहीं महाकाक का मण्डिर है, 'जिन' की पवित्र मुर्ति हुआ ही गयी है और आइनों द्वारा राजा की आज्ञा से सिवकिंग स्थापित कर दिया गया है । अतएव बाद कोई उपाय करें ।'

×

×

×

इस बाद यहाँ की सुनकर राजा विक्रमादित्य अपने सिंहासन से उठ लगे हुए तथा सिसिद्धसेन का अभिवादन करके बोले, 'भगवन् ! आपकी स्वर्ग की आर्यें दिवाओं का वासकत्व प्रदान करता हूँ ।' तब सदाभा सूरि ने कहा, 'राजन् ! इस भवर्षिओं के लिए वासकत्व क्या है ? हम लोग घास के तिनके, मणि, मिट्टी के बड़े तथा सोने के टुकड़े में कोई अन्तर नहीं मानते, जो मैं करना चाहता हूँ वह तुम्हारा भर्म परिवर्तित करना है । तुम्हारा भन लेना नहीं ।'

'यह सुनकर राजा के मन में बड़ा आनन्द हुआ । उन्होंने सूरि को अपने दाहिने तरफ सिंहासन पर बैठा दिया तब ने स्वयं सिंहासन पर बैठे ।

इस प्रकार चारों प्रकार के ज्ञान (चर्म, जर्म, काम और मोक्ष का ज्ञान मानवीय दृष्टियों के चार स्तम्भ हैं) के पवित्र मार्गकाय में दिन करने लगे ।

एक समय राजा ने कहा, 'अहोय ! आपको देवाधिपति महादेव का भित्तिका दीवता और धामध संघी सम्मान करते हैं तथा जो महाकाय मन्दिर में विशाजमान हैं अवश्य आहर करना चाहिये ।' तब सूरि ने कहा—'यदि मैं उन्हें बमस्कार करूँगा तो उनका छिद्र टूट जायगा और वे भस्मस्र हो जायेंगे ।' तब राजा ने कहा, 'किन्तु न करिये याव बमस्कार करिये ।' उसने कहा, 'अच्छा सुनो ।' तब पञ्चासन मुद्रा में बैठकर वे बलीही (बग्गना के श्लोक) से इस प्रकार दीवता की बग्गना करने लगे ।

(१) 'मिं एवमंभू लहकनेच, सर्वेभ्यः, विभक्तयः, अचक्षः, अम्यक्तः, अवाधितः (मुक्तः) की स्तुति करता हूँ (मिं उसकी बग्गना करता हूँ) जो सारे संसार में व्यक्त आदि, मम्य तथा अम्य से इदित और जो सर्व-भस्म से घरे है '

प्रथम श्लोक के उच्चारण पर ही किन्न से एक दूसरतन्त्र भित्तिका तब कोटी ने कहा, 'मनु ब्रह्म अपने स्तुतिव मेघ से साधु को भस्म करने आ रहे हैं ।' तब एक भित्तिका की तरह की उद्योति बाहर भित्तिका १-अनन्तर मधु पार्श्वनाथ (१६वें तीर्थंकर अथवा जिन) की मूर्ति बाहर भित्तिका । तब राजा ने पूछा 'मधु ! इस कीर्ति यह क्या बमस्कार ऐसा रहे हैं ? यह बाहर भित्तिका हुआ दीवता कीर्ति है ?' तब सिद्धसेन ने कहा 'प्राचीनकाय में अवन्ती नगर में भेदिनी भद्रा का भवन्तिसुकुमार (= अकम्भीकुमार ब्रह्मण्य पृष्ठ ११, अथ) था जो साकिभद्र के समान ११ पक्षियों के जातिगन का कुल लड़ता था एक बार जब उसने सूरि सुहस्तिन के मुक्त की नकिनी गुणम विमान (एक जैनग्रंथ) सुना तो उसे अपने पूर्वजन्मों की स्तुति हो आयी और रात होते-होते उसने जैनधर्म ग्रहण कर लिया । चूँकि उसका सम्बन्ध दमस्तान की एक मजाडी से था जो पूर्वजन्म में उसकी पत्नी १६ पुत्री थी, इसलिये उसकी सूरतु हो गयी और उसे नकिनीगुणमविमान उपकल्प हुआ उसने पुत्र ने उस स्थान पर महाकाय के मन्दिर का निर्माण कराया जहाँ उसके पिता की सूरतु हुई थी । समय पाकर ब्राह्मणों ने उस पर अधिकार कर लिया और वहाँ शिवकिंग स्थापित कर दिया गया । जब मधु पार्श्वनाथ ने मेरी धाम्ना से वसन्त होकर अपना स्वरूप प्रकट किया है । इसे सुनकर राजा ने अपनी एक ब्राह्म से उस दीवता को एक हजार गाँव प्रदान किये

और पूर्ण एवं नियमित रूप से अपने गुरु के सन्निकट (जैन-धर्म के) हाइल संकल्प लिये और अपने धार्मिक गुरु श्रीसिद्धसेन की प्रशंसा की ।

जैनकथा की रचना बहुत बाद में की गयी है तथा यह सांवायिक पंचपात से अतिरंजित है । सूमस्तम्भ का जन्म तथा महाशक्तिेश्वर की मतिमा का दूट जाना केवल कल्पना मात्र है जो सौंदर्य के प्रति, जिसने अव्यक्ती में जैनधर्म को समाप्तरित कर दिया था, जैनसंस्कृति के स्त्रोत्र को व्यक्त करती है ।

यह सत्य प्रतीत होता है कि जैन साधुओं तथा विद्वानों का विश्वासविषय के सातमनाल में अचरनी में अत्यधिक आदर होता था और विश्वमादिष के वैयक्तिक जीवन पर उनका पर्याप्त प्रभाव था, भारतीय इतिहास में यह अक्षेप उदाहरण नहीं है । सिद्धांततः प्राचीन भारतीय सातक विचारणीक तथा अपने से इतर धर्मों के प्रति अत्यन्त उदार थे, जिनमें भारतीय संस्कृति पर आधारित समान तथ्यों का सन्निवेश था । सभी प्रायः साधुओं के यह स्पष्ट ज्ञान पड़ता है कि विश्वमादित्व का पैदल तथा व्यक्तित्व धर्म लैव का, उन पर जैनधर्म का भी प्रभाव था तथा उसे जगहों में आश्रय प्रदान किया । उनका भीराव एवं दान सभी धर्मों के लिए खुला था जो उनका आश्रय चाहते थे ।



एकादश अध्याय

भाषा और साहित्य

१. भाषा

जन्म देवी की भेंटि भारतवर्ष के भी दीर्घकालीन इतिहास में सर्वदा एक ही भाषा के दो रूप प्रचलित रहे हैं एक साहित्यिक या सुधरा हुआ रूप जो 'संस्कृत' के नाम से अनिहित होता था और दूसरा जो लोक में प्रचलित तथा लोकियों के सम्बन्धित रूप जिसे प्राकृत (मातृभाषा) या अपभ्रंश कहा गया है संस्कृत (प्राचीन अवस्था वैदिक) के साथ ही साथ भाषा का यह दूसरा रूप भी अनवरत प्रचलित रहा होगा । किन्तु एँवहीं शाताब्दी के पूर्व इसका व्यवहार साहित्यिक तथा संस्कारात्मक कार्यों के लिए नहीं हुआ था । और तथा बौद्ध धर्म, सुधारवादी, धर्म के रूप में उठ खड़े हुए थे । इन्होंने वैदिक यहाँ एवं संस्कृत भाषा के बिकर एक प्रतिक्रिया पैदा कर दी थी । जनता तथा पण्डितों का प्रयास किया था । इसके उद्देश के पत्राद् प्राकृत अथवा लोकप्रचलित भाषा में महत्त्व प्राप्त किया । इसका प्रचार कोलाहाल के माध्यम के रूप में किया गया । अशोक तथा अशम्वर-काशीन सीवर्ग मरैसों के समय प्राकि से जो उन्नत युग की प्राकृत भाषा की राजाधन प्राप्त करके पर्याप्त उन्नति की । तथापि संस्कृत अभी प्रसिद्ध नहीं हुई और न इसका व्यवहार ही बन्द हुआ १०० ई० पू० से लेकर १०० ई० पू० तक के काल में अधिकतर सूत्रसाहित्य की रचना हुई । संस्कृत में लिखित कीटिनीय अर्थशास्त्र की भी रचना प्रथम सीवर्ग सम्राट् चन्द्रगुप्त के राजाधन से हुई थी ।

उसी काल में रामायण तथा महाभारत के भी कुछ भाग लिखे गये । इस काल के अन्त में पल्लवर्षि ने प्राकि की अज्ञातवादी पर आप्त किया ।

२. भारतवर्ष का काल सूर्यशास्त्री अभिलेख विमर्शना मन्त्र-अधिकार है जिसमें भगवान् बुद्ध की जन्म-मरण के समयवर्ष का वर्णन है इसकी तिथि ई० पू० ५५५ से लेकर मानी जा सकती है ।

(जे० आर० ए० एल० १८९८ पृ० ३८७ के आगे)

इस प्रकार स्पष्ट है कि जन लोगों ने जो ब्राह्मण धर्म और संस्कृत में विश्वास करते थे तथा जिसकी सहायता बड़ी थी संस्कृत की ही अभिव्यक्ति का साधन बनाया। दुर्भाग्य के जाने पर राजाधन्य पाकि से दृढ़कर पुनः संस्कृत को प्राप्त हुआ। प्राकृत के प्रचार के कारण तथा विदेशियों से अपेक्षाकृत अधिक प्रभाव होने के कारण संस्कृत को तीन सताब्दियों तक प्राकृत के साथ समर्थ करना पड़ा। तब संस्कृत के अग्रिम विकास के लिए मुख्य बाधावरण प्राप्त हुआ और वह परिमार्जित तथा अभिव्यक्ति का ऐसा अच्छा साधन हो गयी कि बौद्ध व जैन धर्मकों ने प्राकृत की अपेक्षा इसी को अधिकतम प्रदान करके इसी में कितना आश्रय कर दिया अतः प्रथम साताब्दी ई० पू० में अत्यधिक प्रचलित भाषा संस्कृत थी,^१ यद्यपि प्राकृत का भी सीमित व्यवहार होता था। अमरसिंह ने संस्कृत को निम्नलिखित नामों से अभिहित किया है ^२

(१) वादी (वाद अधवा वेद से उद्भूत)

(२) भारती (भारत की अत्यधिक संस्कृत जाति भरती द्वारा प्रयुक्त और पूर्ण की गयी अथवा भारतीय संस्कृति का अत्यधिक परिपूर्ण साधन)

(३) भाषा (बोधगम्य अभिव्यक्ति)

उन्हीं प्राकृत को भी दो नामों से पुकारा है :

(१) अपभ्रंश :

(२) अपभाषा ।

ये दोनों शब्द लोकप्रिय भाषा के व्यक्तिकृतिक तथा बड़े बड़भाष का निर्देश करते हैं जो जीवन के साधारण कार्यों के लिए प्रयुक्त होती थी। वह सूक्ष्म भाषों की उदात्तरूप में अभिव्यक्ति करने का उत्तम साधन नहीं थी, यद्यपि इसका प्रयोग संस्कृत जादकों में कियों तथा मित्रभोजी के व्यक्तियों ने किया है तथा अथ भी जनसाधारण के लिए समर्थन, दान-पत्र, घोषणा आदि में इसका व्यवहार होता था

२. साहित्य एवं ज्ञान की विभिन्न शाखायें :

इस युग में संक्षिप्त मात्र करनेवाली साहित्य की विभिन्न शाखाओं का लक्ष्य अमरकोश^३ में निम्नलिखित रूप में है

१ कावे ओसाहसाहस्य के न संस्कृतवादिस ५ पररत्नतीकण्ठाभरण

२. अमरकोश २-६-२ ।

३. यद्यपि भी संस्कृत को माया कहते हैं

४ १-६-६ ।

- (१) वेद—जो कृति, आभ्यास तथा त्रयी भागों से सम्मिश्रित होता था ।
 (२) वेदांग—इसमें शिक्षा (सुख उच्चारण का विज्ञान), कल्प (वैदिक यज्ञादि से सम्बन्ध विवरण), निरुक्त, व्याकरण, ऋन्व तथा ओतिय सम्मिश्रित थे ।
 (३) इतिहास अथवा पुरातन
 (४) भाष्योपनिषद् (दर्शनशास्त्र)
 (५) राज्यनीति (राजनीति)
 (६) लक्ष-विद्या (लक्षशास्त्र)
 (७) धर्मशास्त्र^१
 (८) आख्यायिका अथवा उपकथाधर्म
 (९) पुराण (संख्या में १८)
 (१०) प्रबन्ध, कल्पना अथवा कथा (जीवनी)
 (११) स्मृति अथवा धर्मशास्त्र

अन्यकोश में उल्लिखित विषयों से साहित्य तथा ज्ञान की मिश्रकल्पित शाखाएँ प्राप्त होती हैं :

- (१) अध्यात्मविद्या और पौराणिकी (स्वर्णधर्म)^२
 (२) भौतिक भूतल—[ज्योतिषशास्त्र (ज्योतिष की वस्तुओं), दिग्दर्शन (विज्ञान), काष्ठधर्म (समय), भूमिधर्म]^३
 (३) मनोविज्ञान (धीर्धर्म = मानसिक वस्तुओं)
 (४) नाट्यशास्त्र (नाट्यधर्म)^४ संगीत तथा रंगशास्त्र
 (५) चरित्रविद्या (चरित्रधर्म)^५
 (६) वास्तु (पुराणधर्म)^६
 (७) औद्योगिक और औपनिवेशिक (जनौषधिविद्य)^७
 (८) प्राणिजिज्ञाया प्राणिकशास्त्र (सिद्धाविधर्म)^८
 (९) समाजशास्त्र (समुप्यधर्म)^९

साहित्य के ग्रन्थों में साहित्य की उपर्युक्त समस्त सभी शाखाओं का

१. कीटिश्व अर्थशास्त्र में आधुनिक अर्थ में धर्मशास्त्र के लिए वातांश सुख का व्यवहार हुआ है ।

२. १. १-२ ३. १, २, ३ और ४. ४. १, २, ३. ५. १, ५. ६. १, ९

७. १, २०. ८. १, २. ९. १-४, ५-६. १०. १-५. ११. ५-६

उत्प्रेक्ष्य हुआ है। कवि भुक्ति (वेद) तथा क्युति (धर्मसाध) का समुदाय करने का है। प्रतिभेताओं में सर्वश्रेष्ठ शर्मा सुवर्धिका उसके (मन्दिनी गाव के) सुन्दराल से पवित्र भुक्तिका के रूप का इस प्रकार अनुसरण कर रही थी किन प्रकार क्युति भुक्ति का अनुसरण करती है।^१ आरम्भियों के रूप करने के लिए अन्वयव्य का विशेष रूप की उपलब्ध हुआ है 'तब मन के स्वामी ने' 'अन्वयव्य के उस कोश के सम्मुख आनन्द के लक्ष्यों में कहा। जब तक तुम मेरे मानवीय या मानवोत्तर सभी संकल्पों को दूर करने में समर्थ हो तब तक मेरे राज्य के सारों लक्ष्यों में वैभव का आनन्द रहेगा।^२ अन्वयव्य विद्या के भी कितने उल्लेख हैं : 'शिक्षण की मानवजाती होने की सूचना के पाँच छन्द प्रद है रहे थे जो उस समय उस स्थान पर थे और साथ में सूर्य के न होने के फल होने में समर्थ थे।^३ संयोग के अन्त में सूर्य पञ्चमः से अलग हो जाता है' तब विश्व को प्रत्यक्ष सूर्य का ज्ञान होता है।^४ कश्मिका का रूप अवलोक करनेवाले राज्य के उत्प्रेक्ष्य के प्रदण का प्रत्यक्ष प्रिच्छा है।^५ काश्मिका के कीर्तनों के ज्ञान और विद्या का भी प्रकाश की है 'वीथ रोच रहने पर और विधि कुछ प्रमाण अवलोक प्रिच्छा की है।^६ वास्तुविज्ञान जैसे भौतिक विज्ञानों के उल्लेखों की भी कमी नहीं है। काश्मिका के बहुमुख्य भाषाओं के मागी को प्रकृत किया है तथा : मनःशिक्षा (कथ संविद्या)।^७ अन्वयव्य के विकास की व उपलब्धि में दक्षिणा का भी प्रकाश का 'उस मागी के प्रिच्छापूर्वक वेदा ज्ञाना प्रक प्रकाश प्रदण किया जिस प्रकार की विश्व के प्रतिभागत समीप को प्रकट करती है।^८ 'विश्वों वास्तव के अधिक लक्ष्य वाले पर अवलोक-अवलोक का विचार नहीं करती।^९ 'पति तथा पत्नी में अपने विश्वों अवलोकों के कारण प्रकट की प्रेक्ष-प्रकट होगा है वास्तु में प्रकाश।^{१०} अपने संयोग में काश्मिका के विभिन्न लक्ष्यों में अपने युग की वैदिक प्रकटता को प्रतिबिम्बित किया है।

१. विकासशील का ज्ञान और साहित्य को आश्रय देना

'विकासशील' नाम भारतीय इतिहास में ज्ञान तथा साहित्य के आश्रयदान का प्रतीक है। किन्तिन अथवा प्रौढिक सभी अनुभूतिशील विकासशील द्वारा

- | | | |
|----------------|-------------------|----------------|
| १. रजु १-२। | २. ग्री १, ५५-६१। | ३. ग्री २ १६। |
| ४. क, १३। | ५. ग्री ५-६। | ६. रजु १५-२८। |
| ७. ग्री, ४, ४० | ८. ग्री १९-४। | ९. ग्री १२-४२। |
| १०. ग्री १५-२३ | | |

साहित्य, विद्वान् एवं कलाकारों को उत्साह तथा सहायता प्रदान करने और समकालीन प्रसिद्ध पत्रिकों को सम्मानित किए जाने का प्रचुर व्यय मिलता है। विक्रमादित्य के सातमकाल में साहित्यिक और कलात्मक कार्यों का प्रचुर प्रवाह था। तब कोई आश्चर्य की बात नहीं कि प्रसिद्ध कवि, लेखक, कलाकार, संगीतज्ञ, वैद्य तथा अगतिपरी पत्रकी सभा में काव्य के लिए आते रहे हों।

४. विक्रमादित्य और उनके नवरत्न

स्वोत्तिर्दिवाभरण नामक ग्रन्थ में सुरचित अनुभूति के अनुसार विक्रमादित्य की राजसभा में भी प्रसिद्ध कवि, लेखक तथा विद्वान् ने जिन्हें साहित्यिक रुच से 'नवरत्न' कहा जाता था। वह दशक जिसमें उनकी गणना की गयी है नीचे उद्धृत किया जाता है।

धन्वन्तरिचपनकाभरसिंहनाकुबेलाकभद्रवक्रपरकाकिदासः ।

कपालो वराहमिहिरौ नृपतेः सभायां वसन्ति नै वरकथिर्नवविभक्तस्य ॥ ११-१०

राजा विक्रमादित्य की राज्यसभा के नवरत्न थे—(१) धन्वन्तरि (२) चपनक (३) अमरसिंह (४) नाकु (५) बेलाकभद्र (६) वक्रपर (७) काकिदास (८) प्रसिद्ध वराहमिहिर जीव (९) वरकथि ।

स्वोत्तिर्दिवाभरण के रचयिता काकिदास के भिन्न रघुवंश वृत्त्यादि (११-१२-१३) के केवल काकिदास बताये गये हैं तथा इसकी तिथि कश्मि-संस्कृत १०१८ (वि० सं० १४)^१ का वैशाख मास भी गयी है।

स्वोत्तिर्दिवाभरण के रचयिता काकिदास के होने में निम्नलिखित अन्तःसाध्य के आधार पर सम्यक् किया गया है^२ :

(१) सभा वराहमिहिरादिमतेः

(२) शाकः सप्तमश्वमेधुनी (४४५) सितो हृतोः

(३) मार्गं कृतर्कं (६०) रघुनाशकाः स्मृताः ११८

जो इस ग्रन्थ के काकिदास की कृति होने में सम्यक् करते हैं उनके अनुसार उपर्युक्त पंक्तियों में उद्धृति (१) वराहमिहिर की खलु ५०९ गण संख्या में हुई थी।^३ (२) शाक संवत् की स्थापना ४८ ई० में हुई थी और (३)

१. नर्वैः सिन्दुरवर्धनभरप्रणेः याते कलौ सन्निभः ।

मासे माघवसन्ति ५ विहिरी ईशविशेषकमः ॥ १२, २१

२. संस्कृत शालग्राम शक्तिः ३ : देवसेन हिस्दी और शक्तिजन पट्टनामी, १० : ४७५ और नये । ३. इत्यम् - पीछे ६० : ८९ ।

सूर्य व अश्व का संयोग एक संवत् ११५४ (१२५९ वि० सं०) में घटित हुआ था । अतः उक्तका मत है कि काकियास, जिन्हींमें श्लोतिर्विवाहरण की रचना की थी, प्रथम कलावर्षी ई० ५० में संवत् की स्थापना करनेवाले विक्रमादित्य के समकालीन नहीं हो सकते । उक्तका कहना है कि वह दूसरे काकियास थे, जो ११वीं कलावर्षी ई० में हुए । श्लोतिर्विवाहरण के आलोचक एक बार और माने यह जाते हैं । वे उस ग्रन्थ में दिये गये 'अवतारों' की संख्या में ही अभिरहास करते हैं । तथापि आलोचकों की बराहमिहिर और आमराज के ग्रन्थों में उल्लिखित एक संवत् का सम्बन्ध समीकरण करना कठिन है । बराहमिहिर तथा आमराज द्वारा प्रयुक्त एक संवत् समवयवतः ५५० ई० ५० में स्थापित होनेवाका संवत् है । अतएव काकियास एक संवत् तथा बराहमिहिर का उल्लेख कर सकते थे । किन्तु यदि वह भी स्वीकार कर दिया जाय कि श्लोतिर्विवाहरण के रचयिता प्रथम कलावर्षी ई० ५० में होनेवाले काकियास की निम्न कोई अन्य काकियास थे तो भी इस उक्त की समीक्षा नहीं किया जा सकता कि ११वीं कलावर्षी ई० में वह व्यापक अनुसृष्टि की कि विक्रमादित्य की राजसभा बरहनों के अनङ्कृत थी । जब तक एकलप्य तथा अल्लिखत रूप से वह सिद्ध नहीं कर दिया जाता कि ११वीं कलावर्षी के अभिरिक्त अन्य कलावर्षी में हुए तब तक अनुसृष्टि अचर्य रहती है । अनुसृष्टि के अस्तित्व करने का भार आलोचकों पर है ।

महर्षी के प्रथम कलावर्षी ई० ५० में काकियास के नाम होने की सम्भावना का अचिर रूप से निम्नलिखित रक्षियों में विचार किया जावेगा ।

(१) कल्पवृत्ति : यह व्यक्तिवाचक नाम नहीं, प्रयुक्त एक विन्दु या तो प्रथम समय के सर्वश्रेष्ठ वैद्य की प्रदान किया गया था । प्रथम कल्पवृत्ति जो समवयवतः व्यक्तिवाचक नाम था, विष्णुपुराण और हरिवंश के अनुसार काशी के राजा थे ।^१ किन्तु वे विक्रमादित्य के समकालीन कल्पवृत्ति के बहुत पहले हुए थे । एक कल्पवृत्ति सुभुत के युग से जो प्रथम कलावर्षी ई० में चरक के छोटे समकालीन थे ।^२ बड़ी संभवतः प्रथम कलावर्षी ई० ५० के प्रसिद्ध वैद्य थे जिन वन्दोंमें ही विक्रमादित्य की राजसभा को अङ्कित किया था और उन्हें कल्पवृत्ति की उपाधि मिली ।

१. श्री यज० सुक्तीवाच्यम् हिन्दू नाम शक्तिवत मेदिनित, द्वितीय भाग, पृ० १२०-१२१ ।

२. पारिधि साधनीय नाम दि देवोण हिन्दू, पृ० १११ ।

(२) क्षयजनक : इस शब्द का व्यवहार प्राचीन भारत में जैन सन्तसिद्धों के लिए हुआ करता था । जलप्लवकजल भी व्यवहारिक नाम नहीं था । जैन विद्वानों तथा विद्वान्धारित में कहा गया है कि महान् जैन साधु तथा विद्वान् सिद्धसेन दिवाकर विकसादित्व की राजसभा में जाये, उन्हें चर्मोपदेश दिया तथा उन्हें जेवरत्न से जैनमोक्षार्थी बनाया । अतः जैन अनुष्ठानिकों के अनुसार सिद्धसेन दिवाकर विकसादित्व के समकालीन थे तथा उनका समीकरण ज्योतिषिदास्यस्य में उल्लिखित चरमज से किया जा सकता है । पण्डित गुणकाक भी तथा पण्डित जेवरदास परमविराट की भूमिका (५० १५) में कुछ अन्य कारणों के आधार पर यह मानते हैं कि विकसादित्व के समकालीन चरमज का समीकरण सिद्धसेन दिवाकर से करना सम्भव है क्योंकि सिद्धसेन दिवाकर रचित कलावती में हुए थे । लेकिन यह कैसे कहा जा सकता है कि भारतीय इतिहास में एक ही सिद्धसेन दिवाकर हुए ।

विभूत जैन-साहित्यिक अनुष्ठान को ज्ञान में रखकर विकसादित्व के समकालीन चरमज और सिद्धसेन में अभिन्नता करना असंभव नहीं है ।

(३) अमरसिद्ध : विकसादित्व की राजसभा के एक अन्य एक अमरसिद्ध थे । उन्होंने अस्मिन् जलकोष की रचना की । कादित्व की तरह उन्हें भी गुणकाक में उल्लेख किया गया है ('चरम' के लेखक जल कलावती ई० १८) किन्तु हमारे पास ऐसा कोई विहित आधार नहीं है जिससे यह सिद्ध किया जा सके कि वे जलप्लवक के ही थे । उनके काक की सबसे विचली सीमा हुई कलावती ई० है जिस समय राजसिद्धों के गुणराज के अमरकोष का भीनी अनुवाद किया । जिनसे हुए इति, जिनमें ५०० ई० में अपने ज्ञान की रचना की थी, उनके बादरपूर्वक अमरसिद्ध का उल्लेख करते हैं । अमरकोष की सबसे प्राचीन छिद्र व्याख्या कलावती में चरमकाशी द्वारा किया गया जो अमर, राजसेनर जल जल आदि का उल्लेख करते हैं । अमरसिद्ध की अपनी सीमा अमरकोष में उल्लेखित अमरःसाधन के आधार पर कुछ विद्वानों ने चरम कलावती ई० उल्लेख की है । (१) दीर्घाक्ष देखा तथा चार्मिक विधियों का उल्लेख, और (२) दीर्घार्थ के महावादी अतीकों के संकेत, तथा—हुड, मोचिद्वय, दृष्टक (लूट) आदि के नाम ।

किन्तु इस बात का निर्देस किया जा सकता है कि पौराणिक देवताओं के संकेत चतुर्थ शताब्दी ई० पू० की रचना कीटिलीय अध्याय में भी हैं और महाभारत सम्बन्ध के लक्षण प्रथम शताब्दी के पहले भी विद्यमान थे। इसलिए अमरकोश के अन्तःस्थाप्य को प्रथम शताब्दी ई० पू० में विक्रमादित्य और कालिदास की समकालीनता के विरोध में कहा नहीं किया जा सकता।

अमरसिंह अपने धार्मिक व्यवहारों में बौद्ध के जैसा कि अमरकोश के प्रारम्भिक स्थान से स्पष्ट हो जाता है।^१ उन्होंने स्वर्गार्थों के वैषम्यों में बुद्ध को प्रथम स्थान दिया है।^२ वे प्रकाशक पाण्डित्य और विज्ञान सहायुभूति वाले व्यक्ति थे तथा उन्होंने वने सुन्दर कोश 'नामलिङ्गाधुपासन' की रचना की थी जो बाद में अमरकोश के नाम से विख्यात हुआ। कोशाकारिता में उन्होंने एक नयी तरंगि स्थापित कर दी जिसका उत्तरकालीन कोशों ने भी व्यवहार किया है।

(४) शङ्खु : विक्रमादित्य की राजसभा के सदस्यों में वे सबसे कम प्रसिद्ध हैं। ज्योतिर्विद्याभारत के लेखक उन्हें विक्रम की राजसभा का एक सभासद बताते हैं।

शङ्खुः सुभाभरतविर्मणिरभुदको जिप्युखिलोचनद्वरी षटक्षरराज्यः ।
अभ्योऽपि सन्ति कथयोऽमरसिंहपूर्वा पर्येष विक्रमनृपरथ सभासदोऽमी ॥

[वे विक्रमादित्य की राजसभा के सभासद हैं— शङ्खु, मधुभाषी वररथि, अंगुवच, जिप्यु, तिलोचन, हरि, षटक्षर तथा अभ्य अथि, जिनमें पूर्ववर्ती अमरसिंह हैं।]

एक बहुत परवर्ती और स्पष्टता जनकभूत अनुभूति है जिसके अनुसार चिररामजी ने चारों बनों की चार पंक्तियों के विवाद किया था। उनकी माझणी पानी से बराहमिन्दिर, चमिया से मरुहरि, बैरवा से हरिबन्ध और शङ्खु तथा भुदरा से अमरसिंह उत्पन्न हुए। इस अनुभूति का इससे अधिक कुछ भी महत्त्व नहीं है कि संभवतः शङ्खु विक्रम के चैतव्य सभासद और एक ही माझण पुरु के संरक्षण में विक्रम के सहपाठी थे।

(५) सेताखभट्ट : जहाँ तक प्रसिद्धि का मन्त्र है वे शङ्खु से अधिक

१. वस्य वानदवातिम्योराजस्थानवा गुणाः ।

संभ्यतामहमो भीराः स मिने चाष्टाव य ॥

२. अमरकोश १. १. १३ ।

विशाल न के : केवल कार्यात्मिक पंचवर्षसिद्धि में उन्हें भाग्योत्तर कामों को सम्पादित करने का श्रेय प्रदान किया गया है। अथ नामक अर्थात् इस बात का निर्देशक है कि वे साक्ष्य थे। किंचित् सम्प्रकाशीय अनुभूति के अनुसार वे ऐतिहासिकी पर विक्रमादित्य के द्वारा पराजित किये गये वे तथा उज्जयिनी काये गये थे। बाद में वे विक्रम के सहारे मित्र तथा लहानक हो गये।

(१) अटकार्यः । यह विभिन्न सा नाम है और इसके अन्विष्टात्मा नाम होने की अपेक्षा उपनाम होने की अधिक सम्भावना है। यह बहुत प्रसिद्ध कवि रहे होंगे तथा उन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना भी की होगी। आजकल इनके दो ग्रन्थ बताये जाते हैं १. अटकार्यकान्त । जिसका विषय काकिदास के लेखन की अपेक्षा ही एक प्रोचितयुक्तिक परकी द्वारा अपने विषय के नाम के द्वारा संकेत किया तथा २. भौतिकार । प्रथम ग्रन्थ पर अभिनवगुप्त, कालि सुदि, गोविन्द, कल्याणकर तथा शाराचन्द्र आदि ने टीकाएँ लिखी हैं।

(२) काकिदास : विक्रमादित्य की राजसभा को समृद्ध करनेवाले अतिरिक्त कवियों तथा लेखकों के उत्पत्तिर्भवक में काकिदास सर्वाधिक प्रकाशमान हैं। भारतीय अनुभूति सर्वदा उन्हें काकिदास से सम्बोधित करती है। अब विद्वानों में भी जो काकिदास को तुल्यता में समीप के करते हैं, अधिकतर उन्हें अन्तर्गत द्वितीय विक्रमादित्य का राजकवि समझते हैं। वहाँ तक उनकी सिद्धि और प्रकाश अत्यन्त ही पूर्ण के विक्रमादित्य के साथ उनकी सम्प्रकाशीयता का सम्बन्ध है, इस सम्बन्ध पर पहले ही हम ग्रन्थ के द्वितीय भाग में प्रकाश डाला जा चुका है। वहाँ काकिदास की सिद्धि से सम्प्रतिष्ठित सभी सिद्धांशों की परीक्षा की जा चुकी है। अब उसके पुनरावेष्टन की आवश्यकता नहीं है।

(३) वराहमिहिर : वे अपने युग के सबसे बड़े ज्योतिषी थे इसलिये उज्जयिनी के ज्ञानमन्दिर में विक्रमादित्य के प्रभाव में उन्हें भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ था। उनकी सिद्धि तथा उनके विक्रमादित्य के सम्प्रकाशीय होने की सम्भावना पर भी इस ग्रन्थ के द्वितीय अन्वय में विचार किया जा चुका है।

(४) वरहचि । अन्तर्गतान्तर के अनुसार वरहचि का दूसरा नाम कल्याण भी था तथा उनका जन्म कीसाम्बरी के एक साक्ष्य कुरु में हुआ था। वहाँ से वे वरहचिपुत्र गये और वहाँ उन्होंने सिद्धा प्राप्त की। उन्होंने व्याकरण में विशेष दक्षता प्राप्त की थी किन्तु सुदि द्वारा रचित विविध-

सौर्धकण' नामक ग्रंथ में एक किंवदन्ति अनुश्रुति है जिसके अनुसार सिद्धसेन विवाकर की भाँजापुत्रा विक्रमादित्य की शासनपद्धति (शासक के सिद्धान्त) की काव्यायन ने उज्जयिनी में संवत् १ चैत्रमास की शुक्ल प्रतिपदा को लेख्यरूप दिया था। यह भी कहा गया है कि विनायक सूरि ने पद्धति को स्वयं देखा था। यदि काव्यायन बरचसि ही है तो उपेक्षितवाचन में उल्लिखित बरचसि का विक्रमादित्य का सम्बन्धहीन होना विविधसौर्धकण से प्रमाणित हो जाता है। बरचसि स्वयं यह लिखते हैं कि उन्होंने पञ्चमीश्वरी नामक भवता ग्रन्थ विक्रमादित्य की भाँजा तथा उसके भाग्य में लिखा। वे अपने सिंगानुशासन तथा विद्यासुन्दर में विक्रमादित्य का उल्लेख करते हैं। प्रबन्ध-विष्णुनामिका में संक्षिप्त जीवन अनुश्रुति का कहना है कि बरचसि विक्रमादित्य की पुत्री विष्णुमेजरी के शिष्य थे।^१ अनुक्तिर्णामृत (१० ११०) के अनुसार धीमेक उपनामवाले हस्तिभर को भी राजा कल्याणसेन की राजसभा में बड़ी सम्मान प्राप्त था।^२ इस प्रकार अनेक साहित्यिक अनुश्रुतियाँ हैं जो बरचसि का विक्रमादित्य की राजसभा में रहना बतलाती हैं।

५. पुन की साहित्यिक कृतियाँ

भारत में ई० पू० प्रथम शताब्दी न केवल सुनरगामी परिणामवाली राजनीतिक बदलावों की दृष्टि से मरुत उच्छाति की सीधिक कृतियों के लिए भी महत्वपूर्ण थी। मारिभक्त जीन तथा बौद्धधर्म नैतिक-वार्त्तिक समस्याओं एवं तपोमय जीवन के शिक्षावालों से ही अधिक सम्बन्ध रखता था। इनमें कुछ साहित्य के लिए बहुत कम स्थान था। इनमें के आगमन के पश्चात् आक्रमणधर्म के अन्तर्गत जीवन के एक सन्तुलित दृष्टिकोण का पुनस्थान हुआ तथा साहित्य और सौम्यरसाय को भी बौद्धिक क्रियाओं में महत्वपूर्ण स्थान मिला। अतः इनमें के शासनकाक के पश्चात् अनेक कवि, लेखक तथा नाटककार हुए।

(१) भासः काठिदास ने अपने मातृकाप्रिमित्र (अंक आनन्द,

१. विक्रमादित्यभूषण कीर्तिसिद्धिमिश्रः।

भीमान् बरचसिर्नामनीति पञ्चमीश्वरी ॥ पञ्चमीश्वरी।

२. विक्रमादित्यवन्द्य।

३. क्वातो पक्ष हस्तिभरत्वाविक्रमादित्यगोपीचिन्मन्त्रुः फल बरचसेराससाय प्रतिभात्।

भासावना) में भास, सौमित्र तथा कविपुत्र को माधवसाहित्य में अपना पूर्ववर्ती अथवा ज्येष्ठ समकालीन माना है ।^१

अन्तिम दोनों के बारे में कुछ सी विवेक प्राप्त नहीं है किन्तु भास तो निश्चित रूप से संस्कृत-साहित्य में अत्यधिक प्रसिद्ध सादककार है । श्री काशी-प्रसाद जायसवाल के अनुसार वे कण्व वंश के तीसरे राजा नारायण के शासनकाल (४९ ई० पू०) में हुए^२ थे । वे विद्वान् जो कालिदास को चतुर्थ या पंचम बताव्ही में वसति करते हैं, भास की तिथि दूसरे शाताब्दी ई० में निश्चित करते हैं । किन्तु एक बार जब कालिदास की तिथि प्रथम शाताब्दी ई० पू० में निश्चित हो जाती है तो भास की दूसरी शताब्दी ई० में रचना असम्भव हो जाता है । भास के निम्नलिखित सादक बताये जाते हैं ।

(१) माधवसाहित्य	(५) पाञ्चरात्र	(९) अभिषेक
(२) वृत्तचोदक	(६) वृत्तबन्ध	(१०) अभिमारक
(३) कर्णधार	(७) बाह्यचरित	(११) प्रतिज्ञायोग्यधरायण
(४) कदम्ब	(८) प्रतिमा	(१२) स्वतन्त्रासवदत्तम्
		(१३) बाह्यदत्त

कुछ विद्वानों को उपर्युक्त नाटक के रचयिता भास के होने में संदेह है । उनके सम्बन्ध का आधार यह है कि इनमें कोई नाटक भास का उल्लेख नहीं करता तथा पञ्चाङ्गादीय लेखकों द्वारा उद्धृत भास के श्लोक इनमें प्राप्त नहीं होते ।^३ तथापि लेखक के नाम का अभाव भारतीय इतिहास में असाधारण बात नहीं है और बहुत कुछ अनुमान के आधार पर कुछ श्लोक प्रसिद्ध लेखकों ने नाम से उद्धृत किये जाते हैं । इसलिये भास के अभाव पर आधारित तर्क निर्माण नहीं है । श्री रामपति वाक्की, कीर्ध, बिन्दरमिश्र आदि ने ठीक ही इस जादूकी को सँझी, आपा तथा विषय की एकता के आधार पर भास का ही

१. प्रविशयसर्ग भाससौमित्रकविपुत्रादीनां प्रबन्धनानिष्कम्ब पूर्वमानकः। कालिदासस्य क्रियायां कर्तृ बहुमानः ।

२. जे० ए० वेल्स वी०, १९२६ ए० २५६

३. दृष्टव्य बरनेट वी० आर० ए० वेल्स १९१९ ए० २६६ और जागे; केमिना (Kemna) विश्वविद्यालय १९२०;

केवी , जेम्स वी० एम्स वी० ४२, २०६-८

बतलाया है । भास अत्यन्त एक नाटककार थे । उन्होंने अपने अभिनेता किराँतों को रामायण तथा महाभारत से किया है किन्तु उनकी प्रतिभा की मौलिकता तथा किराँतीकता उनके जुनाह की विविधता से सिद्ध है । रामायण पर आधारित नाटक सम्भवतः भास के द्वारा ही लिखे गये तथा वे नाटककार के उत्तम गुणों को व्यक्त नहीं कर पाते । किन्तु महाभारत के आधार पर लिखित नाटक उनकी खूबगामक प्रतिभा, मौलिकता, तीव्र कार्य-व्यापार, प्रेम, अधार्म्य हास्य तथा प्रभावशाली कौशल का परिचय देते हैं । भास की कौली सरल तथा सहज है, वे कविताकी एवं सूत्रमय अभिव्यक्ति के पारंगत हैं । जहाँ तक अलंकरण तथा वृत्तान्तों का प्रयोग है, उन्होंने साधारण अलंकारों का ही प्रयोग किया है । भास अपने नाटकों में चरित्रचित्रण तथा मनोभावों व इत्थों के प्रदर्शन की प्रबल शक्ति का परिचय देते हैं । श्वंग तथा हास्य में भास अद्वितीय हैं ।

यह ध्यान देने की बात है कि अपने नाटकों (अभिनेता, चारुण, प्रतिज्ञापीगन्धरायण तथा इन्द्रवासवदत्त)—में कालिदास की ही भाँति भास ने भी उज्जयिनी के प्रासादों, पृथ्विविहरी, वृत्तान्तों, सरोवरों, विलासों, आनन्दों और वृत्तान्तों का वर्णन किया है जिससे कवि का उज्जयिनी से निकट सम्बन्ध सिद्ध होता है ।

(२) कालिदास : उनमें उस युग में सबसे अधिक खूबगामक प्रतिभा थी तथा वे विक्रमादित्य के अतिथि राजकवि थे । उन्होंने अनेक उपाकोटि के प्रशंसकों की रचना की । कुछ प्रशंसकों के उनके रचयिता होने में संदेह भी है । कदाचित् ६० प्रशंसक उनके बतये जाते हैं । उनमें से अधिक महत्वपूर्ण निम्नलिखित हैं :

- | | |
|------------------------|------------------|
| (१) मालविकाग्निमित्र | (५) सेधवृत्त |
| (२) विक्रमोर्वशीय | (६) कुमारसम्भव |
| (३) अभिज्ञानशाकुन्तल | (७) रघुवंश आदि |
| (४) अश्वमेध | |

इनमें से प्रथम तीन नाटक हैं, दो शीतिकार्य तथा अन्तिम दोनों महाकाव्य । नाटकों में मालविकाग्निमित्र सबसे प्राथमिक रचना मानी जाती है । मालविकाग्निमित्र की मूलिका में कालिदास सर्वाधिक विमल हैं और

१. गणपतिदासी, 'माला' में सबसे अधिक उद्धृत, प्रचालक । भास में उद्धृत, श्वंग, संस्कृत द्वारा ।

अपने परवर्ती भाइयों के जोड़ तुलों को अर्पित नहीं करते । उनकी दूसरी रचना विक्रमोत्पत्तिव प्रतीत होती है जो अपरिचय माकविकाविमिश्र तथा काकुलत की परिष्कृत पूर्णता के सम्बन्धी काक की प्रतीत होती है । अविज्ञान-साकुलत की रचना मूल में हुई । यह माक काकिदास की लम्बे उत्पन्न तथा अनुपपन्न रचना है तथा इसमें उनकी प्रतिभा सर्वोत्कृष्ट रूप में प्रदर्शित हुई है । माककार के रूप में संस्कृत साहित्य में काकिदास का महत्वपूर्ण स्थान है । प्रतिष्ठाव शिष्यप्रतिनी में मावकीय स्वभाव के साथ उनकी अत्यधिक महानुभूति है तथा उन्हें मानवमरित्य के कार्यों की अत्यधिक अन्तर्दृष्टि प्राप्त है । वे भावों की किसी भी भाषा को व्यक्त करने में समर्थ थे , किन्तु वे प्रेम और वेदना के भावों को व्यक्त करने में अनुपम हैं । प्रकृतिविषय में काकिदास सर्वदा दृढ़ राय लेते हैं । वर्णनशक्ति में काकिदास अद्वितीय हैं । काकिदास का हास्य अत्यन्त परिष्कृत होता है । वे अपने श्रोताओं का अनुरोध करते रहते हैं । भाइयों में जहाँ तक संगीत तथा नृत्य की योजना का सम्बन्ध है, वे अपने साक्षीय ज्ञान का परिचय देते हैं । काकिदास की सीधी सरल तथा सहज है । उनके प्रत्येक अवस्था में प्रकृतित वेदनी शैली के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं । वेदनी शैली की आवश्यक वस्तुओं में जगत् की सभी जगत् उनका विरल प्रयोग, व्यक्तिसम्बन्ध, स्वच्छता, उदात्तता एवं शीघ्रता के विभिन्न भाषा आदि हैं ।

काकिदास अपने गीत तथा महाकाव्यों में वतने ही अत्यन्त कलाकार हैं जितने भाइयों में । काकुलत इस दिशा में उनका अत्यन्त प्रभाव प्रतीत होता है । इसमें काकिदास प्रकृति के वाक् शीघ्रता और भाव के दृष्टिबोधन सुनों की ओर आकृष्ट हो गये हैं । उनकी दूसरी रचना अत्यन्त है जहाँ कवि बहुत अच्छे चराचर वर दिखाई देता है । यह एक कलाकार है—एक प्रेमगीत है जिसमें एक प्रेमिका के विरुद्ध प्रेमी की वेदनाओं तथा प्रेम का वर्णन है, जो अपने मनोभावों को उस तक पहुँचाने के लिए आकृष्ट है । मेघदूत में प्रकृति मानव के दुःख तथा शिष्टता में संगीत तथा भावभाव का महत्वपूर्ण कार्य भी करती है । काकिदास का कुमारसम्बन्ध एक पूर्वविकसित महाकाव्य है जिसमें मेघदूत से बर्णित विकास दिखाई देता है । वचन इससे परिचय देते हैं किन्तु वे अपने मनोभावों की गहराई, अपने व्यवहारों, अपनी सज्जताओं तथा कलाकलाओं में पूर्णता मानव हैं । कुमारसम्बन्ध में शर्मती के शिव के प्रति कावर्त रुकावट प्रेम तथा भक्ति का चित्रण है जो उनके विवाह तथा

कुमार (कार्तिकेय) के जन्म तक विवर्तित होता जाता है । काकिदास की प्रतिभा का सर्वोत्कृष्ट प्रतिकरुण रघुवंश महाकाव्य है । इस महाकाव्य का विषय हनुमान् द्वारा स्थापित रामवंश के प्रसिद्ध चरित्र रघु के वंश के प्रसिद्ध राजाओं का जीवनचरित चित्रित करना है । राजाओं का व्यक्तिगत जीवनचरित चित्रित करने में काकिदास ने अपनी उच्छकोटि की काव्यप्रतिभा प्रदर्शित की है । अट्ठमायें, दरब, चरित्र तथा उनके भाव और मनोभावों का चित्रण बड़ी सज्जा एवं सज्जता से किया गया है । रघुवंश में काकिदास दैत की सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक व्यवस्थाओं के अपने गहन ज्ञान का परिचय देते हैं, जन्म भारतीय संस्कृति का भावार्थ तथा सार प्रस्तुत करते हैं ।

(३) महाकाव्यों के लक्ष्मी संस्करण : ब्रह्मि विजयसाहित्य के युग के पूर्व ही रामायण तथा महाभारत आदिमिक ग्रन्थों के रूप में विजयसाय ने किन्तु चतुर्थ तथा पंचम सती ई० पू० में उच्छकोटि की संस्कृत में उनका युग : संस्करण हुआ और परवर्ती युगों में अत्यन्त प्रथम सताब्दी ई० पू० तक इनमें अक्षोक्ष्य तथा परिवर्धन होते रहे । इनके शासनकाल में रामायण ने अपना अन्तिम रूप ग्रहण किया तथा उसमें कुछ महाकाव्यों अक्ष भी जोड़े लगे । महाभारत का वह अंश जिसमें दैत का विभाजन जाति के आधार पर किया गया है, पाण्डवों का दिग्विजय, कुरुओं तथा कर्णों द्वारा दैत का पराधीन, अक्षता राजनीतिक हलचल तथा सभी वर्गों द्वारा शासक महान् करना आदि उस काल के कोई जा सकते हैं ।

(४) शास्त्रीय ग्रंथ : विजयसाहित्य के युग में विशेष कलाओं तथा कलाओं से सम्बन्धित ग्रन्थों की भी रचना हुई । भरत के नाट्यशास्त्र को, जिसकी तिथि १५० ई० पू० तथा १०० ई० के बीच है, विजयसाहित्यकालीन (जो बादलों की प्रचुर कृतियों का युग था) कहा जा सकता है । सौम्यशास्त्र और कामशास्त्र पर मात्वाचन का कामचूद इस युग का दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है । विजयसाहित्य की शासनकाल के मकरन्दों में एक राज अमरसिंह ने भी 'नामकिंमातुसासनम्' नामक ग्रन्थ की रचना की जो बाद में अमरकोश के नाम से लोकप्रिय हुआ । संस्कृत कोश साहित्य में अमरकोश सर्वाधिक लोकप्रिय और प्रचलित ग्रन्थ है । एतद्विधि का महाकाव्य एक सताब्दी पूर्व राज्यों के शासनकाल में किया गया था । किन्तु इस समय की संस्कृत पर पालि की अष्टाध्यायी का शासन था । टीका तीव्र पर इस ग्रन्थशास्त्र के किसी ग्रन्थ को प्रथम सताब्दी ई० में नहीं रखा सकते किन्तु मनुस्मृति अधिक प्रचलित प्रतीत होती है । इसके बारे में काकिदास

कहते हैं कि 'वर्णाश्रम को कायित करनेवाले भिन्न-भिन्न के राज्य के सम्बन्ध में शास्त्र के कर्तव्यों को मनु ने बताया है।' शास्त्रोक्तता को, जिसमें यजन और एक धार्मिकों का वर्णन राजा के रूप में है, प्रथम सतावरी ई० पू० में रखा जा सकता है। चित्रमाहिर की राज्यसभा के प्रतिष्ठित अतिथि बराहमिहिर ने बृहत्संहिता तथा अतिथि के अन्य ग्रन्थों की रचना की। शीघ्र रसायनशास्त्र, मूर्तिकला, वास्तुकला, चित्रकला इत्यादि के सम्बन्ध में साहित्यिक ग्रन्थों में विस्तृत उल्लेख मिलते हैं जो इस बात का संकेत करते हैं कि इन विषयों पर सामाजिक ग्रन्थ रहे होते जो अधिकतरतः महान् हो चुके हैं।

(५) शास्त्रिक साहित्य : जैसा कि अमरकोश में लिखा गया है, शास्त्रोक्तता के अथवा वर्णनशास्त्र की शास्त्रिक महान्वय्य शास्त्रों में आता है। चित्रमाहिर के पुनः के सुसंस्कृत मनुष्यों द्वारा इसकी उत्पत्ति हुई थी। अमरकोश^१ कुछ शास्त्रिक सिद्धान्तों का उल्लेख करता है। शास्त्रों की मुक्ति के सिद्धान्त के लिए अमरमिह चित्रमिश्रित सत्त्वों का व्यवहार करते हैं। मुक्ति, वैदिक, शिवाय, ज्योत्स्, मिःवेवक, अष्ट, मोक्ष तथा अपवर्ग। वे महान्, जगिता, अष्टाचार का भी उल्लेख करते हैं। संवत्समात्राओं (रूप, एक राज्य, वर्णन सत्त्व,) तथा इस इतिहास का भी आगे उल्लेख किया गया है। कर्तव्य के ग्रन्थ की शास्त्रिक सिद्धान्त का, विशेषकर सायन, योग तथा वैदिक का उल्लेख करते हैं। यदि कोई चरक-संहिता के शास्त्रिक इतिहास की परीक्षा करे तो पता चलता कि उसकी साहित्यिक भीमता सायनवर्णन पर तथा इसकी सर्वोपयोगी न्याय-वैदिक वर्णन पर आधारित थी। चरक-संहिता की रचना द्वितीय सतावरी के प्रारम्भ में हुई। इसके शास्त्रिक सिद्धान्त कम से कम अगस्त एक सतावरी पहले प्रचलित रहे होते। भीमता, वैदिक तथा योग वर्णनों की निधि और भी अभिविज्ञ है, तथापि वे द्वितीय सतावरी ई० पू० तथा प्रथम सतावरी ई० के बीच में ही सीमित हैं।

(६) वैदिक साहित्य : प्रथम सतावरी ई० पू० में वैदिकधर्म के साहित्यिक शास्त्रों साहित्य का संकलन तथा विधिकरण सम्पन्न हो रहा था और उसमें असाहित्यिक ग्रन्थों की रचना की निमित्त प्रवृत्ति प्रारम्भ हुई थी। कहते हैं कि

१ शास्त्रोक्तता वर्णनोक्तिरस्य/विचार/शास्त्रोक्तता: १-१-५

२. अ०. १, ५, ६-८

संकलन के तब से बाद के कवयों का प्रचलन है, स्वविरचनियों ने, जिसका साहित्य विस्तृत होता जा रहा था, अभिधम्मपिटक को सात भागों में विभाजित तथा संकलित किया, जो नीचे दिये जाते हैं।

(क) धम्मसंगिनी : यह धम्मों का सार है तथा इसका विषय धम्मों को विभाजित करना तथा उनकी परिभाषा देना है। इसमें नीतिशास्त्र तथा मनोविज्ञान में उचित अन्तर नहीं किया गया है। मिसेज रीज केविट्स ने इसे बौद्धों के मनोवैज्ञानिक नीतिशास्त्र का संक्षिप्त ग्रंथ कहा है।

(ख) विमंग : इसका शाब्दिक अर्थ विभाजन है तथा यह प्रथम भाग का ही काम है। दूसरा मार्गिक भाग बौद्ध धर्म के आधारभूत सिद्धान्तों की व्याख्या करता है।

(ग) धातुलघा : यह धर्मों के बारे में एक उपदेश है। इसमें आत्मिक पदार्थों तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धों के बारे में प्रश्नोत्तर है।

(घ) पुग्गकपण्णसि : इसका अनुवाद 'मानवीय व्यक्तियों का वर्णन' किया जा सकता है। यह ग्रन्थ व्यक्तियों को उनके नैतिक गुणों के अनुसार विभाजित करने का प्रयास करता है।

(ङ) कथावस्तु (उपदेश की कथा) : बौद्धधर्म के इतिहास के अध्ययन के लिए यह ग्रन्थ बहुत महत्वपूर्ण है। ऐसा समझा जाता है कि इसका संकलन अशोक के समय में होनेवाली बौद्ध संगीति में तिस्रों मोघाक्षिपुत्र ने किया था, किन्तु इसमें बहुत बाद की भी सामग्री है। इसके वर्तमान रूप को इस प्रथम सती ई० पूर्व की रचना कह सकते हैं।

(च) पमक (सुगत मरणों का ग्रन्थ) : यह अभिधम्मपिटक का अंतिम भाग है। यह प्रदेक्षिका-बोली में लिखा गया है तथा सभी मरणों का उत्तर हो प्रकार से दिया गया है। टीका की सहायता के बिना इसका समझना कठिन है।

(छ) पट्टाज प्रकरण (कार्य-कारण सम्बन्धों का ग्रन्थ) : यह अभिधम्म-पिटक का सातवाँ तथा अन्तिम भाग है। इस ग्रन्थ में १४ प्रकार के सम्बन्धों,

१. बौद्धों की भासिक अनुसृष्टि के अनुसार सती तृतीय शताब्दी ई० पू० का उदाहरण आता है। हममें कोई सन्देह नहीं कि धम्मपिटक पहले प्राचीन है लेकिन अभिधम्म-पिटक अपने वर्तमान रूप में तृतीय शताब्दी ई० पू० के बाद की कृति है।

जो मौलिक तथा आजीविक सवालों के बीच कविरस बिभे गये हैं, की सोज का दर्जन दिया गया है।

अधिकतर विद्वत् के आन्तरिक तथा सौंदर्यगत गुणों के बारे में सौम्यरी रीति से विचार अपनी राय देती हैं। 'कम हान मुक्त पंक्तिओं, बन्धु परम्परा, अतीत द्वारा प्राप्त वर्तमान और अविष्य के विमित हस्त ध्वन का परिचय करते हैं। तो हमें निर्मल, सुभास, तथा स्वच्छ बच का आनन्द होता है, किन्तु हमको भी किचिर्बिर्बा बन्धु, परें मिरे और प्रभास की ओर इति का आनन्द।^{1*}

सैद्धान्तिक साहित्य तथा व्यवैधान्तिक साहित्य के बीच के संबंध का एक ही विवेचना सैद्धांतिक इतिहास तथा विचारों की व्यवस्था है। विचारान्वयित का एक के बाद व्यवैधान्तिक साहित्य का अविकसित भाग दिखे है कि विचार तथा किन्तु सिद्धान्त-सम्बन्धी व गुण के द्वारा वस्तुतः कुछ विशेष व्यवैधान्तिक प्रयोगों की रचना हुई, जो विवेकतः उपलब्धनीय हैं।

अद्वैतात्मिक ग्रन्थों में अन्तर्लक्ष्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ त्रिभिन्वचसूत्र (त्रिभिन्व-
करण) है । यहाँ उद्दिष्टित त्रिभिन्व वचनरत्न मेघाब्ज के अतिरिक्त कोई अन्य
बाह्य है जिसमें द्वितीय कलावली ई० पू० में संभाव में आकर पर आत्मन किया
जा । इस ग्रंथ की रचना आद्यतन्त्र में वचनों के वैयर्थ्यवादी आत्मन की स्थिति
में प्रथम कलावली ई० में इसकी समाप्ति के पूर्व ही हुई होगी । यद्यपि इस
ग्रन्थ में वर्णित विषय आत्मन वैयर्थ्यात्मिक ग्रन्थ का ही है किन्तु यहाँ में हममें
सिद्धों की लक्ष्मी के कुछ त्रिभिन्व प्रगति अन्तरन आकरती है । हममें एवम तथा
अनुग्रह लब्ध है जिसकी शुद्धता अन्तर्लक्ष्य तथा अनुग्रह के संवादी के अन्तर्लक्ष्य
महत्त्व की का समझी है । यह ग्रन्थ त्रिभिन्व तथा लौक अन्तर्लक्ष्य आत्मन के
अन्तर्लक्ष्य के रूप में किया गया है । हममें अनुग्रह में लौक सिद्धांशों
का वर्णन है कि आद्यतन्त्र बाह्य का कोई अस्तित्व नहीं किन्तु भौतिक तथा
अन्तर्लक्ष्य यहाँ में अधिकतर परिचयन ही प्राप्त है । इस ग्रंथ में अनुग्रह तथा
अन्तर्लक्ष्य के सिद्धांत अन्तर्लक्ष्य अनुग्रह अन्तर्लक्ष्य में किये गये कर्मों का
ही चर्चा आगेता है, का ही वर्णन है । इन सिद्धांतों की व्याख्या के बिना बहुत
ही ग्रन्थ दिने गये हैं । त्रिभिन्वचसूत्र आध्यात्मिक कृति के रूप में आधीन
आध्यात्मिक ग्रंथ की अन्तर्लक्ष्य ग्रन्थ है ।

काहीन लोककों ने मिश्रित जयवा शब्द संस्कृत में लिखना अधिक पसन्द किया, यद्यपि प्राकृत अभिव्यक्ति के एक माध्यम के रूप में चलती रही। तद्द्वारा तक जैन ग्रंथों में कलात्मकता का प्रदर्शन है, विण्टरविस्स ने यह मत प्रकट किया है कि 'अधुना ही कम अवकाशों के साथ जैनियों के धार्मिक ग्रंथ थोड़े से ध्रुवक मस्तुवादी स्वर में लिखे गये हैं तथा कितने ज्ञात हैं उनमें साधारण मानव की अभिव्यक्ति नहीं होती। अतः विशेषज्ञ के लिए महत्वपूर्ण होते हुए भी वे साधारण पाठक की अभिव्यक्ति का दावा नहीं कर सकते। जैनों की संस्था-मार्गीय सङ्घति प्रारम्भिक साहित्य में सौन्दर्यमूलक श्रम्यता के लिये उत्तरदायी है। किन्तु कुछ ग्रंथों में विशेषतः प्राकृत तथा संस्कृत काव्यों में जब उन्हें भाषात्मक रूप से जागरूक कर दिया गया तब समय उनकी कला का स्तर बहुत ऊँचा हो गया।'

द्वादश अध्याय

शास्त्र और कला

१. सास्त्राधिका

विक्रमादित्य का युग कलात्मक कृतियों के लिए उत्तम ही नहीं था किन्तु साहित्यिक कृतियों के लिए। सरलालील साहित्यिक ग्रन्थों में बहुत ही विभिन्न प्रकार की कलाओं का प्रदर्शन हुआ है। कवित्त-कलाओं को 'कवित्त विज्ञान' भी कहते थे। काकियासकृत रघुवंश में आज अपनी बुद्धिमती के निधन पर शिकायत करते हुए कहते हैं : 'बहु कवित्त-कला-विधि में उनकी श्रिय सिन्धु थी।' अतिरिक्त साकविका की प्रशंसा करते हुए कहते हैं : इस 'वित्तमसुध्वी' को (साकविका को) कवित्त विज्ञान प्रदान करके विभ्राता ने काम क लिए विपश्चित्त बाण की रचना कर दी।^१ आर्यामी दृष्टि में कवित्तकलाओं की विभिन्न शाखाओं पर संक्षेप में विचार किया जायेगा।

२. वास्तु

अमरसिंह ने अपने पुरवर्ग में नगर के निम्नलिखित नाम दिये हैं।^२—
(१) पुर (२) पुरी (३) नगरी (४) पत्तन (५) पुटमेदन (६) स्थानीय तथा (७) निगम ।

विषय (शिल्प) की राजधानी था राजधानी का समीपवर्ती नगर शासकनगर के नाम से भी अभिहित किया जाता था।^३ नगर एक प्राचीर से घिरा रहता था जिसे माकार, बरग या साध कहते थे।^४ नगर की छोटी-छोटी गलियों को रज्जा, मसोली तथा विशिखा कहते थे।^५ हाटों की आपन अथवा निपसा नाम से पुकारते थे।^६ नगर में दूकानों की भेगियाँ (बिपणि या पण्यकीधिका) भी बनायी जाती थीं।^७ अथोक नगर में अनेक घर रहते थे

१ ८, १७

२ साकविकाविमिश्र

३ अमरकोश २, पु० २, १

४ बही, १, २, २१

५ बही १, २३

६ बही

७ बही २, २, २१

८ बही

विभिन्न विभिन्न अभिधान ये—(१) गृह, (२) मेढ, (३) उदयसित, (४) देह, (५) सङ्ग, (६) निकेतन, (७) निवास, (८) पत्न्य, (९) सङ्ग, (१०) भवन, (११) अगार, (१२) मंदिर, (१३) विद्यालय (१४) मिलाव और (१५) भाव्य । सभी का तात्पर्य वास्तव्य है ।^१ गृह के अन्तर्गत भवन को धर्मागार^२ कहा जाता था । वहाँ में विद्वत्पुरुषों (गणपति)^३ होती थीं । वेदयागृह की वेदा या वेदयागम संज्ञा थी । अगार विशेषकर राजधानी में सजागृह (शाखा, सभा, राज भवन कुली)^४ हुआ करता था । कलाकारों तथा शिक्षकानों के गृहक नामान (भावेस्तन अथवा किलिपकाका) होते थे ।^५ सभी पुरुषों के वहाँ को दूर्ध्व^६ कहा जाता था तथा राजाओं के वहाँ के लिए सीध, राजसदन या आसार^७ संज्ञाएँ थीं । राजभवनों का निर्माण विभिन्न शैलियों में होता था जो विभक्तिकित नामों से प्रसिद्ध थीं—(१) रम्यक (२) सर्वतोभद्र (३) गणधर्त और (४) विष्णुक^८ ।^९ किन्हीं के नामवचन (१) अगार, (२) अगारपुर, (३) अगरोधन, (४) गृहान्त और (५) अगरोध कहलाते थे ।^{१०} धार्मिक मन्दिरों का निर्माण भी बहुत भव्य रूप में किया जाता था । उन्हें चैत्य (जैन तथा बौद्ध मन्दिर) आचरण^{११} (ब्राह्मणमन्दिर) वसिष्ठागृह तथा अवास्तामलन^{१२} कहते थे । उष्ण वार्षिकों के गृहों में मंजिष्ठ भी होती थीं जो अह तथा श्रीम^{१३} कहलाती थीं । इमें लैक्यों मय (लैगुरे), अह (वल) और चाक (मापीर) के उद्देश्य उपलब्ध होते हैं ।^{१४} सभी वहाँ में कुचिन छीकें (गृहदीर्घिका) और निर्रर (धन्यमहाद या कारिभन)^{१५} भी होते थे । कलात्मक नाम और संगीतशास्त्राधी का भी निर्माण होता था ।^{१६} वहाँ को वरीचों से अलङ्कृत किया जाता था जिन्हें गृहावास, उपवन, जाम्बीव तथा उद्यान आदि विभिन्न नामों से पुकारते थे ।^{१७}

वहाँ के वसतिस्थ गार्हों की वसतिर्वा दूसरे चैत्यों में होती थीं जिन्हें प्राग

- | | | |
|--------------------|-------------------------|-----------------|
| १. पृ. १, ५, ४-५ । | २. पृ. २-३ | ३. पृ. १-५-६ । |
| ४. पृ. १-३-६ । | ५. पृ. १-५-७ । | ६. पृ. १-२-५ |
| ७. पृ. १ | ८. पृ. २, ५ १४-२३ | ९. पृ. १-५-२३ । |
| १०. पृ. २-३-५ । | ११. एतुबं १४-१५ १६, २५ | |
| १२. नगरकोष २३-२३ । | १३. ११ एतुबं १४, २५ । | |
| १४. पृ. १, ४५ । | १५. मात्रिकाप्रतिम १-२२ | |
| १६. नगरकोष २४, १४ | | |

अथवा संवसथ^१ कहते थे। गाँवों की सीमा को ग्रामान्ध अथवा उपसथ कहना आता था।^२ गाँवों से थोड़ी ही दूर हटकर बहरीर (क्षेत्र अथवा बागोरपल्ली) की बस्तियाँ होती थीं।^३ साधुओं और भिक्षुओं की होपक्षियाँ (कर्मशासन अथवा उदय) यहाँ में होती थीं।^४ अन्ध्र जातियों की बस्तियाँ^५ (पञ्चन अथवा सवराकण) पहाड़ी तथा बनीम क्षेत्रों में ग्रामों और नगरों से दूर हुआ करती थीं।

तथापि उल्लिखित विभिन्न वास्तुप्रकार विप्लवकाल काक तथा वर्चरता के कारण नहीं बच सके। साक्ष्यवादी हिन्दू न केवल औचिक भवनों को अविशुद्धि स्थान तथा आर्थिक बस्तियों को भी बचे शहरों में बनाते थे जिन पर बबल, लक, दूध तथा तुन्दर आदि विदेशियों का अनेक बार आक्रमण हुआ। कलकत्ता उन्हीं बच रहे जगत् पड़ा। आत्मक केवल प्राचीन स्थानों तथा नगरों के भग्नावशेष और डोके दूरे अन्ध्र वास्तुकला का, जो कभी अस्तित्व में थी, स्मरण दिलाते हैं। विदेशी आक्रमणकारियों और लज्जानी तथा जोशी शहरो के विप्लव-आघातों से बचनेवाले स्थापत्य मिर्दानों में बीड़ तथा जैन तीर्थ और पवित्र स्थान ही हैं क्योंकि अधिकतर उनका निर्माण नगरों से दूर होता था, जहाँ आक्रमणकारी जाने की परवाह नहीं करते थे।

भीड़ों के वास्तु-रमारकों में जिनके सम्मोच अब भी पाये जाते हैं, स्तूप, उनकी वेदिकाएँ, द्वार (तोरण), विहार तथा चौक हैं। इन सब प्रकार के स्मारकों के उदाहरण भरहुत, सौंवी तथा अमरावती में पाये जाते हैं, जिनकी विधि शृङ्गों के युग से लेकर प्रथम कलावी ई० तक है। स्तूपों की शलाकह दोल अन्धाकार होती है तथा वे ईदों और ऊपरों से बने होते हैं। स्तूपों के निर्माण का उद्देश्य : अथवा किसी अन्य मौल्य मन्त्र के अवशेषों पर समाधि बनाना वा किसी स्थान से सम्बन्धित और बीड़ वा जैन-गाथाओं में दक्षिण समझी जानेवाली घटना को स्मरणीय बनाना था। प्राचीन स्तूपों की शलाकह बहुत ही साधारण तथा सरल थी। इसमें एक अन्धाकार टीका होता था। यह अस्तवेदिका से, जिससे एक दक्षिण चय चलता हो जाता था, बिरा रहता था। अन्य पट्टों से रक्षा के लिये प्राचीन ग्रामों में बने हुए स्तूपों और चण्डों का वेदिका में अनुकरण किया गया था। काकमामुसार स्तूप की

१. अमरकोश २-११०

२. वही।

३. वही।

४. वही ११-७६।

५. वही १-२-२०।

बनाकर जन्म, कठिण और अकंकुत हो गयी। अण्डाकार स्वरूप के जन्म को ककारमय रीति से प्रसर-जन्मों (कमी-कमी हस्तकौशल से युक्त) से बन्ध दिया जाता था तथा उसके ऊपर दुर्मिका (पवित्र भातुओं के किष्ट बोझ भजन), क्षय तथा चक्र (बीज धर्म के प्रतीक) के साथ कला दी जाती थी। वेदिका को बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित वस्तुओं का प्रदर्शन करनेवाली मूर्तियों से अलंकृत किया जाता था। स्तूपों के तोरण अथ द्वार प्रायः वहीं थे। उनका भी चक्रा की शानदार विकास हुआ। उनको भी विभिन्न सुन्दर-सुन्दर मूर्तियों से सजाया जाता था, जिनमें बुद्ध के जीवन तथा बीज प्रतीकों का अलङ्कार होता था। वीज विहार और शैव साधारण और पर भोजा, कोणकान, पीतलकोर भवभूता, वेदना, वायिक, कार्त्तिक तथा कुम्हार आदि में बाँचे जाते हैं। इस युग के जैन तीर्थंकर तथा विहार जहाँसा के धुवनेश्वर के निकट उद्योगिनि एवं जगन्निनि में मिलते हैं। इन गुफाओं की वास्तुकला सर्वतो के प्राकृतिक और आदिम गुफावासी के विभिन्न हुई किन्तु प्रथम साधारण ई० पू० के लगभग ही के विकास के इतने उन्नत कोषाग पर पहुँच गये कि आज के अधिकतर रक्षकियों तथा कला-समाजिकों में आश्चर्य और प्रशंसा के भाव जगा देते हैं।

१. मूर्तिकला

विक्रमादित्य के युग में मूर्तिकला का पर्वत प्रचलन था। मूर्तियों को विभिन्न नामों से पुकारा जाता था। जगन्निनि^१ उनको (१) प्रतिष्ठाया (२) प्रतिमान (३) प्रतिविम्ब (४) प्रतिपालना (५) प्रतिरुति (६) प्रतिमा (७) अर्था तथा (८) प्रतिनिधि नामों से पुकारते हैं। काकिदास जी मूर्ति को प्रतिरुति^२ अथवा प्रतिमा^३ कहते हैं। 'राम ने सीता के स्वाम के बचान, सुतरा विवाह नहीं किया तथा उन्होंने उन्हीं की प्रतिमा के साथ बैठकर चक्र किया।' राम के द्वारा किये गये कथनेय पञ्च के अवसर पर सीता की सुवर्ण-प्रतिमा (आवा हिरण्यकी) का निर्माण कराया गया था।^४ स्तूपों की शिखों की मूर्तियों से अलंकृत किया जाता था।^५ मन्दिरों (प्रतिमागृह और

१. हिरण्य की० २० विम्ब, २. हिरणी नाफ फलन आर्द्ध हन इतिवत्त एवम् सीमोन, पू० १६ और जाली, ४. कुक्षे दुहित आर्द्ध; फलपुत्र विष्णो नाफ इतिवत्त एवम् ईदमं आर्द्धविम्बर, नाम २।

१. जगन्निनि २-१०-६६ २. रजु० २५, ८७ ३. वही १६, १९।

४. वही १५, २०। ५. वही २५, ६९। ६. वही २६, २७।

देवताधरम) के बहुसंख्यक उद्देश्यों से सरलरूपपूर्वक यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि देवताओं की प्रतिमा का निर्माण और स्थापन एकार्थ होता था। काकिवास उज्जयिनी के महाकाष्ठ-मन्दिर में शिव-पूजा का उल्लेख करते हैं।^१ किन्तु वे यह स्पष्ट नहीं करते कि शिव की मूर्ति या प्रतीक रूप में पूजा होती थी। कपाससिरिसागर के अनुसार शिव का प्रतिनिधित्व एक मूर्ति से होता था। तीन नियमों से शिव बताया है जो सिद्धसेन विष्णुकर की ऐन्द्रजातिक शक्ति से प्राप्त कर दिया गया था। ऐसा जान पड़ता है कि शिव के सर्वज्ञ के दोनों स्वरूप मूर्ति और प्रतीक प्रकटित थे। किन्तु की प्रतिमा भी बनाई जाती थी जैसा कि वेलागार के शङ्करसम्भ से, जो शुद्ध-काष्ठ में एक विष्णुमन्दिर के समस्त पदों दिया गया था, स्पष्ट है।^२

इस धारा की मूर्तियों के निर्माण भाहुत, लौह, भीरा, सारनाथ, मथुरा, नासिक, अजन्ता, गुप्तिमठ, कन्नगिरि (उड़ीसा) आदि में पाये जाते हैं। उनमें शिव विषयों को अंकित किया गया है उनको निम्नलिखित भागों में विभाजित कर सकते हैं।

- (१) शिव के जीवन के दृश्य—जन्म, महाभिनिष्क्रम्य, लंबोधि, अर्धशयन-प्रवर्तन तथा महापरिनिर्वाण आदि,
- (२) कालकलमों के दृश्य,
- (३) धनु-पक्षियों की मूर्तियाँ
- (४) पशु तथा पक्षियों की मूर्तियाँ,
- (५) लला-वेदि का अलंकरण।

पारिभाषिक रूप से वे मूर्तियाँ समुदायकृति हैं। वे परितः वर्णनीय नहीं हैं और कला के इस विशिष्ट क्षेत्र में प्रारम्भिक प्रयास की सीमाओं को चर है। वे प्रदर्शनों पर चिन्नी सी जान पड़ती हैं। किन्तु इनकी सीमायें कितनी भी बड़ी न हों, वे मूर्तिकला में प्राप्त दक्षता के सुन्दर प्रमाण हैं। प्रारम्भिक मूर्तिकला के निर्देशन सीधे और शुद्ध कलाओं की परम्परा का अनुसरण करते हैं। मूर्ति के वास्तविक स्वरूप के अनुकरण तथा ध्वन्य के प्रभाव से प्रेरित हुए जान पड़ते हैं। किसी आदर्श भाव जगत् किसी भौतिक प्रवर्ध को प्रतीक रूप में अंकित करते का प्रयास उनमें अवलोक नहीं हुआ था। उनमें मानवीय जीवन के विभिन्न रूपों—मृत्यु, लीला, शान, परिधान तथा अलंकार आदि—का उनके वास्तविक

१. मेघदूत २, पं. १। २. २८, २९।

३. बी० ए० सिन्ध २ दिव्यी ऑफ़ फारम आर्ट्स इन इण्डिया एक सीरीज।

रूप में अंकन है। इन मूर्तियों पर पाकोचना करते हुए चर्चसत कियाते हैं। कुछ पण्डित ब्राह्मी, हिन्द और बन्दरी—आ अंकन विषय के किसी भी भाग की बात मूर्ति से अलग हुआ है। इसी तरह कुछ ब्राह्मी, तथा विद्वन्मय मरतुवें इतनी सुन्दरता और बधाईता के साथ कारी गयी है कि वे अत्यन्त प्रसन्नगी हैं। मनुष्यों की मूर्तियों की, यद्यपि सौन्दर्य और शोभा के हमारे माथों से एक रूप मिला है। प्रकृति के प्रति सभी है तथा उन्हें समूह में करने पर एकान्त आनन्द का अनुभव होता है। मूर्तियों के बरतों भित्तों परम्परागत शीशों को मुक्ति प्रदान करते हैं। कलाकार काह की मूर्तियों से सम्बन्धपूर्णकर प्रत्यक्ष मूर्तियों की ओर बढ़ रहे थे। शीशों के तोरण पर अतिरिक्त कुछ इतर अङ्गों करने योग्य है। एक रूप में कुलीनगर के मूर्तियों के विद्वत् अन्वय प्रतियोगियों द्वारा, जिसको उन्होंने अत्यन्त कुछ के अत्यन्तों से इनकार कर दिया था, आरम्भ किये गये पुनः का प्रदर्शन है। इस के कई तरह अङ्गित हुए और भिन्न-भिन्न-भिन्नों के कुछ प्रकार से भिन्न हुआ। राजाशाहों काय आशीर्वाद कुलीनगर दिखाई देता है। राजकुमार, प्रेमिक, इन्दी, बीरे, रथ, पुत्र के साथ इत्यादि प्राद की ओर आसक्त हो रहे हैं। कलाकार ने भीय कथना सेवा को पहले सादृशी तथा अन्तर्दृष्टि और बीरे अत्यन्तों के कारण आनन्द अङ्गित करने की तकनीक पर पूर्ण अधिकार प्रदर्शित किया है। दूसरा शार (कामदेव) दिव्य का प्रथम है। इसमें तीव्रता तथा कोविद्वत् के नीचे प्रकृतपूर्ण आशीर्वाद दिखाये गये हैं। शार की पराजित सेवा यही संकटपूर्ण दशा में है तथा देवता व आनन्द शान्ति प्रकृति प्रकट कर रहे हैं और पुत्र को समझकर कर रहे हैं। इस इतर में शान्ति तथा आनन्द का अनुभव अतिमध्यम है। इस भीति अत्यन्त इतर भी अतिमत्त तथा आनन्दपूर्ण है।

४. चित्रकला

मूर्तिकला से सम्बन्धित किन्तु अधिक सूक्ष्म आनन्द का प्रयोग करनेवाली कला चित्रकला का भी इस युग में विकास हुआ था। चित्रकला में अत्यन्त पद्यों के मातापुत्र होने के कारण अत्यन्त की सुकानों के कुछ मनुष्यों को छोड़कर कोई अन्य मनुष्य नहीं बच सका। किन्तु साहित्यिक तथों में चित्रकला-प्रमाणों अङ्गों की अपेक्षा है। अभिज्ञानशाकुन्तल में हमें ऐसे चित्र अत्यन्त होते हैं जिसमें शीतलों पर संगीत का अभाव दर्शित है। 'आर्य'। सुन्दर गाथा गवा। इत्यादि के सभी दृश्यों के अतिमध्य पर संगीत

का ऐसा प्रभाव था^१ है कि वे चित्रकला से हो गये हैं।^२ दूसरा उल्लेख इस प्रकार है : 'राजा ने अठार वर्ष तक वर्षी कठिनाई को जीवन विताया, कभी-कभी अपनी निवृत्तता को सारथ्य-प्रतिकृति को देखते रहते थे और अन्य व्यवहारों पर स्वयं में उनके आश्चर्य का मुख लेते थे।'^३ चित्रित दायिनों (चित्रद्वीपाः^४) तथा चित्रसारिणी^५ का भी उल्लेख हुआ है। आकस्मिकान्वितिक में काकिदास चित्रशास्त्र का उल्लेख करते हैं।^६ इसके विकास में वास्तव की वास्तव्य की प्रतिकृति ने बर्धातु योग दिया है। अतिमित्र अपनी प्रियतमा के चित्र की ललाकोचना करता हुआ कहता है कि 'अस्मिन् उनके सौम्य के वास्तविक चित्रांकन में कभी का अनुभव कर रहा था किन्तु अब मैं सोचता हूँ कि जिसने उसको चित्रित किया वह पूर्णरूप से स्वाभाविक नहीं था।'^७ कथासरित्सागर में चित्रशास्त्र के आशय का वर्णन करते हुए कहा गया है : 'यद्यपि राजा के पास, ऐसा कि इस कह भागे हैं, एक भगवन्नामिन् नामक चित्रकार था जो कुशलता से चित्रकारों का भी अभिमान कर गया था। वह एक लकी के चित्रांकन में दो या तीन दिन लगावा करता था और इस प्रकार सौम्य के कलेजाके निदर्शन तैयार करके राजा को जेठ करता था।'^८ उसी संक्षेप में और भी कहा गया है : 'वह राजा को वह सब का सब डीक-डीक स्मरण है तो वह चित्रपर घर घरे मगर को उन्मत्त कर दे ताकि इसमें कुछ उपकारन होते का लगे।'^९ सरहुत और लोनी की शूर्पिणी, जो चित्रों से बहुत अधिक आस्था रखती हैं, मध्य कलावर्दी ई० पू० में चित्र-कला के अस्तित्व की ओर संकेत करती हैं।

ऐसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इस युग के चित्र केवल अलम्बता की गुणों में ही मात्र होते हैं। गुहा सं० ५ तथा १० के चित्रों का, विष्णु के कुशाग्र, मध्यावस्थाकी कप और अंकन-लौकी में, लोनी की शूर्पिणी के निकट काव्य है। इनमें गति, अंग तथा गायत्री आदि विशेषताएँ कथित होती हैं। चित्रकार विभिन्न प्रकार के भाव उत्पन्न करने के लिए विभिन्न प्रकार के

१ जहाँ सप्त तीतद् अथो राजनिविष्टचित्तद्विष्टाभिहित इव सर्वतोऽङ्गः १, ४ और आने।

२ एड० ८, २५।

३. यही २४, २५।

४. यही २४, २५।

५. सं० १।

६ आकस्मिक० ९, ९ और आने

७. १८, २

८, यही १८, ९।

रंगों को मिलाने की कला से परिचित है। अजम्ता से होंगे हुए भिन्न रंगों की वस्तु और व्यञ्जक हैं।

५. संगीत

अमरकोश में संगीत के साक्षीय स्वरूप के बारे में बहुत संक्षिप्त वर्णन मिलता है।^१ इसमें सात स्वर निम्नान्वये हैं—(१) मियाह, (२) ऋषभ, (३) गान्धार (४) यज्ञ, (५) मध्यम, (६) धैवत, (७) पंचम।^२ जैसा कि साक्ष्यसाक्ष में इसकी व्याख्या की गयी है, इस प्रकार का विभाजन मानववादी के स्वर-तन्त्रों के विभिन्न भाग से ध्वनि उत्पन्न करने के सिद्धान्त पर आधारित है। स्वर अपने माधुर्य, गहराई तथा ऊँचाई के अनुसार कक (मधुर), मंत्र (गहरा) तथा तार (ऊँचा)^३ कहलाते हैं। अमरकोश^४ में उल्लिखित वाद्यों को चार भागों में विभाजित किया गया है :

(१) तत (तार से युक्त) जिसे बीणा, वल्लवी, विपत्ती अथवा परिवारिणी कहते हैं।

(२) आनक (वे वाजे जिनमें डोकने से ध्वनि होती है), यथा मृदंग अथवा मृदज (एक प्रकार का तबका)।^५

(३) सुविर (वे वाजे जिनमें झूकने पर ध्वनि निकलती है), यथा बंरा (बंती)।^६

(४) घन (वे वाजे जिनको पीटने से ध्वनि निकलती है), यथा क्रीते कीर्ती वाद्यों से बने हुए वाजे

कुछ अन्य वाद्यों का पुनः उल्लेख भी हुआ है :

(१) यथाः पटल अथवा वल्ल (एक अथवा जगाका)

(२) मेरी अथवा तुम्बुभि

(३) आनक अथवा पटल (विस्तृत माक)

(४) डमक

(५) मरह

(६) चित्रिम (एक छोटे प्रकार का ढोल)

(७) कर्षर (तर्ज)

१. १, ७।

२. अमरकोश १, ७, १, १।

३. वही १, ७।

४. १, ७, ६-४।

५. रघुवंश (१९-१४), में इसे पुनः भी कहा गया है।

६. अतिदास इसे रेणु कहते हैं (रघु- १९, ६५)।

कालिदास के ग्रंथों में हमें अन्ध वाजों के नाम भी मिलते हैं तथा 'सूर्य', 'साँस', 'घन' तथा 'जलज' इत्यादि ।

संगीत की कला सिखाने के लिए उच्च तथा धनी परिवारों में संगीत-पाठशालें भी होती थीं ।^१ संगीत को संगणकिक समझा जाता था तथा जन्म-विवाहादि सभी उत्सव के अवसरों पर संगीत की बड़ी भूमि रहती थी । गीत कृत्यों और समयों के अनुसार गाये जाते थे ।^२ 'उच्चकुलों' में संगीत को वैयक्तिक उपलब्धि समझते थे तथा यह राजसभासदों और व्यावसायिक संगीतज्ञों का व्यवसाय भी हो गया था ।^३

१. नृत्य

गुणककः संगीत से सम्बन्धित है और अमरकोश^४ में इसका भी उल्लेख है । तीन प्रकार के नृत्यों का उल्लेख मिलता है^५ :

- (१) तत्त्व अथवा विलम्बित (धीरे-धीरे नृत्य)
- (२) शोक अथवा मुक्त (तीव्र गति में नृत्य)
- (३) दान अथवा मध्य (मध्यम गति से नृत्य)

नृत्य में समय की माप को 'ताल' तथा गीत-वाद्य और अङ्ग-विम्बास के सम्बन्ध को 'कण' कहते हैं^६ । नृत्य को निम्नलिखित विभिन्न भागों से पुकारते थे जिसका अलङ्कार-अलङ्कार महत्त्व था^७ :

- | | |
|--------------|---------------|
| (१) सागव्य | (४) काल |
| (२) गङ्गा | (५) वृत्त |
| (३) काव्य | (६) वर्तन । |

कालिदास^८ नृत्य के बड़े सीढ़ीन माहिर रहते हैं । उन्होंने अपने नाटकों और महाकाव्यों में नृत्य के अनेकानेक दृश्य उपस्थित किये हैं । माहिकाभिहित में उन्होंने एक संपूर्ण दृश्य नृत्य तथा संगीत से कला दिया है । उसमें परिभाजिका माहिका के नृत्य की प्रशंसा करती हुई कहती है, 'जसके अङ्गमास से, जिसमें शब्द भी भरा हुआ है (कर्पात् जो अभिव्यक्ति में मुखर हो उठते थे),

१. रघुवंश ३, १९

२. वही ४, ५ ।

३. वही ७, ४१ ।

४. वही ७, ५३ ।

५. माहिकाभिहित १-४

६. साहित्यक १, १४—आद्यमण्डितव गतपामि ।

७. रघु १९ ।

८. ३, १९ ।

९. १, ७, ५ ।

१०. वही ।

११. वही ।

१२. वही

१३. अंक २ ।

अर्थ व्यक्त हो जाता है। उसका पादम्यास जय का अनुसरण करता है तथा साथों में पूर्ण सम्मेलन है। शास्त्रियों की भक्ति हाथों का अभिनय बहुत मत्त हो रहा है तथा अभिनय में एक भाव दूसरे को स्थानान्तरित कर देता है। फिर भी यह माही अभिव्यक्ति बनी रहती है।^{११} इसी नाटक में हमें चार प्रकार के नृत्यों का उल्लेख प्राप्त होता है (१) कथित (चार अंगों के गीत एवं वाद्यारण्य) (२) शुरुक (३) अभिनय तथा (४) समिष्ट (गान्त)।^{१२} संगीत की ही भक्ति नृत्य की संगीतज्ञाता में कुशल कलाकारों द्वारा सीखा जाता था।^{१३} इस कुली में स्वावसायिक शिक्षक होने लगे थे कभी-कभी परिमार्जिकाएँ भी संगीत और नृत्य सिखाने का काम करती थीं।^{१४}

नृत्य एक सम्प्रदायिक कला समझा जाता था तथा इसका व्यवहार किञ्चित् तथा सुसंस्कृत लोगों में भी होता था। स्वावसायिक नर्तकियाँ भी हुआ करती थीं जिन्हें 'नर्तकी' अथवा 'कासिका' कहा जाता था।^{१५}

७. ऐतिहासिक

आप्त, लीनिङ्गक, बरिदुन तथा काकिदास के द्वारा किञ्चित् अनेक नाटकों का अस्तित्व इस बात का स्पष्ट संकेत करता है कि विक्रमादित्य के युग में नाटक खेलने की कला प्रचलित थी तथा वे नाटक वाद्य अथवा अन्य साहित्यिक कृतिपूर्ण नहीं थीं अपितु ऐसा कि काकिदास ने अपने 'मातृकाभिमिश्र' की भूमिका में कहा है कि विक्रमादित्य के युग में वे नाटक खेलते लगे थे।^{१६} नाटक खेलने को प्रयोग अथवा उपस्थान कहते थे।^{१७} वचन काकिदास के सभी नाटक खेलते गये थे।^{१८} साधारण तौर पर नटु-सम्बन्धी त्योहारों के उत्सव में^{१९} अथवा विद्वान् वर्गों का मनोरंजन करने के लिए, जिससे सुसंस्कृत आलोचकों का

१ अत्रैरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्बन्धः पादम्यासो लवमनुमत्तसम्बन्धस्य १ तैनु
शास्त्राद्यभिर्नुद्विग्नवस्तुविक्रमादित्यस्य मायी भागं मुञ्चति विषयः शास्त्रमन्त्रः स एव॥

१, ८।

२. अंक २।

३. वही।

४. वही।

५. अमरकोश २ अ. ८-९।

६. अंक २।

७ काकिदासप्रवितवस्तुनाऽभिधानस्य कुम्भकन मयेन मयेन नाटकोपवसनात्मक-
रमाभिः अभिधानस्य कुम्भक. २। काकिदासप्रवितवस्तु मातृकाभिमिश्र नाम
नाटकमस्मिन्स्योत्सवे प्रयोक्तव्यमिति मातृकाभिमिश्र, २। शिवोर्व-
हीवन्, २।

८ देखिये सं० १ की पाद दिव्यनी।

९. वस्तुनोत्सवै-मस्तुका २।

अनुमोदन प्राप्त हो सके, वे नाटक खेले जाते थे ।^१ सुप्रसन्न अभिनेताभिराजकुमार का परिचय देते हुए कहता है कि—'मम त्वं मित्रानां को ज्योतिष न हो वाच, त्वं नाटक के प्रयोग को सफल नहीं मानता हूँ, क्योंकि मम के कृतमित्रत्व होने पर ही मित्रित लोगों को अपने पर भविष्यस होता ही है ।'^२

यद्यपि अधिकांश नाटक वास्तवी की राजसभा में खेले गये थे अतः कुछ मित्रानां का मत है कि 'यह कथा आवश्यक रूप से उक्त कुलों की ही थी, नाटक उस अर्थ में लोकप्रिय नहीं था जिस अर्थ में धूमानी नाटकों में यद्यपि गुण विद्यमान रहता है ।'^३ इसमें कोई सम्यह नहीं कि नाटक लोकनेवालों की कक्षा में परिष्कृत शक्ति, काशीय ज्ञान तथा आर्थिक समर्थता की आवश्यकता होती है ।^४ किन्तु इसका अर्थ राजसभा बाह्य कि आमजनाताओं की राजसभा में प्रथम बार नाटक का खेल कायाः बाद में राजसभा से कम महत्त्वपूर्ण स्थानों में खेले जाने की सम्भावना की महत् नहीं करता । उस राजसभा को, जहाँ नाटक खेल जाता था 'मेकाग्र', ईशान्य के सम्मुख को सुप्रसन्न तथा अभिनेताओं को वाच^५ कहते थे । ईशान्य में मेकाग्र^६ की होता था तथा नाटक के विभिन्न दृश्यों को विभाजित करने के लिए 'तिर्यकरी' अध्याय^७ भी रहते थे ।

नाटक के सम्बन्ध में जमरकोश में विस्तृत विवरण प्राप्त होता है । इससे अनुसार नाटक के साध सर्वथा गीत तथा वाच भी होता था ।^८ नाटक खेलने में क्षिप्रों भी भाग लेती थीं । किन्तु अभिनेताओं में अधिकांश पुरुष ही होते थे जो क्षिप्रों के वस्त्र धारण करके स्त्री-चरित्रों का स्थान किया करते थे । जो स्त्री-चरित्रों का भाग लेते थे वे भ्रुकुंठ या भ्रुकुंठ कहलाते थे । नाटक में भाग लेने वाली गणिका को जम्बुका कहा जाता था, जिससे पता चलता है कि कुछ गणिकाओं व्यावसायिक अभिनेत्रियों हुआ करती थीं । नाटक खेलने का प्रमुख हेतु विभिन्न स्थायी भावों—महान्, वीर, कल, चञ्चल, हास्य, भयानक, रोमांस और रौद्र तथा अन्य रोचारी भावों—की अभिव्यक्ति थी ।^९

१. लल्लुपुत्र २ ।

२. वही ।

३. व. की० की० संस्कृत कुंठा, ६० पृष्ठ ।

४. नाट्यशास्त्रिका, १

५. लल्लुपुत्र, २ ।

६. नाट्यशास्त्रिका २, २ ।

७. नाट्यशास्त्रिका २ ।

८. लल्लुपुत्र ।

९. २, ७, १० ।

१०. जमरकोश २, ७, १७ ।

८. साहित्यिक तथा कलात्मक कार्यों की पृष्ठभूमि

प्रथम शताब्दी ई० पू० में साहित्यिक और कलात्मक कार्यों के प्राचुर्य तथा उन्नति जीवन तथा शक्ति का कारण यह था कि ५० ई० पू० में विक्रमादित्य के द्वारा शकों के पराजय के पश्चात् अत्यन्त परिमोक्षर सीमा को ओढ़कर सम्पूर्ण देश में लगभग एक ही वैसीस वर्ष तक (५८ ई० तक जब शकों ने पुनः आक्रमण किये) विदेशी शासन से मुक्त होकर स्वतन्त्रता का उपभोग किया। यह स्थिति तथा तन्मूर्ति का पुनः भा तथा इसमें आत्माभिन्नता को अनुपम अवसर प्राप्त हुआ। इसी बात को भारतीय इतिहास ने कई बार हुड़ताया है। सीरों के काल में यूनानियों का पराजय, गुप्तकाल में शकों का पराजय तथा कुषाण-शक्ति के विस्तृत होने के पश्चात् भारतीय प्रतिभा ने साहित्य तथा कला के विभिन्न क्षेत्रों में लचीली दिशना और प्राणवत्ता के साथ साहित्य और कला के विभिन्न क्षेत्रों में अपनी अभिव्यक्ति की। कुछ विद्वानों ने यह कह कर इस काल की कला की समायवा की है कि पंजाब में हिन्दू-बाह्यियों (इन्डो-बैक्ट्रियन) के अस्तित्व ने लौची और अद्भुत की वस्तुवादी श्रुतिकला को प्रभावित किया है। यदि इसे स्वीकार भी कर दिया जाय तो भारतीयों ने (अपनी भूमि से उन्मूलित और भारत में ही पतन की अवस्था को पहुँचे हुए) हिन्दू-बाह्यियों से आकर्षण के कुछ अभिप्राय (ओरिजिन) ग्रहण किये। इस काल की कला की समस्त शक्त और अभिव्यक्ति भारतीय की तथा इसकी वस्तुवादिता और शैली प्रथम शताब्दी ई० पू० में फैले हुए शैलिक आनन्द अथवा शैलिक समुत्पन्न की उपज थी।



त्रयोदश अध्याय

आर्थिक दृष्टा

१. अग्रस्त्री (पश्चिमी प्रांतका) की मौगोलिक स्थिति

अग्रस्त्री का प्रदेश जो विजयनगर के उत्तर-पश्चिम के अन्तर्गत था, भारत के आधुनिक प्रदेशों में से था। इसने देश के विभिन्न भागों से लोगों को उपनिवेश, कृषि और उद्योग के लिए आकृष्ट किया। उद्योग तथा दक्षिणापथ को जोड़ने वाला प्रधान मार्ग अग्रस्त्री से होकर जाता था तथा व्यापार और व्यवसाय की उन्नति के लिए बड़ी सुविधाएँ प्रदान करता था। सकलाय भी कठिमे तथा दीर्घ परिभ्रम के अनुकूल था। भारतीय इतिहास में बहुत पहले ही अग्रस्त्री भौगोलिक परिस्थितियों के कारण आर्थिक रूप से उन्नत थी। मार्कण्डेयपुराण (अयोध्या के पूर्ववर्ती नरेशों) तथा पाण्डवों के बहुत लक्ष्यविषयक उल्लेख से प्रचीनों, ओषों और छत्रों के शासनकाल में अग्रस्त्री भारत का एक बड़ी प्रदेश था।

२. प्रथम शक अभियान तथा उसके आर्थिक परिणाम

३० ई० पू० में होने वाले प्रथम शक अभियान ने देश के आर्थिक जीवन को पूरी तरह प्रभावित किया। चर्चर शक जिस प्रदेश से हाकर गये उस प्रदेश को प्रवृत्त करके ही बोवा : उन्होंने तर्कों को लका दिया चरकों को लक्ष्य कर दिया, ललता का विनाश किया और सामान्य जन-जीवन को शक्तिहीन कर दिया।^१ वे केवल विनाशकारी थे : आर्थिक बर्बादी को संगठित करने की क्षमता उनमें नहीं थी। अग्रस्त्री में आधिपत्य जमाने तथा बस जमाने के पक्षान् भी उनका प्रयास केवल देश के आर्थिक साधनों की रक्षा और उन्नति किये बिना ही उसका शोषण तथा अपने कोष को भरना था। शकों की इस शोषक नीति की पुनरावृत्ति में निष्कलिकित शक्तों में निम्ना की गयी है : 'तब शकों के राजा होंगे जो अति शक्तिशाली किन्तु छोटी होंगे।' शकों की आर्थिक नीति का परिणाम यह हुआ कि जनता दरिद्र और शून्य हो गयी।

^१ अने वास्तव्यंत सुदृढ चरमभारतित अनेतः । पुनपुन २, ५२

२ अकाला न लते राजा शर्वकुम्भी महाचक्र । पुनपुन २, ५२ ।

६. विक्रमादित्य के द्वारा आर्थिक पुनरुद्धार

अनुश्रुतिपत्रों इस विषय में एकमत हैं कि शकों के निष्कासन के उपरान्त विक्रमादित्य ने जो प्रथम कार्य किया वह देश का आर्थिक पुनरुद्धार था। एक अनुश्रुति के अनुसार 'कदा के एक से उन्होंने पृथ्वी का मुक्त भोग। उनकी वीरता की प्रशंसा किस तरह की जा सकती है? उनमें सुभिक्षि जैसी उदाहरण थी। उनकी शक्ति सर्वत्र स्थापित हो गयी थी। उन्होंने सम्पूर्ण पृथ्वी को दुःखों से मुक्त कर दिया था।'^१ एक दूसरी अनुश्रुति में यह कहा गया है 'हय प्रकार विचार करके महान् श्रेष्ठ विक्रमादित्य ने प्रभूत वान से, जो असंख्य भिक्षुओं की इच्छाओं और प्रार्थनाओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त था, सम्पूर्ण पृथ्वी का लाल लुका दिया और देना करके उन्होंने वर्तमान (सैन्य धर्म के संस्थापक) के पुत्र में एक नया मोक्ष-विष्णु प्रस्तुत किया।'^२ अभावकचरित की काठकाचार्य-कथा में भी विक्रमादित्य के इतिहास और लाल से पृथ्वी को मुक्त करने का उल्लेख है। इन सभी अनुश्रुतियों से स्पष्ट है कि विक्रमादित्य अपनी प्रजा, जो शक आक्रमणों द्वारा लुट-जलोढ़ की गयी थी, के आर्थिक पुनरुद्धार के लिए कितने उत्सुक थे। उनके द्वारा कुल संघर्ष की स्थापना न केवल राजनीतिक चरम आर्थिक दृष्टि से भी स्वर्णयुग की प्रतीक बन गई और देश ने विदेशी आक्रमण तथा लोभ से मुक्त होकर आग्नि और समृद्धि का अभ्योग किया, जो सत्ताधीन साहित्य में प्रतिबिम्बित है।

७. विभिन्न प्रकार की भूमि

विक्रमादित्य के पुत्र में आर्थिक जीवन का मुख्य आधार भूमि विभिन्न प्रकार से विभक्त थी। अमरकोश^३ में निम्नलिखित प्रकारों का उल्लेख है।

- (१) उर्वरा
- (२) जंगल
- (३) मरु भूभाग अथवा अजगल
- (४) शिकार भूभाग अथवा शिकार

१. कदाचैत पृथ्वी मुक्ता, श्रीर्षे कि रचते? श्रीर्षे सुभिक्षिस्तेव। अकः सर्वत्र कुलः सर्वे पृथिव्यनाम्। इति। वैष्णवादिद्वयोर्देशाभ्यां वृत्तम्। (विक्रमादित्य, ३२ (संक्षिप्त पाठ इस्टन; विक्रमादित्य एडिन्बर्ग। भाग २३ पृ० २२२।)

२. ".....पृथ्वीमुक्तो हयः। सर्वमजस्रस्यारवराजानकरोय। इति, १६ (सैन्य पाठः इस्टन-विक्रमादित्य एडिन्बर्ग भाग २६, पृष्ठ ० आई० पृ०)।

३. २, १, ६, ११।

- (५) साहूक
- (६) पंक्ति
- (७) भूतृप अथवा जलमय (तराई प्रवेश)
- (८) कम्बु (कङ्क़ार)
- (९) शाकर (कंकड़ों और चूना के पत्थरों से भरी हुई भूमि)
- (१०) सैकल (बालुकासयी भूमि)
- (११) परिसर (पहाड़ के समीप की भूमि)
- (१२) जटवी (वन)

५. कृषि

प्रमुख प्रकार की भूमि (जो काफी रही होगी) जिसमें कृषि होती थी, उर्वरा थी । इसकी परिभाषा ऐसी भूमि कहकर दी जाती है जो सभी प्रकार के भास्वी के उत्पादन के योग्य होती है ।^१ सिंचाई की सुविधा के आधार पर भूमि को दो भागों में बाँटा गया था—(१) नदीमालुका (नदियों से सिंचाई की जाने वाली भूमि, (२) वैवमालुका^२ (जिसकी सिंचाई वर्षा से होती है) । प्रथम प्रकार की भूमि में कृषिज ज़ीलों भी होती थी जिसकी अवन्ती में अधिकता थी । सरकार कृषिज ज़ीलों के निर्माण में सहायता देती थी क्योंकि लोगों की कृषि-प्रगति उन्हीं पर निर्भर थी । इनके को (१) सेमालीची (ज़ीलों पर अवन्त कीवण बितायेबाका) (२) अर्चक (जोलनेबाका) (३) कृषिक (जो कृषिकर्म करता है) (४) कृषीवक (जिसके पास ज़ेत हों) कहा जाता था ।^३ कृषिभोग्य भूमि को (१) वम (२) केवार (३) केव कहा जाता था । ज़ेतों का विभाजन उनमें बोये हुए बीजों के आधार पर होता था :^४

- (१) मैदिय (जिसमें भाग की ज़ेती होती है ।^५)
- (२) बाकोम (वह ज़ेत जिसमें भाग बोया जाय ।^६)
- (३) वम, पचवच पटिचय (जिसमें पच बोया जाय ।^७)

१. बही १, ४, २

२. उर्वरा सर्वस्वभाष्य : बही २, १, ६

३. नमदकोय १. २, १३

४. बही, १, १, ६

५. बही १

६. बही

७. बही, १, १, ७ पटिचय एक प्रकार का वम होता था जो ३० दिन में एकत्र था इससे पीछे तथा भास्वी की क्षीय उत्पत्ति के हाल और प्रक्रिया का पता चलता है

- (४) तिक्क और तैलीम (जिसमें तिक बोया जाय^१) ।
 (५) मान्य अथवा मानोण (जिसमें उरक् बोई जाय^२)
 (६) उरक् या श्रीमीम (यह खेत जिसमें उमा अर्थात् अकली बोई जाती है^३) ।
 (७) मौत्रीम (यह खेत जिसमें मूंग पैदा की जाती है^४) ।
 (८) कौटवीम (जिसमें कोरों पैदा किया जाता है^५) ।
 (९) गौपूमीम (जिसमें गेहूं पैदा किया जाता है^६) ।
 (१०) चालकीम (जिसमें चना उगाया जाता है^७)
 (११) शाकीम (जिसमें शाक उत्पन्न होता था^८) ।

कृषि की वही पुरानी कठिनात प्रक्रिया प्रचलित थी । जोती हुई भूमि को सीम, हल्ल अथवा हल्ल कहते थे । ये सभी शब्द जोतने की प्रक्रिया की ओर संकेत करते हैं^१ खेतों को एक बार दो बार जोता जाता था^२ इससे कृषि-धीमा धूमि की आवश्यक उर्वरता का पता चलता है । हल को (१) कांराक, (२) हल, (३) गोदाराण, और (४) सीर कहा जाता था^३ । हल क फाक को फल अथवा फाक कहते थे^४ । हल से दही हुई कमीर की सीता और 'काञ्जकपद्धति' संज्ञा थी^५ । स्पष्टतः हल मैलों से रूँचा जाता था जिसकी नियंत्रण दण्डे (दाजल, लोहम अथवा लोत्र) से किया जाता था^६ मिश्रकिसित भाव्यों का उल्लेख मिलता है जिसकी खेती होती थी^७

- (१) भाद्य, ग्रीहि अथवा पादक (भाग)
 (२) पय अथवा कितदुक (जी)
 (३) लोभम (बड़ा लव)
 (४) कलपय, सलीमिक, हरेणु अथवा कलिदक (मटर)
 (५) ओरदूय अथवा कोदुम (कोरों)
 (६) मंगसवक अथवा मसूर
 (७) मुत्र (मूंग)

१. वही ।	२. वही	३. वही
२. वही २, १, ८ ।	५. वही ।	६. वही
३. वही ।	८. यह अमरकोश के सभी संस्करण में वही पाया जाता ।	
५. अमरकोश २, १, ८ ।	१०. वही २, १, ८-९	
६. वही २, १, १८ ।	१२. १, १३ ।	१३. वही १, १, १५ ।
१४. वही २, १, १९ ।	१५. वही २, १, १५-१६ ।	

- (८) सप्रेष, सन्धुम अथवा कश्मक (सरसी)
- (९) सिद्धार्थ (सन्धे सरसी)
- (१०) गोधूम अथवा सुसम (गेहूँ)
- (११) दाक्षक अथवा कुसमाच (कुसपी)
- (१२) जलक अथवा हरिसम्भक (जना)
- (१३) सिद्ध
- (१४) वन, राजिका, कुतामिजलव, कुम्भिका अथवा भासुरी (बहुत छोटी सरसी के नीज जिन्हें राई कहते हैं)
- (१५) अतसी, दमा, सुमा (अकसी)
- (१६) भादकी, काकी इत्यादि (अरहर)^१ ।

कृषि में विभिन्न प्रकार की तरकारियों का उत्पादन भी सम्मिलित या जिन्हें सामूहिक रूप से शाक, हरितक अथवा शिम्पु कहते हैं^२ । तरकारियों की एक संक्षिप्त सूचिका नीचे दी जाती है^३ :

- (१) कारबेड़, कठिन्नक अथवा सुचवी (करेडा)
- (२) पटौक, कुलक अथवा पट्ट (परक)
- (३) कृष्णमण अथवा कर्माक (कुम्हका)
- (४) कर्माडी अथवा दर्धक (ककवी)
- (५) ह्वनाकु अथवा कटुसुचवी (ककवी छोटी)
- (६) तुम्बी अथवा अलाहु
- (७) भिजा अथवा राबावी (ककवी के नाम)
- (८) सूरज, अर्शोज अथवा कम्बू
- (९) गोबीर (ककवा खुरज)
- (१०) कालिब (कीमू)
- (११) ज्योदिका (जोई)
- (१२) सुलक
- (१३) दिक्मोथिक (डुरहुक)
- (१४) मास्तुक (बंधुला)
- (१५) भण्डाकी, गालाकी, सिही अथवा हिंशुकी (बनभाँडा)
- (१६) ओपक अथवा भामार्ज (भेत गुरई)

१. पृ. २, ४, २१२

२. अमरकोश १, ९, ५६ ।

३. पृ. २, ४, १२४-१४८ ।

- (१७) महाजाली (पीछे फूट करी गुरई)
- (१८) ज्वीली, पटोतिका अथवा जाली (जलवेष्टा)
- (१९) लेजिका अथवा दारिका
- (२०) कुम्ह अथवा कुम्ह
- (२१) लम्हलीय अथवा लम्हमारिय (लोहाई)
- (२२) लम्हलीयिका
- (२३) लम्हलीय अथवा लम्हलीय (लम्ह)

३. जलान-कला

एक और पुष्पों का उत्पादन भी एक लम्हलीय यन्त्र द्वारा था। साधारणतः कालों को लम्हलीय अथवा जलान कहते थे। अमरसिंह ने विभिन्न प्रकार के जलानों का उल्लेख किया है।

- (१) लम्हलीय अथवा लम्हलीय (लम्ह के समीप जलान)
- (२) लम्हलीयिका (किसी मंत्री अथवा देश का जलान)
- (३) लम्हलीय अथवा जलान (लम्हलीय)
- (४) लम्हलीय (लम्ह के लम्हलीय का जलान)

एक लम्हलीय के अनुसार जलानों को लम्हलीय कहते थे। लम्हलीय पुष्प लम्हलीयों में लम्हलीय जाते थे जिन्हें लम्हलीय, लम्हलीय, लम्हलीय, लम्हलीय, या लम्हलीय कहते थे। लम्हलीय तीन भागों में विभक्त थे :

- (१) लम्हलीय (लम्हलीय के लम्हलीय जाते)
- (२) लम्हलीय (लम्हलीय के लम्हलीय जाते)
- (३) लम्हलीय (लम्हलीय के लम्हलीय जाते हैं)

अमरसिंह ने बहुत से लम्हलीय और पुष्पों को लम्हलीय है।

(४) लम्हलीय

- (१) लम्हलीय, लम्हलीय, लम्हलीय, लम्हलीय लम्हलीय (लम्हलीय)
- (२) लम्हलीय (लम्हलीय)
- (३) लम्हलीय (लम्हलीय का लम्हलीय)
- (४) लम्हलीय (लम्हलीय)

- (५) लसपण (कृतिवर्ती)
- (६) कम्पा (स्त्रा) क अधवा कृतभाण (अमलवास)
- (७) जंभीर (मोच)
- (८) भणन (वरना)
- (९) केसर (यकुल)
- (१०) मिम्वल
- (११) तिमिल (तिरण्ण)
- (१२) ज्ञाज्ञातक (अवादा)
- (१३) मधूक (मनुष्या)
- (१४) पीलु (वैरी जकरोड)
- (१५) अक्षोड (पद्माक्षी अक्षरोड)
- (१६) सोभाजन (संहिजन)
- (१७) विषय अधवा भीफल (वेळ)
- (१८) ललव (वाळव)
- (१९) ज्यमोथ अधवा वट (वरमव)
- (२०) भाज, मूल अधवा वलाण (भाज)
- (२१) सहकार (सुगमिजल भाज)
- (२२) दोलु अधवा इलेम्मातक (लिलोडा)
- (२३) मवरी, कर्मण्यु अधवा कोली (कोरी वेर)
- (२४) ऐरावत अधवा नावरंत (गारगी)
- (२५) गुल अधवा गुह (वाहगुल)
- (२६) कवम्ब अधवा हरिमिथ
- (२७) निम्बा अधवा जाम्बिका (इमली)
- (२८) कीरिका (किरी)
- (२९) आमलक, अमूल (औचला)
- (३०) लकुण अधवा कडु (कडहर)
- (३१) पलस या कंदर्पकण (कडहल)
- (३२) दाबिम (अमार)
- (३३) वाचा (जंगूर)
- (३४) कदली अधवा दुग्धा (केला)

(आ) पुष्प*

- (१) सिरिष, कवीरन, जमिड (सिरिज)
- (२) चम्पक (चम्पा)
- (३) बकुल अथवा केसर (मीठसिरी)
- (४) नागकेसर
- (५) मल्लिका
- (६) शेफालिका
- (७) तमिळा अथवा ज्युमिका
- (८) माधवी अथवा वासन्ती
- (९) माकली अथवा वासि
- (१०) सलका, नचमल्लिका वा नचमल्लिका (जोगरा)
- (११) गुग्गु
- (१२) रक्तक अथवा बभ्रुक
- (१३) सदा अथवा कुमारी (विकुमार)
- (१४) कोकपुष्प अथवा जवापुष्प (गुण्डक वा कोककुल)
- (१५) प्रसिद्ध अथवा करवीर (कनेर वा कनहू)
- (१६) क्वरीर
- (१७) मरुतक
- (१८) मन्दार
- (१९) पारिजात
- (२०) हरप्रभार
- (२१) मीकली

७. वन

देश की साधिक सम्पत्ति में वन एक समृद्ध साधन था। इससे निम्न किन्ति वस्तुएँ प्राप्त होती थीं :—

- (१) काष्ठ
- (२) लकड़ी तथा हृदय
- (३) औषधिवर्ष, लक्ष्मी-वृष्टिवर्ष, फल इत्यादि
- (४) मसाले

* यहाँ १, ४, १६ और २० अर्थ ।

(५) मध्य पट्टा, उनके लम्बे तथा दृढ़िर्वा

(६) बास

(७) खन से प्राप्त कच्चे माछ से बहुत से पक्के माछ तैयार किये जाते थे ।

६. खनि अथवा शोकर

लामे (स्थलीय और समुद्रीय) भी देश की अर्थ-तन्त्रिका का एक साधन भी । उनसे बहुतसारे पथर, धातुयें तथा विभिन्न उपयोगों में काम आने वाले विभिन्न लाभदायक पदार्थ उत्पन्न होते थे—

अ. बहुमूल्य पदार्थ (रत्न या मणि)^१

(१) भस्मय अथवा गजस्मय

(२) पथरगत, शोणराज अथवा कोहितक

(३) मुक्ता अथवा शैलिक

(४) मलाक जववा विद्रुम

(५) सुवर्णात^२

(६) वैदूर्य^३

(७) महाबीज^४

(८) मर^५

(९) रजसिक्त^६

(१०) सूर्यकान्त^७

(११) चन्द्रकान्त^८

आ. धातु^९

(१) सुवर्ण, कनक, हिरण्य

(२) रजत अथवा कृत्त

(३) रीति या आरकूट (पीतल)

(४) ताक

(५) लोह या लोहम्

(६) कांस अथवा सार (कौंस)

(७) पाश्च, रसे अथवा जपक (पारा)

१. समरखोच २, ४ ।

२. गह्वी, ९, १, १२, १३ ।

३. रत्न १८, ३२ ।

४. कुमार १, २४ ।

५. गह्वी, १, १५ ।

६. गह्वी १८, १५

७. गह्वी ११, २१ ।

८. मेख १-१३ ।

९. अमर ३, ९, १४-२०५; ४१-४३

- (१) गो (गाय)
- (२) गोकुल (गावों का कुल)
- (३) उद्यम् या अलीवर्ग (बैल)
- (४) मात्सक (बकरों का कुल)
- (५) महिष (बैल)
- (६) पण्ड अथवा गोपति (साँव)
- (७) उष्ट्र (ऊँट)
- (८) वरभ (ऊँट का बच्चा)
- (९) अला या खानी (बकरी)
- (१०) अज अथवा बाग (चकरा)
- (११) मेव (मेवा)
- (१२) गर्वभ या शसभ
- (१३) हरती
- (१४) विभिन्न प्रकार के घोड़े :
 - (क) आजमेय (एक अच्छी तरह का घोड़ा)
 - (ख) विनीत (प्रशिक्षित)
 - (ग) बनावुल (अरबी घोड़ा)
 - (घ) पारसीक (पारस का घोड़ा)
 - (ङ) काम्बोज (अफगानिस्तान का घोड़ा)
 - (च) बाह्लीक (बख्त से आया हुआ घोड़ा)
 - (छ) ययु (अशमेय का घोड़ा)
 - (ज) जवत (शीघ्रगामी अश्व)
 - (झ) गुहय (पीठ पर बोस होने वाला घोड़ा)
 - (ञ) रथ्य (रथ में चलने वाला घोड़ा)

उपर्युक्त पशुओं के अतिरिक्त बहुत से अन्य पशु तथा पक्षी थे। यद्यपि उन्हें पाला नहीं जाता था किन्तु उनके मांस, चर्म, बाल और पंखों के द्वारा देश की कार्यिक स्थिति में वृद्धि होती थी।^१ पशुपालन से सम्बन्धित दूध का व्यवसाय भी होता था। दूध को गुग्ग, खीर अथवा पयस् कहते थे और इससे बनी हुई वस्तुयें सामूहिक रूप से पापस नाम से अभिहित होती थीं।^२ दूध से बनी हुई मिश्रकृत वस्तुयें लोकप्रिय थीं।^३

१. अश्वच्छेद-२-३।

२. यज्ञी २-१-५३।

३. १-९, ५३-५४।

- (१) मूत्र (पतका दही)
- (२) मूत अधवा भाज्य
- (३) मधुमीत
- (४) गोरस, भरिह, काळरोम अधवा दण्वाहत (भट्टा)
- (५) तक्र (एक चौथाई पाणी मिलाया हुआ दही-मट्ठा)
- (६) जद्विह (साधा जल मिलाया हुआ दही-मट्ठा)
- (७) मयित (मधा हुआ किन्तु बिना जल मिलाया हुआ दही)
- (८) मध्व वा मस्तु (दही से निकका हुआ जल)

१०. उद्योग और व्यवसाय

सम्पन्न हवि, वन, जल तथा पट्ट साधनों के कारण ऐसा ही बहुसंख्यक उद्योग-धन्धे हो गये थे। कुछ सहायपूर्ण उद्योग-धन्धे भी व्यवसाय किम्वद्विहित हैं।

(१) बक्रीघोस-यह आर्थिक महत्त्वपूर्ण उद्योग था। बूच या लम्ब, कार्पास (कपास), ऊँ (ऊन), कोश (रेशम), चीम (भकसी के रेशे), श्व (झक) इत्यादि से तैयार किये जाते थे। जपड़े को तन्तुबाध या कुचिह नामक साधनों द्वारा भी।^१

(२) दूर्जों का काम-यह हुनने से सम्बन्धित था। दूर्जों को तन्तुबाध अधवा सौधिक कहते थे।^२

(३) रैगाई-जपड़े विभिन्न रंगों से रंगे जाते थे। रैंगने दूर्जों को रैगाशीम अधवा विचकार कहते थे।^३

(४) जमड़े का काम-पातुकृत या जर्मकार इस धन्धे को करते थे।

(५) मिट्टी के बर्तन बनाना-यह कुम्भकार अधवा कुलाओं का पेशा था।^४

(६) छोड़र या म्पाकर।^५

(७) जर्मकार।^६

(८) सौधिक या पातुकृत (लोह)

(९) लका या जर्मकी (बड़ई)^७

१. मयरोसो १-६०, ५-४६

२. दही १, ६०, ६८; २, ६०, ६

३. दही २, ६०, ६।

४. दही २, ६०, ४।

५. दही १, ६०, ६।

६. दही १, ६०-७

७. दही २, ६०-८

८. दही १, ६०, ६।

(१०) शीघ्रिक अथवा सम्बन्धकारक (मदिरा बनाने वाला)^१

विभिन्न प्रकार की मदिराओं बनायी जाती थी :

(क) मधु, मध्यासन, माधवक (मधुक पुष्प से बनायी हुई मदिरा)

(ख) मैरेय (गुड़ से बनी हुई मदिरा)

(ग) किम्ब (चावल से तैयार की हुई मदिरा)

(११) माकाकार अथवा मासिक (माछी)^२

(१२) कोष अथवा पल्लव (धरों की गुत्ताई करने वाला)

(१३) शांतिका अथवा काम्बविक (पृथ्वी बेषधनेवाला)

(१४) नापिल या तुरी (नाई)

(१५) रजक (घोड़ी)

(१६) देवल या वैशाजीव (पुरोहित)

(१७) मायावी अथवा सायवरी (बादू करने वाले)

(१८) सौख्य या मर

(१९) अरथ या कुशीक

(२०) विभिन्न प्रकार के वाद्य बजाने वाले

(२१) साकुनि अथवा काकिक (बहेकिया)

(२२) मसिक अथवा वैतसिक (मसाला)

(२३) किलव या वृत्तकृत

समस्तान्ध अधिकांशता कामिन्ध पर ही आधारित थे । प्रत्येक जाति का अपना अलग-अलग पैरा था और इसके सदस्य अपने जातीय विवेको ही करते थे । हस्तकीशलकार तथा कलाविदों को सामूहिक रूप से काद या मिश्री कहा जाता था । वे वर्गों में संगठित थे जो अपनी अथवा कुल नाम से अभिहित होते थे । संगठन के मामले में उनके अपने नियम व चन्चन थे । भेदियों का प्रधान कुलक अथवा कुल-अधि कहलाता था ।^३

११. अस

उद्योगधर्मों, अन्य व्यवसायों तथा घरेलू कार्यों में अनेकों को रक्षा जाता था ।^४ इनके दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(१) वेतन पाने वाले और (२) दास । प्रथम वर्ग के अनेक (१) वृत्तक, (२) वृत्तिभुज, (३) कर्मकर, और (४) वैतनिक कहलाते थे । दूसरों के

१. यही २, १०, २९ ।

२. यही २, १०, ५ और नाले ।

३. उपर २, १०, ५ ।

४. यही २, १०, २५ से जाते ।

विश्वकितित नाम ये—(१) सृष्टि, (२) वातेर, (३) दातेष, (४) दात, (५) गोप्यक, (६) वेडक, (७) नियोजन, (८) किंकर, (९) मेध्य, (१०) भुजिष्य और (११) परिपारक । वेतन और पारिभूमिक का विभिन्न रूप से संकेत किया गया है—(१) कर्मण्य (काम के दृष्टे औ विषय भाव), (२) विध (३) भूति, (४) भर्मन्, (५) वेतन, (६) भूत, (७) अरण, (८) भव्य, (९) सुख, (१०) पण । कुशल और अकुशल भूमिकों का पृथक्-पृथक् विभाजन होता था । कुशल भूमिक को (१) दृष्ट, (२) चतुर, (३) पेशक, (४) पटु, (५) सुत्यान वा (६) ज्ञान कहा जाता था तथा अकुशल को (७) मन्द, (८) तुष्टपरिचय, (९) आकस्य (१०) शीतक, (११) अलस वा (१२) अनुप्य साथों से पुकारा जाता था । उपर्युक्त दृष्टान्तीकरणकार तथा कलाविदों की तुलना में भूमिक वर्गों में संश्लेषित नहीं जान सकते हैं । वेतनभोगी साम्राज्य भूमिक समाज में विभिन्न ओतों के लिये जाते थे । अनुप्यति में, जो कदापि पृथक् वातावर्य पूर्व किसी गई थी, विश्वकितित प्रकार के वातों का संश्लेष है जिससे वातों के अङ्गों का अनुमान किया जा सकता है :

- (१) भव्यादृत (युद्ध में पकड़े गये)
- (२) भव्यादृत (श्लेषका से वासना करने वाले)
- (३) सुधन (घरों में उपक)
- (४) कीत (कष्ट किया हुआ)
- (५) दृष्टि (किसी के द्वारा विधा हुआ)
- (६) वैदक
- (७) दृष्टवात (जिसको वासना का दृष्ट मिला हो)

वेतनभोगी तथा पारिभूमिक धानेवाले स्वतन्त्र थे । उनका अन्न पेशिष्य था जब कि दास स्वामियों के आश्रित थे । दोनों प्रकार के भूमिक अपने स्वामियों से मिन्न-भिन्न प्रकार से व्यवहृत होते थे ।

१२. व्यापार तथा वाणिज्य

(१) व्यापारी वर्ग

रैत का आर्थिक उत्पादन विभिन्न भाषाओं से हो रहा था अतएव व्यापार और वाणिज्य दोनों ही उन्नति के उच्च स्तर पर थे । व्यापारियों के विभिन्न अभिधान थे ।^१

- | | |
|------------------|-------------------|
| (अ) वैदेशिक | (उ) वणिक् |
| (आ) सार्वपात्र | (रु) पम्पाजीव |
| (इ) नौगम | (ऋ) आपणिक |
| (ई) वाणिज्य | (ऋ) ऋष-विक्रयिक |

उन्में मुख्य, मूलधन (परिपत्र या लीवि), काभर तथा म्मास (काम तथा उपधि-उपवा जमा करना), विनिमय (परिवान, परिवर्तन, सेवेक अधवा निमय), ऋष्य (विक्रय के लिए वस्तुओं का प्रवर्णन), ऋष्य मयवा ऋष्य (जारीही जाने वाली वस्तुएं), पम्पा अधवा पणिलम्ब (जिन्हें जारीवा-मेंवा माय), संधापन, सत्यकार अधवा सत्याकृति तथा विक्रय या विपण का अन्तर्गत ज्ञान या ।

(२) मार्ग

उन्मत्त व्यापार के लिए सबसे पहली आवश्यक वस्तु देस में उन्मत्त मार्गों तथा मयकों का होना है । विक्रयार्थ के पुन में देस में अनेक अन्धे मार्ग (जतिपम्पा, सुपम्पा, सुपथ) थे । यद्यपि भारतवर्ष के कुछ भागों में मार्ग बहुत कठिन (पुरम्प विपण, कापथ) थे । कुछ मार्ग दूर, पृकाशत तथा जलहीन मार्गों से होकर जाते थे तथा कुछ गहन बनों (काभार) से । व्यापार तथा वाणिज्य के लिए राजमार्ग को यथावय, संसरण, भद्रापथ, राजपथ अधवा भरेन्द्रमार्ग कहते थे । काकिवास के ग्रामों में वर्जित निम्नलिखित मार्गों से भारतवर्ष के कुछ राजपथों के संकेत संकलित किये जा सकते हैं ।

(अ) रघु के विधिजय का मार्ग^१

यह जयोध्या से आरम्भ हुआ था और सरयू नदी के यथ का अनुसरण करते हुए बिहार में गंगा तक गया था और इसके किनारे-किनारे बंगाल में जा पहुँचा था । यहाँ से वह दक्षिण की ओर घूम गया था और उड़ीसा तक आया था । तब कलिंग, काभ्य और प्रावित्र देसों को पार करते हुए सुवूर दक्षिण की सीमाओं का स्पर्श करता था । फिर वह उत्तर-पश्चिम की ओर घूम गया था और पश्चिमी घाट की मञ्जुकाओं का अनुसरण करते हुए सिन्ध तक गया था । यहाँ वह दो भागों में विभजित हो गया था—पश्चिमी सागर (अरब

१ यही २-२५ से जाते ।

२ कुमारसम्भव ७, १ रघु २५, ३०; रघु ४-६७ भाष्य १, १७; ५, २० ।

३. रघु ४

सागर) से होकर आनेवाया जलमार्ग और स्थलमार्ग जो दक्षिणी बलुचिस्तान से होकर जाता था और पारस की सीमाओं का स्पर्श करते हुए उत्तर और उत्तर-पूर्व को बूम गया था। हिन्दुस्तान को पार कर के यह मार्ग मध्य एशिया तक गया था और पुनः दक्षिण पूर्व की ओर बूमकर पामीर के पठार से होते हुए कश्मीर के मध्य से भारत में प्रविष्ट होता था। उत्पन्न हिमालय के दक्षिणी ढालों से होकर यह कामरूप (आसाम) पहुँचता था। दिग्विजय का यह सैनिक मार्ग अवश्य ही अनेक मार्गों में विभक्त रहा होगा जो वाणिज्य और व्यापार के लिए प्रयुक्त होनेवाले स्वकमार्गों से सम्बन्धित थे।

(ग) अयोध्या से ओझों के रेरा (बरार) तक आज के अभिमान का मार्ग^१

यह मार्ग अयोध्या से आरम्भ होकर प्रयाग के निकट गंगा को पार जाता था और विन्ध्यप्रदेश तथा महाकोशक (उत्तरी-मध्यप्रदेश) से होकर बिहरी (बरार) पहुँचता था।

(ह) मेघदूत का मार्ग^२

यह मार्ग शमिति (रामदेक) से आरम्भ हुआ तथा मध्यप्रदेश और विन्ध्यप्रदेश होते हुए उत्तरप्रदेश के बर्दागिरे में स्थित चित्तकूट पहुँचा वहाँ से काकिदास ने दूत की उन्नयिनी की ओर सौध दिया जिससे यह पता चलता है कि चित्तकूट और उन्नयिनी को मिलानेवाला एक मार्ग था। उन्नयिनी से सेवदूत सीधे मार्ग का अनुसरण कर राजपूताना, पश्चिमी मध्यप्रदेश, तथा हिमालय से होते हुए अलका में पहुँचा जो कैलाश पर स्थित आती गयी है।

काकिदास द्वारा प्रासंगिक रूप से वर्णित मार्गों के अतिरिक्त व्यापारिक तथा सैनिक केन्द्रों को संयुक्त करनेवाले अन्य मार्ग भी अवश्य रहे होंगे।

विक्रमादित्य के समय में भारत की दक्षिण के पश्चिमी देशों, भारतीय महासमुद्र के द्वीपसमूह, पूर्वी एशिया के देशों से आनेवाले वाता जलमार्ग भी था, यह अनेक प्रमाणों से सिद्ध होता है।^३ एक समुद्रीय मार्ग पश्चिमसागर, कालसागर तथा भूमध्यसागर के तटों से होते हुए भारतवर्ष को पारस, अरब, सीरिया, यूनान तथा रोम से जोड़ता था।^४ राष्ट्र ने अपने दिग्विजय के सिकसिद्धे में सिन्धु पहुँचने पर पारस आने के लिए स्वकमार्ग को ही चुना

१. राज, ५।

२. मेघदूत

३. राज, ५, १३, १४, २, ५७; साकुन्तल ५०-२२५।

४. राज, ५, ६०।

का जिससे पता चलता है कि एक समुद्रीय मार्ग भी था। रघु ने बंगाल में एक बन्दे का सामना किया।^१ यह तथ्य इतक से इस बात का संकेत करता है कि बंगाल के लोग व्यापारिक कार्यों के किम्बु समुद्रीय मार्ग रखते थे। अभिजातशास्त्रकारों में एक बड़ी समुद्रीय व्यवसायी का उल्लेख है जो समुद्रीय व्यापार कर रहा था। उसकी पुराने दोल भग्न हो जाने से हुई।^२ चीनीयाक (चीनी देश) का बहुतो उल्लेख भारत और चीन को जोड़नेवाले समुद्रीय मार्ग का संकेत करता है।^३

(३) अन्तर्देशीय व्यापार

प्रथम शताब्दी ई० पू० में अन्तर्देशीय व्यापार उन्नत दशा में था तथा एक प्रांत की उत्पादक वस्तुओं को विक्रयार्थ दूसरे प्रांतों में लाया जाता था। हिमाचल के प्रदेशों से कचरा तथा जर्सी-बुटियाँ, उत्तर-भारत के मैदान से कृषि से उत्पन्न वस्तुएँ एवं कच्चा, विन्ध्यपर्वत की ओगियों से भातुएँ एवं धन के उत्पन्न वस्तुएँ, दक्षिण से बहुमूल्य रत्न और भातुएँ, सुदूर दक्षिण से बहुमूल्य सुवर्ण व रत्नादि भेजाके, कलिंग और कामरूप से ज्ञाभी, सिन्धु तथा कश्मीर से घोड़े और सुदूर दक्षिण पूर्वी भारत से सीता व मूंगे अन्तर्देशीय बाजारों में लाये जाने थे तथा व्यापारी काजहाजक व्यापार के किन्बु सदा धूमते रहते थे। भारत के अधिकांश सीमांत पर व्यापार के मार्ग सुरक्षित नहीं थे, क्योंकि विदेशी शत्रुओं और पक्षुओं के आक्रमणों का भय बना रहता था। किन्बु भारत के अन्तर्भागों के पथ सुरक्षित थे। 'सर्वबाह्य पर्वतों पर इतनी निमित्तता से घुमा करते थे मार्गों उन्नत दशा में थे, बाटियों में ऐसे चलते थे, जैसे कुतों पर चलते हैं और जनों से इस प्रकार विचारण करते थे मार्गों बाटिका में विचारण कर रहे हों।'^४

(४) विदेशी व्यापार

भारतवर्ष बहुत ही वस्तुओं का आयात करता था। 'भरतकोश' से विदित होता है कि जम्बूी नरक के घोड़े भरघ (बगायु) और फाल्स से आते थे। चीन से चीनी देशम^५ तथा हिममहासागर के द्वीप-समूहों से सुगन्धित भस्माके, धूप आदि वस्तुओं का आयात होता था। विक्रमादित्य से कुछ ही समय

१. पृष्ठ ४, १६।

२. समुद्रव्यवहारी मार्गबाह्य चीनमार्ग से विषयः

३. कुमारः ७; शाकुन्तल १, २०

४. रघुः १७, ६४

५. भरतकोश २, ८, ४५

६. कुमारसम्बद्ध ७-१, शाकुन्तल १-२०

परमार के एक ग्रन्थ 'दि पेरिप्लस ऑन दि इरीथ्रियन सी' से भारतवर्ष में पाञ्चात्म देशों के ज्ञापन पर पचास प्रकाश पड़ता है। इसके अनुसार निम्न-लिखित वस्तुएँ वहाँ से आती थीं—तँबू, टिम, सीसा, मूंगे, पधराण, चकमक, पत्थर, सोने व चाँदी की मुद्राएँ, बहुमूल्य रत्न-पथ, सकंहम, सुम्बर कपड़े, मीठी कचंग, बड़िया जराब, रंगी हुई करभरी, सुम्बर वस्त्र, लोपे हुए तम के कपड़े, नायक रुक्के और राजा के अम्तःपुर के सेवार्थ सुम्बर कुमारियाँ आदि।

भारत से भी ज्ञान प्रकार की वस्तुएँ बाहर आती थीं। 'दि पेरिप्लस ऑन दि इरीथ्रियन सी' से विदित होता है कि भित्तिलिखित वस्तुओं का पुरिका, युरोप और अफ्रीका के दक्षिणी देशों में निर्यात होता था। हाथीदाँत, पाकपरम (सुलेमाबी कपड़), सुम्बरोप, चिर्चिद भौति-भौति के सूती कपड़े, रेशमी वस्त्र, कोमक वस्त्र, सूत, जसाके, प्रचुर साध में जलम सोती, बहुमूल्य रत्न तथा हीरा, नीलम, कुर्मकरी, (हिमाचल प्रदेश से)।^१

भारतवर्ष में उत्तर की अनेक दक्षिण में वैदेशिक जल-मार्गों पर स्वभावतः ही उन्नत रहा है था। 'तामिक साहित्य, पुनाम और रोम के इतिहासकारों के वर्णन तथा दक्षिण भारत में (जो उस समय एक और अधिक दोनों मार्गों से पुनामी देशों के निम्न सम्पर्क में था) प्राप्त बहुमूल्य रत्न रोमक सिक्कों से, ईसवी सत्रह के कुछ पहले और बाद की कलाकृतियों में विदेशी व्यापार का विस्तार प्रमाणित होता है।' यद्यपि व्यापारी निम्न, बहुमूल्य रत्न, जलम रत्न और कपल का भूत करोड़ों के सिद्ध दक्षिण के समुद्रमार्गों और पुरों में प्रकाश होते थे।

१३. अधिकोपन तथा कुसीद

विभिन्न व्यवसायों तथा पेशों के अनेकानेक संघ (गिगम, भोजी एरा तथा संघ) बन गये थे जो विक्रमादित्य के युग में अधिकोपन (बैंक) का काम करते थे। उनमें से एक जमा करने के निम्नलिखित प्रकार स्वीकृत थे :

(१) निक्षेप (२) व्यास (३) नीधि

संघ और धनी व्यक्ति व्याज पर कपड़ा उधार देते थे। महाजनों को उन्नतर्षी तथा लूण लेनेवाले को सम्पत्ति बहुत मिलती थी। उधार पर व्याज

१. २५० क क द्वारा अनुवृत्त पृ० २८०-२८८ : एकता और अन्य कलकों से भी इस बात की पुष्टि होती है। २. यही।

३. ६० नी० ईदेल विरही नाक मार्बन फल इन इतिहास, पृ० १८०

४. अमरकोश ४ १, ७८ और भागे; १, १. ३ और भागे

की संज्ञा कुसीद अथवा बुद्धि भी : जो छोटा बाल का काम करते थे उन्हें कुसीदक, धार्थिक, बुद्ध्याजीन या धार्थुवी कहते थे । नान साधारण तौर पर पर्युत्तम या उत्तार कहलता था । तरकाठीन साहित्य से बाल की वर का पता नहीं चलता । सुसोरी को बन्धु। वेरा नहीं समझा जाता था, क्योंकि उसमें हठ और सत्व का मिश्रण होता है ।^१ किन्तु बाणिय तथा ब्यबलाम का उत्कर्ष और श्रेणियों का अस्तित्व इस बात का निर्देश करते हैं कि अधिकांश और कुसीद विद्यमान रहे ।

१४. विभिन्न तथा चलाय (करेसी)

विभिन्न की दया विकसित हो चुकी थी तथा उसे परिधान, परिवर्त, नैमेय तथा निमय कहते थे । इन सब का अर्थ एक प्रकार के धन को दूसरे प्रकार के धन से परिवर्तित करना है ।^२ जनता के आर्थिक जीवन में अस्थिरता बढ़ जाने से विभिन्न अधिक प्रामाणिक और शुद्ध होता आ रहा था । खेती तथा छोटे छोटे विभिन्नों में गाँवों में अटक-बटक की प्रचलित या अन्तर्जातीय तथा विदेशी बाल, व्यापार या बाणिय के अस्तित्व ने शिक्षा के प्रचलन की आवश्यकता बना दिया । अमरकोश^३ में दो प्रकार के शिक्षा का उल्लेख है— आपाण (एक गाँव की शिक्षा को लीक में एक कार्य के परापर होता था) तथा पल (जहाँ लीक का तौंच का शिक्षा) । काठियाल के ग्रन्थों में सुवर्ण तथा निष्प का भी शिक्षा के रूप में उल्लेख हुआ है " सुवर्ण साने का शिक्षा था । निष्प लोके में पहना जानेवाला आभूषण भी था और १०८ कार्य का एक शिक्षा भी । एक विदेशी शिक्षा भीना था जो कुपान तथा गुप्तगुप्त में प्रचलित था । अमरकोश तथा काठियाल के ग्रन्थों में इसका उल्लेख नहीं किया गया है ।



१. यही, लक्ष्मणनृतम् ।

२. यही २, ९, ८८ ।

३. अमरकोश २, ९, ८० ।

४. माण्डिक/० पृ ८८; कुमार २० २-४५

चतुर्दश अध्याय

उपसंहार

१. विक्रमादित्य के अन्तिम दिन

जीवन के अन्तिम दिनों में विक्रमादित्य का प्रतिज्ञान के आश्रय प्राप्तवाहनों की कटती हुई सक्ति से संघर्ष हुआ। इस संघर्ष का इतिहास उनसे सम्बन्धित कुछ कहानियों में दया गया है।^१ ऐसी ही कहानियों में से एक का संक्षेप भरा बोधे उद्धृत किया जा रहा है।

‘विक्रमादित्य के राज्य में एक पुरन्दरी नामक नगरी थी। वहाँ कोई व्यापारी दहता या किसके पास पुत्र थे। बहुत दिनों के श्वाभ्य कष्ट कष्ट तथा बीमार हो गया। अपनी सुशु के समय उसने अपने चारों पुत्रों को बुलाकर कहा, ‘मेरे बेटे ! अब मैं मर जाऊँगा तो तुम लोग जाइ इस स्थान पर रहो या नहीं, समझानुसार तुम लोगों में कण्ठा घट करका होगा। अतः मैंने अपनी सुशु के पूर्व ही अपनी सम्पत्ति को तुम चारों में सम के अनुसार विभक्त कर दिया है। अपने विस्तर के चारों पार्श्वों के नीचे चारों भाग मैंने पाक दिये हैं। उन्हें सबसे पहले से लेकर छोटे तक वयस्कम से बाँट लेना।’ और वे इस पर राजी हो गये। जब पिता इस जीवन को समाप्त करके चक बसा तो चारों भाई एक गद्दीने तक सम्मिलित रहे। किन्तु तब तककी परिणामों में लगवा घट करका हुआ। उस पर उन्होंने विचार किया कि ‘कालिद मह लगवा क्यों ? अब इस लोगों के पिता जीवित थे, हम लोगों के लिए उन्होंने बरकारा कर दिया था। हम लोग उनके विस्तर के नीचे रखी हुई धतूरे की सम्पत्ति को से छेड़ते और अपना-अपना भाग पाकर सम्मिलित रहेंगे।’ अतः विस्तर के नीचे सोवते हुए चारों पार्श्वों के नीचे से उन्होंने चार छौंके के पाक निकाले। उनमें से एक पाक में मिर्ची, दूसरे में केचला, तीसरे में हड्डी और चौथे में लून था। इन चारों वस्तुओं को

देखकर चारों भाई बहुत परेशान हुए और एक दूसरे से कहने लगे, 'हम लोगों के पिता ने पूर्ण तथा ठीक विभाजन किया है किन्तु इस प्रकार का विभाजन कौन समझ सकता है ?' इस प्रकार कहकर वे राजस्थान में पहुँचे तथा वहाँ पहुँचकर सबी सुना दी। किन्तु विभाजन का प्रकार समझने की समझ में नहीं आया। तत्पश्चात् चारों भाई सभी नगरों में वहाँ कुतूहल विज्ञान् लोग के जाने और उन (विद्वानों) को सम्पूर्ण बातों अवगत की किन्तु वे भी इसे सुझा न सके। एक दिन वे उम्मेदिनी आये तथा राजा की सभा में अवस्थित हुए और वहाँने विभाजन का पूर्ण वृत्तान्त राजा तथा राजसभा के सम्मुख कह सुनाया किन्तु न तो राजा और न सम्राट ही विभाजन के इस रहस्य को समझ सके। तत्पश्चात् समस्त में वे प्रतिष्ठान नगरी में आये तथा वहाँने वहाँ के प्रतिष्ठित व्यक्तियों से कहा, 'किन्तु वे क्याथाव न कर सके। इस समय साकिवाहन एक कुम्हार के घर में थे। इस बात को सुनकर वे चारों वद जाये तथा प्रतिष्ठित व्यक्तियों से बोले, 'हममें क्या रहस्य है ? कौन सा आश्चर्य है ? क्या बात है कि आप लोग विभाजन का प्रकार नहीं समझ पा रहे हैं ?' वहाँने कहा, पुत्रक ! हम लोगों के किद हो वह रहस्य और आश्चर्य ही है। यदि तुम जानते हो तो विभाजन का प्रकार बताओ। साकिवाहन ने कहा वे चारों एक कभी व्यक्ति के पुत्र हैं। साथ इनका पिता कीवित था तथा वलने ज्येष्ठ से लेकर कनिष्ठ तक चारों को सब के अनुसार इस प्रकार से बटकारा कर दिया था। सब से बड़े को चलने भिड़ी दी, दूसका बड़ लर्थ है कि बड़े को चलने अपनी सारी भूमि दे दी; उसने दूसरे को एक रिवा मिसबा बड़ लर्थ है कि दूसरे को चलने अपना सेव धाम्य दे जाका, तीसरे को उसने इट्टियाँ दीं मिसबा बड़ ताथर्व है कि तीसरे को उसने अपने सब पट्ट दे दिये। चौथे को उसने कोयका दिया, इसका बड़ लभिभाव है कि चौथे को उसने अपने पास का सब सोना दे जाका। इस प्रकार साकिवाहन ने उनके बटवारे की समस्या को सुलझा दिया जिसने पूर्ण सम्पुष्ट होकर वे लोग अपने नगर को वापस आके गये।

'किन्तु अब राजा विद्वान् ने सुना कि किस प्रकार विभाजन की समस्या सुलझा दी गयी तो उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा तथा प्रतिष्ठान नगरी में उसने एक एक भोजा जिसमें किया था, "प्रतिष्ठान के रहनेवाले प्रतिष्ठित लोगों को, जो बजन और धाजन, अन्धजन और अन्धत्वान, दान और प्रतिग्रह के पुनीत कार्यों में रत हैं तथा जो उपवास, आचरण आदि सभी कर्तव्यों से

विभूषित हैं, काकिवाहन । राजा विक्रमादित्य आज लोगों के स्वागत की कामना करता है । आपकी बगारी में जिस व्यक्ति ने उन चारों भाइयों की समस्या को धुलसाया है उसको सामने लेना चाहें । अब प्रतिष्ठित व्यक्तियों ने राजा के द्वारा प्रेषित जल पत्र को पढ़ा तो उन्होंने काकिवाहन को बुलाया और कहा—'काकिवाहन ! जिसके पैरों की सभी प्रतिहन्त्री मोक्ष राजा करते हैं (देखे) सत्ताओं के सहाय सम्पत्ति के राजा विक्रम की सभी व्यक्तियों के लिए कल्प-वृक्ष हैं आपको बुलाते हैं, उनके पास जाइये ।' बसने कहा 'हेरा राजा है विक्रम ! मैं उसके बुलाने पर नहीं जाऊंगा, यदि उसका सुलभ कोई काम हो तो वह स्वयं आवे, मुझे बसने कोई काम नहीं है ।' इस शब्दों को सुनकर शिव प्रमुखा ने राजा के पास यह पत्र लिख कर भेज दिया कि, 'हे नहीं आवेंगे ।' और जब राजा ने किसी की किसी हुई बात को सुना तो मारे क्रोध के उनका करीर काँपने लगा । वे अपनी मकरहनुमती सम्पूर्ण सेवा के साथ प्रतिष्ठान लाने और भेरा साह दिवा । उन्होंने काकिवाहन के पास दूत भेजे । दूतों ने काकिवाहन के पास जाकर कहा, 'हे काकिवाहन ! तुम्हें राजाजी के अभिपति बुला रहे हैं ।' तब काकिवाहन ने कहा, 'दूत ! अतुरंगिणी सेवा से विहा हुआ मैं स्वयं युद्धक्षेत्र में मिलाऊँ । हम कोरा कृपा करके राजा के यहाँ जाकर कह दो ।' इन शब्दों को सुनकर दूतों ने जाकर यही राजा को यह सुनाया । अब विक्रम ने यह सुना तो वे युद्ध क्षेत्र में युद्ध करने के लिये भागे । × × × काकिवाहन '...अपनी अतुरंगिणी सेवा के साथ नगर के बाहर गया और युद्ध-क्षेत्र में उपस्थित हुआ ।

×

×

×

'तब समाप्त युद्ध आरम्भ हुआ तथा विक्रमादित्य ने काकिवाहन की सेवा की यह सब दिवा । काकिवाहन जब अत्यधिक निराश हुआ तब उसने अपने पिता का वरदान स्मरण किया जिन्होंने यह कहा था कि 'भुक्त के समय मेरा आवाहन करना' । उसने अपने पिता जातराज वीर को स्मरण किया । वेप ने अपने सभी शत्रुओं को भेज किन्होंने विक्रमादित्य की समस्या को हल किया । परिणाम यह हुआ कि विक्रमादित्य के सभी सैनिक पूर्ण रूप से मूर्च्छित हो गये और युद्धक्षेत्र में गिर पड़े । तब राजा विक्रमादित्य अपने बगार को अकेले लौटे '... ' ।'

यदि उपर्युक्त कथा से कल्पित अंश निकाल दिया जाय तो इसमें से निम्नलिखित ऐतिहासिक तथ्य सम्मुख आते हैं :—

(१) विक्रमादित्य किसी सातवाहन (आश्व-सातवाहन) नरेश के समकालीन थे ।

(२) आश्व-सातवाहनों की उठती हुई शक्ति ने विक्रमादित्य की ईश्वरी को उन्मेषित कर दिया था जिन्होंने सश्वि के द्वारा अपना प्रमुख जन पर स्थापित करना चाहा किन्तु युद्ध में उनका पराभव हुआ ।

(३) आश्व-सातवाहनों ने कूटनीति और युद्ध से अपने को विक्रमादित्य से—कम से कम उनके जन्मदिनों में—उच्च सिद्ध कर दिया जो पराजित तथा विरक्त होकर प्रतिज्ञान के बन्धविनी बापस चके गये ।

सम्प्रति यह प्रश्न उठता है कि यह सातवाहन कौन था ? जैन-पञ्चमहर्षियों के अनुसार विक्रमादित्य ने ५७ ई० पू० से लेकर २ वर्ष तक राज्य किया । अतः शाकिवाहन (सातवाहन) को प्रथम शाताब्दी ई० के प्रारम्भ में राजना चाहिए । आश्व-सातवाहनों का राजवंश ५८ ई० पू० (कर्णों के जन्म की तिथि) से प्रारम्भ होता है । तीन पारमिक सातवाहन नरेशों की तिथि की गणना करने से निम्नलिखित तिथियाँ सम्मुख आती हैं ।

शिशुंक का राज्यारोहण ५८ ई० पू०

शिशुंक का राज्यकाळ २३ वर्ष

भुषा का राज्यकाळ २० वर्ष

सातकर्णि का राज्यारोहण ५ ई० पू०

ईसवी संवत् के प्रथम तथा द्वितीय वर्षों में सातकर्णि अपनी पुत्रराज ही था जो विक्रमादित्य के जन्मदिनों में उसकी सेना से अपने सैन्यबल को लौक सकता था । विक्रमादित्य की ओर की सत्सव प्रभाव शून्य हो गयी । तिथिसम्बन्धी और अन्य अत्यन्त लघुधर्मी से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विक्रमादित्य का कमिष्ठ समकालीन तथा प्रतिद्वन्द्वी आश्व-सातवाहन वंश का चतुर्थ नरेश सातकर्णि था जिसने जल्द ही विक्रमादित्य की शक्ति को काबापस्त करते हुए पश्चिम की उदीयमान साम्राज्यवादी शक्ति का प्रति-निधित्व किया ।^१ एक बार पुनः भारतीय इतिहास ने इस तथ्य को प्रदर्शित

१. पश्चिमी बाट में मात्र सातवाहन-अधिकेयों के अनुसार सातकर्णि ने साम्राज्यवादी शक्ति के प्रतीक स्वरूप अश्वमेध बलि किया था । सांची का एक अभिलेख भित्तपर 'राजत की सातकर्णि' अङ्कित है मध्यभारत में उसकी राजनीतिक प्रमुखा का भ्यञ्जक है । लेकिन किचित् असुदृश के कारण प्रथम सातवाहन नरेश से भी विक्रमादित्य की शूरता स्थापित की जा सकती है जिसके सिद्धां अभी हाक ही में उपलब्ध हुए हैं । जे० एन० एल० आर्च० माग ५, १९४५

कर दिया कि छोटे-छोटे गणराज्य स्वतन्त्रता में कितने ही अनुरक्त क्यों न हों और कितनी ही बार-बार आक्रामकों के विरुद्ध संघर्ष क्यों न हुए हों, एक संगठित विद्यालय साम्राज्यवादी शक्ति से उनकी कोई समता नहीं थी। लोक देवी ही एक बदनाम उन्नीसवीं शताब्दी में भारत में कुछ सत्ताविद्‌ओं के प्रति हुई थी जब उस क्षेत्र के गणराज्यों को समाज की उद्योगमान राज-शक्ति के सम्मुख नतमस्तक और विहीन होना पड़ा था।

२. विक्रमादित्य के जीवन की प्रमुख विरोधतायें

विक्रमादित्य का व्यक्तित्व बहुमुखी था और उन्होंने जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में अपने को दब कर दिया था। राजनीति में उनकी सफलतायें महान् थीं साहित्य और कला की आश्रय देने में भारतीय इतिहास के बहुत कम व्यक्ति उनकी समता कर सकते हैं। उद्योग, साहस और कर्तव्य-व्यापकता, आधुनिक मामलों में अन्तरंगिता तथा दृढ़ता और बुद्धि के अमूल्य गुणों में विक्रमादित्य पूजा और अनुकरण करने योग्य हैं। निम्नलिखित बातों में उनके जीवन की कुछ महत्वपूर्ण विशेषताओं का प्रकाशन किया जायगा।

(१) भारतीय इतिहास में महान् व्यक्तित्व

भारतीय अनुश्रुतियों और इतिहास में विक्रमादित्य की लोकप्रियता का रहस्य उनका भारतीय इतिहास की प्रमुख घटनाओं में सर्वप्रधान होना था जिससे उनकी ओर सबका ध्यान आकृष्ट हुआ और लोगों के अस्तिष्क पर उनके व्यक्तित्व की गहरी छाप पड़ गई। लोग, प्राकृतिक सुभाव की प्रकृति के अनुसार, जीवन की प्रकृतता में होने वाली आरवाही अनाधरस करनेवालों को सराबन नहीं रखते। वे इतिहास की स्थायी प्रमाण घटनाओं को ही प्रमाण कर उन्हें अपने अस्तिष्क में धारण कर लेते हैं। विक्रमादित्य ने अपने युग के राजनीतिक और सांस्कृतिक भावों के प्रधान दूरियों में भाग लिया तथा वे अपने पश्चिमी इतिहास के राजपथ पर खड़े गये हैं जो विगत दो सहस्र वर्षों के वायु भी सर्वमान्य हैं।

(२) सांस्कृतिक और राजनीतिक महारथ

चतुर्थ शताब्दी ई० पू० से लेकर आज तक भारतीय इतिहास की प्रमुख समस्या विदेशी आक्रमण और उनके विरुद्ध भारतीयों की प्रतिक्रिया रही है। इतिहास का यह भाग्य सत्य है कि विदेशियों को एक बड़ अवरोध का सामना

करना था। इसने आक्रमणकारियों की राजनीति, चर्म तथा संस्कृति के सम्मुख अपने को समर्पित नहीं किया बल्कि उनकी शत्रुतामयी भावों को अपने में बसा दिया है। आक्रमणकारी देश में दो ही दूरों के बावें—(१) केंवर दर्रा तथा (२) कोकन दर्रा : दोनों भारतवर्ष के उत्तरी सीमाक्ष पर स्थित हैं। अतः विदेशी आक्रमणकारियों का विरोध करने के लिए दो केन्द्र बने। प्रथम केन्द्र केंवर दर्रे के सम्मुख बसता था। इस क्षेत्र में पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त, पंजाब तथा उत्तरी-पूर्वी राजपूताना सम्मिलित हैं। चतुर्थ शताब्दी ई० पू० में यूनानियों ने सिन्धुदर केन्द्र में केंवर दर्रे के आक्रमण किया और जनका सामन्त आहरोध के प्रथम केन्द्र में हुआ। उत्तरी-पश्चिमी भारत के कुछ राजतन्त्रों ने आक्रमणकारियों का स्वागत किया किन्तु अधिकांश ने यवनों का विरोध किया और बहुत कम राज्यों ने अपने देश के विरुद्ध विदेशियों की सहायता की। यहाँ तक उस केन्द्र के गणराज्यों का प्रवेश था जहाँने आक्रमणकारियों का सर्वथा स्वागत, संयोजन और इस विरोध किया। उन गणराज्यों की श्रेणी में जिन्होंने आक्रमणकारियों का बड़ा विरोध किया था, माक्यों का प्रमुख स्थान था। माक्य यवनों को पराजित न कर सके तथा उनके प्रवास निरन्तर रहे। इनमें से अधिक संख्या में युद्ध में सिन्धुदर के तुरी गुरु घावक हो जाने के पश्चात् कुछ यूनानियों द्वारा मार दाले गये थे। तथापि इस दुःस्थिति बढना से माक्यों का वसतन्त्रता के प्रति अनुराग और प्रयत्न हो गया। द्वितीय शताब्दी ई० पू० में जब इन पर बाक्री यवनों ने स्वयं आका तो वे स्वाय की अन्य स्वतन्त्रतादिव्य मातियों के साथ दक्षिण की ओर चक दिये और दक्षिणी राजपूताना तथा माक्या में उन्होंने अपने नये वास्तव्य का निर्माण किया। आक्रमणकारी सुद्धी के पक्ष के पलायन राजराज्यों ने संपूर्ण राजपूताना के पारो ओर एक समक भ्रमका बना की थी। उस समय माक्यों का पश्चिमी माक्या पर अधिकार था। यही माक्यों के सर्वप्रथम गणप्रमुख के घर में विक्रमादित्य का जन्म हुआ था।

प्रथम शताब्दी ई० पू० में कोकन दर्रे के चर्को का यवनों और बाक्री यवनों की लगेबा अधिक जीवन और सुदूर-भायी आक्रमण हुआ। यहाँ भी युवा माक्य ही ने जिन्होंने विदेशी आक्रमण के प्रयत्न वेग का सामना किया। इन्हें इस बार गणराज्यों के साथ तथा समीपवर्ती राजाओं से सहायता मिली थी जिसका संगठन विक्रमादित्य के कुलक नेतृत्व में हुआ था। इस प्रकार माक्यों की जात्यकली प्रत्यक्ष हो उठी। उनके नेता

विक्रमादित्य ने विदेशियों को मार मगाया और अजुत सफलता प्राप्त की। हाकों का सैन्य विरोध तथा उन पर कर्ण विजय आत्मिकारी बदमाशों की निजकी गहरी क्षाप व्यवसन पर अहित हो गयी। विक्रमादित्य की सैनिक-कुशलता तथा राजनीतिक चातुर्य उनके जनता की धर्मों में विशिष्ट रूप से बस जाने के कारण बने जिसकी परम्परा कोक-समृद्धि में अब भी लाजी है। विक्रमादित्य की महान् सफलता विक्रम संवत् (जिसे आरम्भ में कृत संवत् कहा जाता था और जो स्वर्णयुग के आरम्भ का प्रतीक है) की स्थापना से अमर हो गयी।

(१) एक भावार्थ शासक

भारतीय इतिहास में विक्रमादित्य की महत्ता का दूसरा कारण उनकी शासन में भावार्थवादित्व थी। उनकी प्रेरणा सामान्यरूप से मानवता और मुख्य रूप से अपनी राजा की सेवा थी और उनका शासन उनके भावार्थ से ओतप्रोत था। सैन्यग्रन्थों के अनुसार पूर्ण शासनकारणका का प्रतीक रामराज्य का भावार्थ उनके सम्मुख था तथा उन्होंने अभिनव राम बनने का प्रयास किया था। यह भावार्थ 'कोकप्रभु' (कोक को सम्पुष्ट करना), प्रजापालन और प्रचारक के अभिव्यक्ति था। जता इसके लिए शासक को अनवरत कर्मण्य तथा सागरक बनने की आवश्यकता थी। उन्होंने इस बात को पूर्णरूप से समझ लिया था कि उनका कर्तव्य विरोध, कोकप्रभु के अन्तर्गत विज्ञान का पूर्ण स्थाप है।^१ विक्रमादित्य का शासनादर्श काश्मिर द्वारा हृष्यक के विमर्शकित विज्ञान में परिकल्पित होता है।

"अपने धुक के लिए निरभिलाषी होते हुए कोक के लिए तुम सर्वथा चिन्तित रहते हो। मर्यक शासक की यही वृत्ति तथा विधि है। जब अपने मरतक पर पूर्व की प्रहार किरणों का अनुभव करते हुए भी अपने कामियों का परित्याग क्रावा से समझ करता है।"^२ कथासहितानगर में विक्रमादित्य के भावार्थ का विमर्शकित संकन हुआ है। 'ये विमुहूर्तों के पिता, वन्द्युहूर्तों के माधव, अनाथों के माध, निराशों के एक और अपनी प्रजा के कदा नहीं

१. अविमर्शकित सौदन्त्याविकारः शाकु० ५

२. समुद्रमरिचिकाः विमर्शे कोकप्रभुः प्रविष्टिमवचः ३। इतिरेवंपिरेव।

अनुपपत्ति दिग्भूतः पादपत्तीः अनुभवं समवति परित्रयः छावकाः सभितः जगत् ॥ शाकु० ५

के १^१ विक्रमादित्य में लोक को प्रसन्न करने वाले मधुर गुणों का सन्निवेश ही देश के इतिहास में उन्हें लोकप्रिय बना देता है।

(४) कला तथा संस्कृति के आभय-दाता

कला तथा संस्कृति की अभिवृद्धि के लिए विक्रमादित्य का योगदान बहुत ही उच्च कोटि का था। इस विषय में परवर्ती भारतीय परम्परा में कोई भी शासक उनकी समानता नहीं कर सकता। वे स्वयं अनुपम 'विद्यासागर' तथा उस युग के साहित्यमनीषियों द्वारा सम्मानित व्यक्ति थे। कला तथा संस्कृति के उपासकों के लिए उनका उद्धार आभय सर्वथा सुलभ रहता था। विक्रमादित्य के पूर्व भी उज्जयिनी विद्या का केन्द्र थी, किन्तु उनके समय में यह संस्कृति का पर्याय हो गयी। अत्यन्त उच्चकोटि के कवि, नाटककार, दार्शनिक, ज्योतिषी, वैज्ञानिक तथा कलाविद् उज्जयिनी आते थे। युग के सर्वश्रेष्ठ ज्योतिष्मान प्रतिभा-सम्पन्न कवि साहिबान विक्रमादित्य की राजसभा को अलङ्कृत करनेवाले साहित्यकारों तथा कलाकारों के शिरोमणि थे। उज्जयिनी का सांस्कृतिक केन्द्र अपनी प्रभावशालिनी को अजयती के सुवर्ण तटों में विद्यमान रहता था जिससे प्रायः के बयोद्वज भी देश की साहित्यिक परम्पराओं को अभिन्न रहते थे।^१

(५) बहुमुखी तथा अपूर्व व्यक्तित्व

विक्रमादित्य का व्यक्तित्व कई दृष्टियों से बहुमुखी तथा अनुपम था। वह राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा मानवताप्रेमक सकलतार्थी का अपूर्व समुच्चय था। विक्रमादित्य में जीवन के विभिन्न सबक जोनों का बहुमुख सम्मिलन ही था जिसने भारतीय अगणित शासकों के बीच उन्हें सर्वोच्च आसन पर आसीन कर दिया है।

जनता के मूल्यांकन में वे महाकाव्यों—रामायण और महाभारत—के चरित-नायकों—राम और कृष्ण—के बाद ही आते हैं। भारतीय अन्य शासक—कण्वगुप्त मौर्य, अशोक, सुष्यमित्र, तीतसीगुप्त शातकर्णि, कनिष्क, समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त द्वितीय, विक्रमादित्य, हर्षवर्धन आदि—केवल इतिहासकारों की निधि हैं। भारतीय जनता ने कलाभवा उन्हें मुखा दिया है। किन्तु इसने जनतक विक्रमादित्य को अपनी परम्परा, साहित्य और स्मृति में बनाये रखा है।

१. स. विद्या दिव्यजीनानामचन्द्रिका स. बाम्बक।

अनाकावाहक नायः सः प्रख्यातः कः सः नायकः ॥ ६८, १, ६९।

२. भा. व्यावस्तीसुवदनकथाकोविदप्रामुखात्, मेघदूत १, ६०।

वे देश के महात्मा पुरखों में अनुपम समझे जाते हैं। 'पृथ्वी को भोगनेवाले विक्रमादित्य ने यह किया जो अन्य किसी ने नहीं किया, उन्होंने यह दिया जो अन्य किसी द्वारा नहीं दिया गया तथा उन्होंने उन कार्यों में भी सफलता प्राप्त की जो दूसरों ने सिर्फ अंशतः ही की।'^१

(१) विक्रमादित्य एक आवर्त

विक्रमादित्य एक पूर्णतः ऐतिहासिक व्यक्ति थे किन्तु समयानुसार उन्होंने जिन अपूर्व सफलताओं तथा सद्गुणों का संग्रह किया उनके कारण वे एक अनुकरणीय आदर्श बन गये। प्रारम्भ में विक्रमादित्य व्यक्तिवाचक नाम था, किन्तु बाद में यह विद्वद् बन गया। कोई भी भारतीय शासक जो विदेशी आक्रमणकारियों को पराजित करने, एक कुशल तथा उदार शासन-व्यवस्था स्थापित करने तथा कला और संस्कृति की अभिवृद्धि करने में सफल होता या विक्रमादित्य (विक्रम का मूल) की उपाधि धारण कर लेता था तथा इस प्रकार राजादिनी के महान् विक्रमादित्य की हक़्क़ की भाँवर तथा सम्मान प्रदान करता था। भारतवर्ष में राजाओं की राजकी भाशिणी है जिन्होंने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की। ऐसा करनेवाला समुद्रगुप्त प्रथम मरेक था, जिसने साहजिकी ही शक्त-गुणों को अधीनस्थ मित्रता के लिए विपन्न कर दिया था। इस परम्परा का अनुसरण चन्द्रगुप्त द्वितीय, कुमारगुप्त, स्कन्दगुप्त, जालुवधमरेक चण्ड विक्रम तथा चोकनरेक विक्रम भादि ने किया। विक्रमादित्य की उपाधि धारण करने की परम्परा हेमचन्द्र विक्रमादित्य (मुसलमान लोकाओं का ह्यू) तक, जिसने १५५५ में पानीपत के द्वितीय महासमर में मुग़लों की शक्ति का विरोध किया था तथा जिसकी दुःकायत और बीरतापूर्ण छात्रु हुई थी, यहाँ रही।



१. यज्ञवल्क्य ब्रह्म केनचित् परतः पर केनचित्
सत्ताधितसत्तायं च विक्रमादित्येन प्रमुखा ॥

परिशिष्ट-१

प्रमाणकथरिते

भीष्मकथरितम्

कीर्तिमंभरतीर्यैराजितोऽमरुतो गुणान् ।
कुतश्चिदपि सोऽव्याहं यत्नः सूरिकुण्डरः ॥ १ ॥
प्राच्यैर्बहुभुतेर्बुधैः यत्नः यथैवयाग्रवम् ।
आहृतं कीर्त्यते किं न शक्यं शक्यतानुगः ॥ २ ॥
भीष्मकालमिदं कितं नगरं न गरी अमी ।
द्विजिह्वाकवसमुद्गीर्णो यत्र साधुबन्धोऽमृतैः ॥ ३ ॥
आशाकन्यावर्धवाक्या महाबलभरोच्छ्रिता ।
कीर्तिपताकिं वा बहुवाक्यान्तव्योमा गुणावया ॥ ४ ॥
कीर्तिरिति ह्यवन्ति राजा विक्रमराजितः ।
यत्नतापो रिपुद्गीर्णो यत्नवद्गीरशेषवत् ॥ ५ ॥
तस्य भीरोपकाशनेन कात्याऽस्ति ह्यराजरी ।
आपत्तिभूतिभैरुष्य महाभोगविराजितः ॥ ६ ॥
जयन्त इव शक्रश्च शशाङ्क इव वारिधे
आकरो कालकोदण्डव्यपिण्डतारिः सुतोऽभवत् ॥ ७ ॥
सुता नरस्वतो नाम्ना मद्यभूषणपावता ।
यदागमत्त समुद्रोऽपि शुभं सर्वोभयोऽभवत् ॥ ८ ॥
कालकोऽव्यक्तताकेतिकलभायाम्बदा बहि
पुरस्व भूवभावासीवतावासी ह्यजमे ॥ ९ ॥
तत्र घोरितकान् प्लुत्वा वस्त्रिनेनापि वातयम्
कनेजिताङ्गमङ्गत्वा ह्ययान्तेरितावपि ॥ १० ॥
नाम्नस्तिभित्तगन्धर्वो गन्धर्व इव रूपतः ।
अशृणोमममुजोवार्द स्वरासारममप्यत् ॥ ११ ॥
अथाह मन्त्रिणं राजपुत्रः कीदृक् स्वरो ह्यसौ ।
मेवमस्तिगन्धर्वीरः कस्य वा ज्ञायतां तत् ॥ १२ ॥
अयजिह्वपत्तं च विज्ञाय मायं सूरिगुणकरः ।
प्रशान्तपावनी मूर्तिं विभ्रद् धर्मं विशत्स्यो ॥ १३ ॥

विज्ञान्यद्विर्नृपाराजे कबनेऽन्ध्रं वचोऽधुनाम् ।
 कान्तदेवमिवि सर्वानुज्ञाने तन्नाशनाहम्ने ॥ १४ ॥
 गुह्यं मन्त्रापविष्टे च विरोधादुपपन्नमे ।
 वन्द्यं च यो वाना ज्ञात्वा मन्त्रं ज्ञानोपयोगिनम् ॥ १५ ॥
 धर्मोद्देष्टुं गुह्यमवधानि सत्कम् विज्ञानं संभव ।
 ज्ञान-वदान-वारिज-रत्नमय-विचारकः ॥ १६ ॥
 कर्मो जीवन्मृत्युं सर्वविद् देवता जिनः ।
 मन्त्राचारी गुह्यं संग्रहज्ञम् रागमर्जितम् ॥ १७ ॥
 ज्ञानपञ्चकस्योक्तो कर्तोऽनी संवत्सरित् ।
 द्वापद्वयसंस्कारो वन्द्ये कर्मोद्देष्टाकर ॥ १८ ॥
 य एकादशमन्त्रैर्कथित आराधयन्मम ।
 कोष्ठं वैमानिकत्वं वा स ज्ञानोति य संताप ॥ १९ ॥
 ज्ञानो गृहस्थधर्मज्ञ ज्ञानदाऽराज्यवित् ।
 शक्तिशोक्तपञ्चावधमङ्गीमिराधय कुम्भ ॥ २० ॥
 स मन्त्रकपाट्यमानसः शनैर्मातृपदो नृपम् ।
 सौभाग्येरा द्वाकाऽपि संभाराभ्यानिवेदनी ॥ २१ ॥
 पुण्येभ्यश्च कर्मोऽपि जीगामीमगिनी रिता ।
 बीजं कोष्ठं वन्द्यः ज्ञानवेकाकुलं जने जम् ॥ २२ ॥
 चित्तो स्वात्मज्ञानाध्यायश्च तन् तेषां चित्तमिदम् ।
 ज्ञानादरेण तन् कृत्वाणाज्ज्ञाना साहित्यकृत ॥ २३ ॥
 ज्ञानवाऽपि तैस्तस्य तदा पुण्यस्य च स्वयम् ।
 कधीनी सर्वराज्याणि स मन्त्रागिरापादम् ॥ २४ ॥
 क्वचट्टे क्वच क्वच अतिज्ञानं गुह्यमसत् ।
 जीज्ञानं गुणाश्च सूरिः श्रेयकार्वाण्यभाधयन् ॥ २५ ॥
 ज्ञानं श्रीकृष्णकान्तो विहरन्मन्त्रा क्वच ।
 पुरोपुष्पविनी वाङ्माराभेऽस्मा सधवासरम् ॥ २६ ॥
 ज्ञानान्नमज्जने तत्र वदानो ज्ञानजिज्ञासाय ।
 सन्नागवन्धकारोऽभूत् ज्ञानपुष्पमोक्षदीपकम् ॥ २७ ॥
 तत्र जीवन्मृत्युः पुनर् राजा मन्त्राजः ।
 कदाचिन् पुरवाङ्मार्गो कुर्वाणो राजपाटिकम् ॥ २८ ॥
 कर्मसंयोगवत्तत्र ज्ञानमीमंशु एवम् ।
 ज्ञानि कदाचन्मूर्तिर्वा क्वचो दधिपटोमिव ॥ २९ ॥

हा वक्ष रक्ष सोवर्चः कल्पन्ती कल्पनरम् ।
 कथाजीहरक्षः सुमर्माभिः पुत्रैः स ताम् । ३० ॥
 साध्वीभ्यस्तान् परिज्ञाव कामधमभुरन्वज ।
 स्वयं राजसमन्वयायां गन्वाणादीन् लवमत् ॥ ३१ ॥
 वृत्तिविधीयते कच्छे रक्षाये कक्षसंपदः ।
 कक्षानि भक्षयेन्मैकाक्षयेव कक्षायतस्तदा ॥ ३२ ॥
 राजन् । समन्वयानां वरानानां च रक्षकः ।
 स्वयेव तत्र ते पुत्रं वरानिजतज्ञापनम् ॥ ३३ ॥
 कामधमकाम्योऽयमवदुर्मनो मृपाधमः ।
 न धीमयमि गामयमभिवक्ष्यद् ध्वंसने तथा । ३४ ॥
 क्षयेन कम्पितो धीरैराप विज्ञापितो हवम् ।
 कथानीगणवाक्यो मित्रायो हे राजन्मति ॥ ३५ ॥
 माकक्षान्तेन कामार्थं वीजद्वयमजन्तवः ।
 प्रातस्तत्र विद्ये वारां तत्र कानरतापनीम् ॥ ३६ ॥
 जैनापध्याजिनः लक्ष्मणकपदुल्लापिनाम् ।
 अर्होऽश्चर्याहानुर्वा क्षित्येऽन पाप्मनाः कुटम् ॥ ३७ ॥
 न येपुष्पक्षेपये रीर्यं सपुत्रपुत्रायाम्भवम् ।
 लम्बावकर्षमकाहं विम्वरम् मृपभम् ॥ ३८ ॥
 अर्धभाषार्थम् तत्र सामान्यजनमुत्तरम् ।
 कथन्ता मित्रम्भ दम्भेनाऽमनयेव चकार स ॥ ३९ ॥
 एककी भवति समाय चतुर्के चत्वारि त्रिके ।
 असम्बद्धं वदन् द्विविधेनानाम्भवत् तथा ॥ ४० ॥
 गर्भमिहो मरोद्भवेन ततस्तु ईकमतं वदम् ।
 अदिदेश सपुत्रोऽप्यततस्तु किमतं वदम् ॥ ४१ ॥
 वदन्तमिति तं बुत्वा जनां प्रादु कृपाभरान् ।
 स्वमुर्धिरहितः मूरुदत्ताङ्गमार्द्रकलां गतः ॥ ४२ ॥
 दिनेन कतिपयेनैवार्थमवधारक एव न ।
 कश्चिदां दिशामाभिव्य विन्दुतोऽभगाप्यजने ॥ ४३ ॥
 काकिरेराद्य तत्रास्ति राजानस्तत्र शास्त्रवः ।
 शास्त्रपरमिषां स्मृति नयतिः बहिर्भरार्द्राः ॥ ४४ ॥
 तेवामेकाऽभिराजोऽभिव्य साततमद्वयम् ।
 सुरज्जाकुतचामाज्यपरेऽपि स्मृन् रक्षताः ॥ ४५ ॥

शको ज्ञानलक्ष्मणेन वैशि काञ्चनमूर्तिना ।
 कनेकवीरुदयेकादित्येन कुतोऽथ सः ॥ ४६ ॥
 जलो विद्यामलकस्य वक्त्रवति कथा वृष ।
 तं विना न तन्निवृत्त्य तं कर्तुर्नैवथा कथम् ॥ ४७ ॥
 कथाकामपविष्टस्य कवचजरास्य सुरिणा ।
 सुतेन तिष्ठता गोष्ठ्यं राजदूत समाकरो ॥ ४८ ॥
 परशिताम विज्ञाने प्रसीधारण सोऽवदत् ।
 चाचीनकद्विता भक्त्या युक्तानं राजरासनम् ॥ ४९ ॥
 कर्मभङ्गु च भूपोऽथ मङ्गहीनान्नु मदनके ।
 कर्त्तुर्भूवाक संशय्य वाचवासास च समाम् ॥ ५० ॥
 इति कृत्वा विवर्जोऽथो वक्त्रमप्यकरो वृष ।
 विनीनयिता वक्त्राङ्गो मि वक्त्रावाहमेकवत् ॥ ५१ ॥
 वृष्टाग्राम्मुनीन्द्रेण वसार् कर्मात्मनः स्पृष्टे
 ज्ञानाने वाङ्मने वक्त्रेभ्याने हि विपरीतता ॥ ५२ ॥
 तेनोचे मित्रः कोपोऽथ न वसार्ः मधोर्मनु ।
 ज्ञेयं कथा शिरविष्टस्या स्वीयं शक्तिव्यक्तम् ॥ ५३ ॥
 एवं कृते च धरो नः प्रभूत्ववर्तिन्यजे ।
 नो वेद एतत्कथं राहुच विनाशः समुपदिशतः ॥ ५४ ॥
 शक्तिवाचायैतद्वत् कथनवाङ्मनुरासीत् ।
 ज्ञाने वक्त्रवनेः सायस्तामं मन्दो भगवितः ॥ ५५ ॥
 सर्वेऽपि शुभमगच्छन् सुरभिःकनन मेःकला ।
 तदिधि शिष्यमुत्तमं वृष्टां ते समाचय ॥ ५६ ॥
 वसार्गजे क्षमायाने तेनं गतिविज्ञम्वके ।
 विभक्त्य वक्त्रवत्परीकृते देहां तेऽवर्तितधरे ॥ ५७ ॥
 राजानसते तथा मूरा काशिनीम्बुवृद्धिना
 राजदूतद्वय भूवस्तरकारिनाश्रितम् ॥ ५८ ॥
 वक्त्राभङ्गनृपज्ञाययता चान्द्रा भीष्टता ।
 समाकृष्ट्य मेवेन वलिमेनेव राघुना ॥ ५९ ॥
 निर्गम्यमासनादुपमुपसर्गमुपदिशतम् ।
 शपुषनःस्यथ मित्रमिवोऽज्ञास्वावकाशम् ॥ ६० ॥
 चरिपक्षिवाक्यशक्तिः प्रसीदस्वततोमुक्ता ।
 समुच्छरदनुक्तेकमानन्दवाच सुधीरिव ॥ ६१ ॥

सुरिणां सुहृद्गणा प्रयागेऽजल्पन्त स्फुटम् ।
 स प्राह शंखं नास्ति येन नो भाषि शं बलम् ॥ ६२ ॥
 कुर्वेति कुम्भकारस्य गृह पृष्ठत्र जग्मिन्वान् ।
 बह्विना पश्यमानः वेष्टकापाकं ददर्श च ॥ ६३ ॥
 कनिष्ठिकानखं पूर्णं चूर्णयोगस्य कस्यचित् ।
 आक्षेपान् तत्र विधेपाक्षेप्यशक्तिस्तदा गुह्यं ॥ ६४ ॥
 दिव्यातेऽत्र वयावसे राज्ञः प्राचा च जससि ।
 विधस्य हेम गृहीत चात्रास्तबाह्वेतये ॥ ६५ ॥
 सधेत्यादेशमाधाय तऽकुर्वन् वर्षं स्रवंतः ।
 प्रास्थानिकं गजाद्यादिसैम्यवृजत्पूर्वकम् ॥ ६६ ॥
 पलायः अदराध्रेः भूषात् जित्वाऽथ सर्वतः ।
 शका जालवसग्भिः ते प्रापुराकम्भविष्टिम् ॥ ६७ ॥
 कुत्वाऽपि बलमागच्छन् विद्यासामर्थ्यगदित ।
 गर्भिज्जतरेभ्यो न पुनरुगमसक्यम् ॥ ६८ ॥
 अथाप शाकिसैन्यं च विद्यानातलमेदिनीम् ।
 पलायसैम्यवान् सर्वप्राणिर्गमयकरम् ॥ ६९ ॥
 सप्यस्थो भूपतिः सोऽथ गन्भीरिषया बले ।
 तावयन्माद्रीतिस्थं सैम्यं सञ्जयति हम् न ॥ ७० ॥
 कपिशिर्वेषु नो दिवा कोट्कोट्येषु न भ्रमाः ।
 विद्याचरीषु नो काण्डपूरणं चूर्णं विद्याम् ॥ ७१ ॥
 न वा भटकपाटानि पूमतीश्वसक्यवत् ।
 इति चारैः परिज्ञाय सुहृद्भूषं जगौ गुह्यं ॥ ७२ ॥
 जनाकृतं समीप्येयं दुग्धं वा भूरमुषमं ।
 बद्धभी-चतुरैर्योर्ध्वदग्धे च गर्भेऽपि ॥ ७३ ॥
 अष्टोत्तरसहस्रं च अपरयेकाग्रसानसः ।
 शब्दं कर्त्तव्यं जावाम्ते विद्या सा शस्त्रभीनिभम् ॥ ७४ ॥
 तं बृत्कारस्वरं चोदं द्विपदे वा चतुष्पदे ।
 च भृणोति स बलेन केन मुञ्चन् विपद्यते ॥ ७५ ॥
 अर्द्धतृतीयगव्यमग्नये स्योच्यं न केनचित् ।
 जावासां विद्यान् वक्त्रा स्थातव्यं सखीनृपैः ॥ ७६ ॥
 इत्याकर्ण्य कृते तत्र हेरो काण्डसद्गुणः ।
 सुभटानां शतं साहं भावयन्मन्त्रवेदिनाम् ॥ ७७ ॥

कथाविना स्वभावीये ते कथयन्तः सशक्तिना ।
 कथाकाये सुखं कथयन्तः कथाकायेऽन्यथायम् ॥ ७८ ॥
 का मुद्रा नरसिंहाय कृपा विष्णुवतीधरा ।
 हस्तं च नारदाय च दायकाभ्युदये कटी ॥ ७९ ॥
 कवचाऽर्जुनाय कथापवित्रा मेघं पुणे गुह्य ।
 कवचमेभ्यः कवीय कानी चं दुर्गाभावरान् ॥ ८० ॥
 कान्तिना कृता बहुधा कथाय च गुणि पुर ।
 कर्माय कटेऽङ्गुलं कथं चं कल्पयन् ॥ ८१ ॥
 कानी कानी न्यथाय च ॥ ८२ ॥
 कानी कानी न्यथाय च ॥ ८३ ॥
 कानी कानी न्यथाय च ॥ ८४ ॥
 कानी कानी न्यथाय च ॥ ८५ ॥
 कानी कानी न्यथाय च ॥ ८६ ॥
 कानी कानी न्यथाय च ॥ ८७ ॥
 कानी कानी न्यथाय च ॥ ८८ ॥
 कानी कानी न्यथाय च ॥ ८९ ॥
 कानी कानी न्यथाय च ॥ ९० ॥
 कानी कानी न्यथाय च ॥ ९१ ॥
 कानी कानी न्यथाय च ॥ ९२ ॥
 कानी कानी न्यथाय च ॥ ९३ ॥
 कानी कानी न्यथाय च ॥ ९४ ॥
 कानी कानी न्यथाय च ॥ ९५ ॥
 कानी कानी न्यथाय च ॥ ९६ ॥
 कानी कानी न्यथाय च ॥ ९७ ॥
 कानी कानी न्यथाय च ॥ ९८ ॥
 कानी कानी न्यथाय च ॥ ९९ ॥
 कानी कानी न्यथाय च ॥ १०० ॥

हृतध्यासि पुरं अरुणकाटविक्रमप्रभम् ।
 वपुःकण्ठं सुपस्तत्र कञ्चिजोऽभिधानतः ॥ १४ ॥
 आमुमिवावज्जम्भासीन् स्वकीयः काञ्चनप्रभोः ।
 स्वस्तां तयोऽथ मातुली, वचनानुसृत्य तत्सुतः ॥ १५ ॥
 अन्त्येष्टा काञ्चनवार्यपूर्णं तैर्लोक्यतुल्यम् ।
 सोपादादुल्लेखे व्यप्री तैर्निजः प्रैष्यत यथोः ॥ १६ ॥
 विहरन्तस्ततस्ते आर्पितवह्निं विपुञ्जवे ।
 आहवर्गगरे तत्र वाह्यं समवासरम् ॥ १७ ॥
 राजा श्रीवत्समिश्रोऽपि आत्माभिमुखमध्वरान् ।
 अस्मन्निशायान् मूर्ध्निपदेन विरुद्धे मुरा ॥ १८ ॥
 उपदशाधृतेऽतत्र सिञ्चन् अग्न्यान्तस्यो यम् ।
 पुष्करावतवसेषां विधेः साधयन्निशान् ॥ १९ ॥
 श्रीमन्मन्त्रमिच्छतीर्षस्वित् श्रीमन्निमुक्ताम् ।
 इत्यथ सवारेणक्यादिमिच्छयन्नाथयम् ॥ २० ॥
 अन्त्येष्टस्तत्पुरोधाक्ष मिच्छात्कमहसदुपह्व ।
 कुञ्चिकपथितच्छाभिर्वन्द्य वादेजिनः स तैः ॥ २०१ ॥
 ततोऽनुकूलकृष्णाय तं स्तुरियुपसर्गयन् ।
 यथाच वृक्षमध्वर्या स राजानमनुजेतसम् ॥ २०२ ॥
 आवासी गुरवो देवा इव पूज्या जगत्पथि ।
 यनेषां पावुका पुण्या जनेर्धार्ता स्वमूर्धनि ॥ २०३ ॥
 किञ्चिद् विज्ञापये ज्ञोकमुपासनां हितं मया ।
 अवधारय तस्मिन्ने भक्तिभ्यो मातुले गुरो ॥ २०४ ॥
 विशतां मगराभ्यर्चयन्ना विग्वितां पथि ।
 कलङ्कयन्ते जनैरग्रे सामान्यैस्तथैव बहु ॥ २०५ ॥
 यथाजन्त तमीयोऽत्रापरं कुदं महामते ।
 प्रतीत आर्जवाद् राजा भाङ्गास्ते मन्कटं महम् ॥ २०६ ॥
 विहङ्गो मातुलास्तीर्षरूपा सर्वाङ्गता ह्ये ।
 तथा वर्षा अवस्थाप्य पाद्वन्ते वेधितुं किमु ॥ २०७ ॥
 हिजः माह महीनाथ ! मन्त्रवे ते हितं मुक्ताम् ।
 तव धर्मो वरास्ते च प्रयासवन्ति स्वर्गं मुक्ताम् ॥ २०८ ॥
 मगरे विग्वितो वाप्य सर्वाङ्ग स्वामिपूजिताः ।
 प्रल्लिङ्गाभ्या वराहैर्गुरवो राजरासनाम् ॥ २०९ ॥

कागदमाकाशमोक्षि हृद्गानेवज्जगन्निवहम् ।
 स्वयं ते निर्गमिष्यन्ति काष्ण्डिकान्वाहान् ते पुनः ॥ ११० ॥
 काष्ण्डिकमिति राज्ञोक्तं स तथेति स्वयंवाहं पुरे
 क्षानेवजं च ते हृद्गान्वाहं गुरुमध्यम् ॥ १११ ॥
 ततो सर्वत्र मिहिकागदरं संशोभ्यतेनरात् ।
 गुरुगद्गदसर्गाऽहं प्रत्यङ्गीकाहुपस्विनः ॥ ११२ ॥
 गन्धर्व्यं तत् प्रतिज्ञानपुरे संयमयात्रकम् ।
 जीवन्वाहयो राजा तत्र जेतो हवमत् ॥ ११३ ॥
 कृतो वातहृत् तत्र मैत्रि सङ्गाय सूर्याय ।
 शत्रेभ्यस्मासु कर्तव्यं पर्वपयुष्यं प्रवम् ॥ ११४ ॥
 तौ तत्र सङ्गतौ सचमानितौ वाचकं गुरौ ।
 हवाकवयसो मेने तेनेतम् परव्यं मुदा ॥ ११५ ॥
 जीवान्वाहम् प्राप शनैस्तत्राहं ततः ।
 जीवान्वाहवदनस्य प्रवेशोस्तत्रमातमोम् ॥ ११६ ॥
 हवपर्वपर्वं तत्र राजा श्वश्रवणम् गुरुम् ।
 अत्र हेतोः प्रभो ' भावी राक्षसजमहोस्तवः ॥ ११७ ॥
 ममद्वयगुरुकवयस्यो तत्र पश्यन् विधीयताम् ।
 एवं पर्वं मेकचित्तत्वं सर्वं जे लोकपर्वणि ॥ ११८ ॥
 प्रमूराह प्रजापाल ' गुरार्द्रगुणभूतम् ।
 पञ्चमी काष्ण्डिकारोमम् पर्वोऽहमहमगिरिति ॥ ११९ ॥
 कल्पते मेकचूलापि हविर्वा वास्यमोदकः ।
 सात्त्विकमिति पर्वदं पञ्चमीरजनी प्रवम् ॥ १२० ॥
 राजाऽहं दक्षपुत्र्यौ तत् पर्वं पयुष्यं ततः ।
 हावमस्तु गुरुः प्राह पूर्वोऽहमहं हवम् ॥ १२१ ॥
 काष्ण्डिकपि वनं पर्वपयुष्यं काष्ण्डिकमिति कुतिः ।
 अहोनावस्ततः प्राह हवदेतम् श्रियं शिवम् ॥ १२२ ॥
 वतः हवदेतने पर्वोऽहमहं पौषधस्विता ।
 जम्ब पुरपुरगन्धयो मे पञ्चमी पारवाह्यम् ॥ १२३ ॥
 तत्राहमं विद्यादृष्टां निर्मम्बानां महात्मनाम् ।
 अस्तु प्राहृकागदरैः मेष्ठमुत्तरपारणम् ॥ १२४ ॥
 ववाच प्रभुरप्येतन्महावानानि पञ्च वत् ।
 निस्तारयन्ति हवानि जीवं ह्युक्तमसागरम् ॥ १२५ ॥

यवनाम्ने तथा स्थाने कृतकोषे बहुधुते ।
 धानं महाफलं दत्तं तथा कोत्तरवारयो ॥ १२५ ॥
 ततः प्रभृति यजमानानुप्याभागतं करं ।
 कषावोपरामे हेतुः सर्वं साक्षात्तरं महत् ॥ १२६ ॥
 श्रीमन्मन्त्रसूत्रिणामेवं कथयिष्यामि ।
 कथ्युं परमं तु भूयः कुर्वतां शासभोजयिषु ॥ १२७ ॥
 कथ्येयुः कथयिष्येयं सूत्रिणां तादृशाभयि ।
 शासकविमर्शं दिष्ट्या कुर्वतां हेतुवप्रदाः ॥ १२८ ॥
 कथं शास्त्रात्तरं प्राहुः सूर्याऽवितर्कं कथं ।
 कथं चान्तिवेषाच्च साक्षात्तो यवमभ्यसः ॥ १२९ ॥
 तथा कथयमदीक्षं च विमर्शं शासभोजैः ।
 शासकविमर्शं विराजतां प्रशिक्षयाम्ने यवीं शुद्धः ॥ १३० ॥
 ह्यमुक्त्याऽप्युक्तं यमस्तत्र लक्षितेन चोक्तं ।
 कथयाम्यसौ शुद्धं च परमपरमं यवमभ्यसः ॥ १३१ ॥
 यव शास्त्रात्तरं यवशुद्धिं ज्ञानानि निश्चिनम् ।
 यव दूषितत्वाऽस्मात् शासकविमर्शतोऽप्युक्ता ॥ १३२ ॥
 यवमभ्यसं स यवीं विमर्शयाम्युक्त्या च प्रशिक्षयामि ।
 यवमभ्यसं स यवीं विमर्शयामि प्रशिक्षयामि ॥ १३३ ॥
 यवमभ्यसोऽप्युक्तिं कोषैश्चानुपुन्यं कथयन् कथा ।
 यवमभ्यसितां यवीं यवमभ्यसं यवमभ्यसं ॥ १३४ ॥
 यवमभ्यसितां यवीं यवीं यवीं यवीं यवीं यवीं ।
 यवीं यवीं यवीं यवीं यवीं यवीं यवीं यवीं ॥ १३५ ॥
 यवीं यवीं यवीं यवीं यवीं यवीं यवीं यवीं ॥ १३६ ॥
 यवीं यवीं यवीं यवीं यवीं यवीं यवीं यवीं ॥ १३७ ॥
 यवीं यवीं यवीं यवीं यवीं यवीं यवीं यवीं ॥ १३८ ॥
 यवीं यवीं यवीं यवीं यवीं यवीं यवीं यवीं ॥ १३९ ॥
 यवीं यवीं यवीं यवीं यवीं यवीं यवीं यवीं ॥ १४० ॥
 यवीं यवीं यवीं यवीं यवीं यवीं यवीं यवीं ॥ १४१ ॥
 यवीं यवीं यवीं यवीं यवीं यवीं यवीं यवीं ॥ १४२ ॥
 यवीं यवीं यवीं यवीं यवीं यवीं यवीं यवीं ॥ १४३ ॥
 यवीं यवीं यवीं यवीं यवीं यवीं यवीं यवीं ॥ १४४ ॥
 यवीं यवीं यवीं यवीं यवीं यवीं यवीं यवीं ॥ १४५ ॥
 यवीं यवीं यवीं यवीं यवीं यवीं यवीं यवीं ॥ १४६ ॥
 यवीं यवीं यवीं यवीं यवीं यवीं यवीं यवीं ॥ १४७ ॥
 यवीं यवीं यवीं यवीं यवीं यवीं यवीं यवीं ॥ १४८ ॥
 यवीं यवीं यवीं यवीं यवीं यवीं यवीं यवीं ॥ १४९ ॥
 यवीं यवीं यवीं यवीं यवीं यवीं यवीं यवीं ॥ १५० ॥

भटपुष्पीमधो पृष्ठो दुर्गमां सुगमाभिः ।
 गर्वाद् यत्किञ्चन श्यामवारनादरपरायणः । १४९ ॥
 दिने कैश्चित्ततो गच्छन् आगच्छन् ननुवाक्यम् ।
 सूरिणाऽभ्युत्थितोऽवादीद् गुरवाऽग्रे समावयुः । १५० ॥
 वास्तव्या अवदनं वृद्धं विनैर्कं कोऽपि नायवी ।
 तेष्वात्ताच्छब्दु गच्छोऽभ्युदस्थात् सूरिश्च सन्नयः । १५१ ॥
 गुह्यनयमयद् गच्छः पञ्चमः सूरिरध्वसूनुः ।
 तं च तं चानुशिष्यैते सूरिमित्रमणोचयन् । १५२ ॥
 सिक्ततासंभृतं प्रस्थां स्थाने स्थाने विरेचितं ।
 रिक्ते तत्राप्यद् वासः । दृष्टान्तं विद्वन्मूर्ध्नाम् ॥ १५३ ॥
 कीदृशं ततो कम्पु ज्ञतकेवलिनस्ततः ।
 घटस्थाने पतितस्थिते च भुते म्यूनस्वनामयुः ॥ १५४ ॥
 ततोऽप्यनुभवेषु म्यूनं म्यूनतरं ज्ञतम् ।
 आत्मवृत्तपु वादर्थं तादृग् न भवि निरुद्धे । १५५ ॥
 तादृग्मे त्वगुरोस्तत्र वादकं तद्वयं न तेऽस्ति सन् ।
 सर्वथा मा कथा वरतः । सर्वं सर्वकर्म ततः । १५६ ॥
 भटपुष्पी च तत्पृष्ठं मभूद्यौक्यानयत् तदा ।
 अहिंसासूत्राद्वेद्यमहाकिञ्चनता तया ॥ १५७ ॥
 तादृगेवपरीहाते चर्मभ्यान् च तत्प्रमम् ।
 शुद्धभ्यानमष्टमं च पुण्डरीकाक्षार्चनाभिज्ञम् ॥ १५८ ॥
 यत् च शिक्षयित्वा तं आनयान्तिराये स्थितम् ।
 आपृच्छय व्यचरन् सङ्गहीनोऽप्यत्र पवित्रधीः । १५९ ॥
 कीर्त्तिसंभरतीर्थशनिगोदाक्यानपूर्वतः ।
 इन्द्रमभ्यर्च्य ज्ञेयमावरं कितकज्ञा ॥ १६० ॥
 मीमेनशासनकोपीसमुच्चारयिकच्छपः ।
 श्रीकाक्यममुं प्रायात् प्रायादेवमुत्तं शमी ॥ १६१ ॥
 श्रीमत्कालकसूरिसंयमनिवेष्टुं प्रवृत्तं ज्ञतात्
 भुक्त्वाभीमुरोर्मुखावधितयकवातप्रभावीदयम् ।
 संदग्धं मयका तमस्ततिहरं ज्ञेयं ज्ञेयं ज्ञावताम्
 कीर्त्तयस्व पठन्तु तच्च विष्णुवा नन्वाद्य कोटीं समाः ॥ १६२ ॥

जीवन्मृतसूरिपट्टसरसीहंसप्रभः जीवन्मा-

वन् सूरिरनेन चेतसि कृते श्रीरामस्तदमीभुवा ।

जीपूर्वर्षिषरिप्ररोहणगिरौ श्रीकालकाक्यानकं

जीप्रद्युम्नमुनीन्दुना विशचितः ऋद्धश्चसुयोऽभवत् ॥ १५६ ॥

। इति श्रीकालकाचार्यप्रबन्धः ॥



परिशिष्ट-२

बृहत्कथामञ्जरी

विद्यमान-अन्वयः, अन्वयगुणः

गीतो वृत्तिता श्रीः कर्णे केतकिपञ्चाम् ।
शाम्बी ॥ शशिकला भूषावान्वसंपरे ॥ १ ॥
सर्वं विद्या विद्योगभिसंतापिततनुषने ।
भार्य्यकथामुने प्राजापत्यं नरवाहुत ॥ २ ॥
नमःशशाङ्कमनमे शशाङ्करोपदिप्यते ।
विदेह इव क्षत्रियकले लक्ष्मस्तपोवने ॥ ३ ॥
मज्जन्ते जसो राशि सहस्रांशुमिवापरम् ।
कल्पं विष्णुदत्ता मेन सस्य चापसितं धनम् ॥ ४ ॥
हं मुनीन्द्रस्ततः माह हृदिनरपथं वा पुनः ।
कुर्वन्मयां इमांसीमिह वृत्तांशुमन्यते ॥ ५ ॥
राजधनो नव धृतिं वल्लभां तामवाप्यसि ।
संवाताम्ना भवत्येष विद्योगः पुण्यकर्मणाम् ॥ ६ ॥
विद्यापुत्रानुकूपेन प्राप्यमे हरिना भवि ।
वने धनसहस्रकूपं विद्याराजमपरे ॥ ७ ॥
पुरा वैजायन्तिकासीनं शीतं ह्युत्तरे ।
समयेन त्रिनेत्रे राजकपुत्रागमे ॥ ८ ॥
पुत्रिनिदिनेर्वैद्येऽर्पितं नरवर्त्मनः ।
अवनोर्ध्वमहाभोजं स्वस्था वेद्यास्त्वीकृता ॥ ९ ॥
प्रजापत्यं धरावसिति देवारा इव ।
भूधरशास्त्रे प्रथमं माध्यमं समादिशत् ॥ १० ॥
सोऽथ त्रिमयमिह सर्वतोवचसा क्षिणी ।
कजकिष्का नरपते श्रीमत् प्राप पुत्रताम् ॥ ११ ॥
राजं महेन्द्रादिः स्वस्व स्वप्ने शर्वेण सुविद्यः ।
सोऽथवाहकमाश्रित्य तनवो वशमां निधिः ॥ १२ ॥
माया विषमरीक्षाऽसौ हितोयेनापि विमुक्तः ।
सर्वराजाकारिणो मेमे जायन्तं विभुः ॥ १३ ॥

तस्मै गङ्गापतिर्देव्या जिव भूपतिविभुताम् ।
 ययौ वाराणसी भीमान्तकृतम्बु खिया सह ॥ १४ ॥
 राजा विषमरीकोऽथ जगते प्रशमं जिते ।
 शरास वसुधां धम्बी ग्लेच्छदोच्छावनदीक्षित ॥ १५ ॥
 कुलकमागतस्वस्थ बभूव विपुलाशय
 यद्रायुष्य प्रतीहारः सन्निवृत्त महामतिः ॥ १६ ॥
 स कदाचिन्नयपटायीतिताजिनशासनः ।
 समानीत सभ्यदेव विजयो भन्निष्ठा पुर ॥ १७ ॥
 योऽसावनङ्गदेवाकरो विसृष्टो दक्षिणापथम् ।
 देवेन सांऽभयायात स्वाभिन्नं हृष्टुमिच्छति ॥ १८ ॥
 हृत्पुष्पा नृपतेराज्ञां धाव्य रूपमवेराप्स्य ।
 सा द्वितीयं ततो पूर्णं हर्षविरुकारिकायाम् ॥ १९ ॥
 स प्रपन्न्य गङ्गापतेर्देवमिहासभक्षितम् ।
 कुमेरुपूजामभितां प्रयानमिदं भास्करम् ॥ २० ॥
 विजिह्वपरीक्षमाणः कीदृकावसुधाधिपम् ।
 किमर्थं वचसतीत्यन्तकाकण्डाद्गुरिताशयः ॥ २१ ॥
 येष दक्षिणविभूयेपुंमन्त्रासममातिष्ठ ।
 किरीटकाटौ विजिता जयसीरक्षामहीवधिः ॥ २२ ॥
 क्रमेणाम्बुधिमुत्तीर्ष्य पातोऽहं सिंहसेनम् ।
 कीदृसेनं भवद्विपरीतं कुलपुत्रं जिवः ॥ २३ ॥
 स मां त्यक्त्वासनं भूमिं निषावोत्कुललोचनम् ।
 ग्राह्यस्ति मम सर्वस्वं कम्पारजमनुत्तमम् ॥ २४ ॥
 विजयादित्यदेवाश्च रत्नानां भाजनं विभुः ।
 समर्पितेर्धं वचसा मया तस्मै सुमन्त्रया ॥ २५ ॥

परिशिष्ट-३

कथा-सरित्सागर

विषय-सूची

चण्डालस्तर्धे रेखाय चन्द्रः क्षितिजभूतये ।
 चन्द्राकोनक्षेत्रेण चण्डार्धेक्षितरे नमः ॥ १ ॥
 करोम कुक्षितामेव हीनयोर्जामनेन यः ।
 भानि सिद्धीरिव दृष्ट्वा वाचाद्वा गजानन ॥ २ ॥
 सतोऽसितगिरी तत्र करमपस्याजमे भुजे ।
 तत्राहमद्वलस्तान्मृनीनेदमभाषत ॥ ३ ॥
 ज्ञान्यथ देवीविरेहं नीत्याहं क्षान्तागता ।
 वेगावन्वा यथा न्यस्तो विद्याहन्तेऽभिरक्षुम् ॥ ४ ॥
 यदा शरीरस्थातोवी चिरही भवेत्तदा ।
 यनाम्ने दृष्टवानस्मि ज्ञमन्त्यर्थं यदाभुवि ॥ ५ ॥
 स त्वं वाचाम्भं दद्या भविष्यामादवत्थ यः ।
 कुक्षितं स्याज्जम नीत्या सर्वतो मुनिरध्वजान् ॥ ६ ॥
 साम्प्रदाहोको वीरो मूढा किं नाम कुक्षानि ।
 देवादरो भवेऽनाहवा का भाकीर्त्तमाने तव ॥ ७ ॥
 ज्ञानमायां नपि मुखां यवन्तीह समागताः ।
 तथा हि विष्णुमादिरवकासाकामि ते मृगान् ॥ ८ ॥
 अस्यदन्तिषु विष्वाता पुगाही विश्वकर्मणा ।
 निर्मितोऽजकिमी नाम पुरारिवभति पुरी ॥ ९ ॥
 सतीव वा यदावृष्ठा पश्चिनीशानिता जिया ।
 ज्ञानं कीरिव चमोदया पृथ्वीव यदुकीतुका ॥ १० ॥
 भवेन्नादित्वं इत्यासीत्तदा तस्यां जगज्जवी ।
 मयश्चाभिरावर्ता विषध्वजस्तत्त्वतः ॥ ११ ॥
 नानाशक्त्युध शीर्षे हये तु कुमुदावृध ।
 चोऽभून्मुक्ककरस्यामे यद्वमुद्रिकरस्त्वमी ॥ १२ ॥
 सर्वं पृथ्वीपनेमौरी राज्ञाम्भूमीम्वदर्शना ।
 शशीवेन्द्रस्य गौरीव शम्भो कीरिव शाङ्गिण ॥ १३ ॥

महामन्त्री च सुमतिर्नाम तत्काभवत्प्रभो ।
 वक्राशुधाभिधानश्च प्रतीहारः कमागतः ॥ १४ ॥
 ते तमं स पृथः शासकान्वसाराधयन्हरम् ।
 ज्ञानावतधरः शस्त्रभवयुत्रकाववा ॥ १५ ॥
 अत्रामरे च गीर्वाणायसंभितकंदरे ।
 अग्न्यद्विग्नवसानम्बकीचेरीहामसुन्दरे ॥ १६ ॥
 सिधवं कैलासरीजम्भ्रे पुररि पार्श्वतीयुतम् ।
 चपाजग्मं पुनः सेन्हा भ्येच्छापुत्रबहु सिधला ॥ १७ ॥
 प्रणामानन्तराभीनास्ते इतरमुपशोऽमरा ।
 पृष्टागमनकार्यास्ते देवसेव कर्पत्रजपन ॥ १८ ॥
 ये त्वया देव निहता असुरा ये च विष्णुना ।
 ते जाना भ्येच्छावसेव पुनरप्य महीतमं ॥ १९ ॥
 श्वापादयन्ति ते विज्राग्नन्ति कलादिष्व किवा ।
 हरन्ति सुनिष्कम्भाश्च वापा किं किं न कुर्वते ॥ २० ॥
 भूलाकैरेवलाकञ्च शस्त्रवाप्यावने यथा ।
 ज्ञाक्षणीर्हृन्मज्जी हि इविस्मृत्तये दिवीकसाम् ॥ २१ ॥
 भ्येच्छावसेव च भूलाके निर्धयकारमङ्गले ।
 यज्ञभागादिदिक्छेदादेवलोकाऽवसीराव ॥ २२ ॥
 तदुपार्थं कुलप्याह तं कथिदवतारय ।
 प्रवीरं भूतज्ञं वरुणाभ्येच्छावसाम्बुविश्वमिति ॥ २३ ॥
 इति देवे स विजयं पुनरातिवशाच ताव ।
 वाप सुवं न चिन्तात्र कार्या भयन निर्भुता ॥ २४ ॥
 अचिरं च कर्पिप्रेतमजोपायममंशयम् ।
 इत्युक्तवा वयम् अहेवाभ्येच्छावसाम्बुकापति ॥ २५ ॥
 गतेषु तेषु चाहुव मातृवत्संज्ञकं गणम् ।
 सपाधतीको भाव्यानेवमादिशति वयं स ॥ २६ ॥
 पुत्राधतरं मानुष्ये मायस्व च महापुहि ।
 अजयिष्वा सुतं शूरो महेन्द्रादित्यभूयते ॥ २७ ॥
 स च राजा ममेवारास्तद्वायो चाग्निर्काशजा ।
 तयोर्गृहे समुपवत् कुल कार्यं दिवीकसाम् ॥ २८ ॥
 भ्येच्छावसेवापादयारोपांश्वयीधर्मविधातिनः ।
 सप्तद्वीपेश्वरो राजा मन्त्रस्तदाह भावयति ॥ २९ ॥

कथराधमवेतजा अपि स्वास्मत्ति ते वरो ।
 भुक्त्वा मान्यभोगाः पुनरस्मानुपैष्यसि ॥ १० ॥
 ह्यवापिह पुराजना मान्यवास्याऽनवीकृतः
 कजहृत्वा पुन्यवत्ता मे भागा मानुष्यं तु के ॥ ११ ॥
 कथं वापुमृद्वृक्षुन्दविप्रयोगा सुदुःसहा
 धनलोहाकराणां पातुहवा कथं वा कथथा ॥ १२ ॥
 इति नमः तयोरोक्ता भूर्जाटं प्रमुखाय नमः ।
 तच्छ्रद्धं नैतानि बुभुक्षन्ति भोक्त्वान्ति सवानय ॥ १३ ॥
 आत्मभवेन सुखेन सर्वकारं भविष्यसि ।
 इत्युक्तं तंभुना भोऽभुवृष्टावो मान्यवरोऽनतः ॥ १४ ॥
 तावा वाऽपानी तस्य मद्भ्रातृत्वभूभुजः ।
 देवता कृतुजुषो तमे सप्तभूयसः तयोक्तवः ॥ १५ ॥
 तन्कारं वा भिक्षाकारतत्त्वावहितरोक्तरः ।
 देवो मद्भ्रातृत्वं वं नृप स्वप्ने सवार्द्रशतः ॥ १६ ॥
 सुतोऽस्मि तव सदाश्रम्य ते पुत्रो भविष्यति ।
 जायन्तिष्यति अतीनां हृत्परी विष्णवेव वा ॥ १७ ॥
 कथं हि पिशाचादीन्पानाकाकारमानवि ।
 दीनं कश्चिदपि वरो म्लोचसंभवाभ्यन्ति ॥ १८ ॥
 भविष्यकथं एवैव विकारादित्यभक्तः ।
 कथा विप्रमहीकथं माध्मा वैष्णवतोऽस्मि ॥ १९ ॥
 हृत्कल्याणहिमे देवे प्रदुःखं स महीरति
 ज्ञातं स्वसाधवेऽनतं हृदं स्वप्ने स्ववदन् ॥ २० ॥
 तेऽपि स्वप्ने हरादेरां पुत्रपामिकलं कमान् ।
 तद्वै रागास्तुः सन्ध्या रात्रौ वमुनिगहनवा ॥ २१ ॥
 कावेन्द कलं साध्याश्वेऽनतः पुरचटिकः ।
 कदरीवरिदं देवै स्वप्ने शम्भुवार्ति ॥ २२ ॥
 सतं स राजा भुम्भे भविष्येतिभोऽनतः ।
 सतं सतं सुतो दत्ता राक्षोतिं मुद्वरन् ॥ २३ ॥
 कथं एतौ साध्यां सा जने सन्ध्याऽनतः ।
 ज्ञापी मातरिकादेव्यस्यहृदकरमण्डला ॥ २४ ॥
 कथारो सा च कुम्भो रकामवा वृक्षुर्द्विषा ।
 गर्भंमद्वेव सक्तवः स्वप्नेऽनतः ॥ २५ ॥

स्वप्ने सप्तापि जलधीनुल्लसत् च सा तदा ।
 मलयमगता निखिलैर्यक्ष्यैस्ताराम्भसैः ॥ ४६ ॥
 प्राप्ते च समये पुत्रं सा सूते स्म महस्विनम् ।
 मग्नेऽर्करोषं बालेन येनाभास्यत वासकम् ॥ ४७ ॥
 काते च तद्विमलितत्पुष्पवृष्टिप्रहासिनी
 सौरराजतं गीर्वाणमुद्गुभिर्भुविनाविनी ॥ ४८ ॥
 क्षीयेव भूलाबिष्टेव वातक्षोभाप्लवेव च ।
 तत्कालमुत्सवातम्बुकाकुला साभवत्पुरी । ४९ ।
 तदा च तत्राविरतं वसु राजनि वर्पति ।
 सीगतव्यतिरिक्तं नासीन्काञ्चरनीधरः ॥ ५० ॥
 नाग्या तं विष्णमादित्यं हरोक्षेनाकरादिभ्यः ।
 तथा विषमशीलं च महेन्द्रादित्यभूपति ॥ ५१ ॥
 गनेष्वभ्येषु विषसेष्वत्र तस्य महीभुजः
 सुमतेर्मन्त्रिणः पुत्रो जज्ञे भाग्या महामति ॥ ५२ ॥
 क्षणवज्राधुपस्यापि पुत्रो भद्रावुधोऽजनि ।
 क्षीपरोऽजावत सुतो महीधरपुत्रोऽस ॥ ५३ ॥
 तैस्त्रिभिर्सेनितनयैः सह राजसुतोऽस सः ।
 यदुधे विष्णमादित्यहोषोऽर्कवज्रैश्च ॥ ५४ ॥
 कवनीतकं विद्यातु दुरवो हेतुमात्रताम् ।
 यदुत्सङ्गावधसेन मादुरासम्बन्धं तु ता ॥ ५५ ॥
 दृष्टो स प्रयुक्तानो वा वा विद्यां कलां तथा ।
 सैव सैवामभोगर्वा तस्य तच्छीरमुत्पत ॥ ५६ ॥
 दिव्याकृषोर्धिनं त च परमराजसुतं जना ।
 मग्नादरोऽभूदासादिधनुर्परकषास्वपि ॥ ५७ ॥
 आकास्तोषनतैर्वता कन्या रूपवतीर्नृपैः ।
 आजहार पिता तस्य तास्ता मिथ द्वापरा ॥ ५८ ॥
 ततश्च शौचनस्त्रं तं विलोच्य प्राप्यधिकमम् ।
 कामिदिप्य सुतं राक्षसे कषाविधिं तनयिणम् ॥ ५९ ॥
 महेन्द्रादित्यभूपतिः सभाधौसम्बिभोऽपि सः ।
 दृष्टो वाराणसी गत्वा शरणं शिष्ये शिषम् ॥ ६० ॥
 सोऽपि तद्विक्रमादित्यो राज्यमासाद्य वैतुकम् ।
 ततो भास्वानिवारेभे राजा प्रतपितुं कम्पाम् ॥ ६१ ॥

स्नेहसंघातनिहता शोकाच्च स्वापिता वशे ।
 ते ते विक्रमशक्त्यैव प्रविष्टा कष्टके मृपा ॥ ७८ ॥
 स च विक्रमशक्त्यैव राजभिः समसागतः ।
 इतः प्रयागकेष्वाम्ने द्विरेष्वेव काशु ययो ॥ ७९ ॥
 एवमाक्यातवन्तं तं तुष्टो बह्वैर्बभूवजे ।
 मामैव विक्रमाहायो हृतं राजाभ्युपगच्छत् ॥ ८० ॥
 अथ यमस्य मृपतिः स तं हृतवरं पुनः ।
 अनङ्गदेव के देशा गतेनात्र विजोकिताः ॥ ८१ ॥
 त्वया कुत्र च किं दृष्टं यौगुवं यद्वा कथयताम् ।
 इत्युक्तो मृधुलानङ्गदेवो बलं प्रयच्छमे ॥ ८२ ॥
 इतो देवाज्जया देव गन्वाहं प्रायवास्केमात् ।
 पार्थ विक्रमशक्त्यैव सेनासमन्वयं तव ॥ ८३ ॥
 मिश्रितानाम्नामातेभ्युपगच्छतिराभितम् ।
 समुपगच्छ विक्रमार्थं अपञ्चयमाधुनाभितम् ॥ ८४ ॥
 यथागतञ्च तत्राहं तेन विक्रमशक्तिना ।
 प्रभूणा मेपित इति प्रजनेनात्मसङ्गतः ॥ ८५ ॥
 तावन्निष्ठामि विजयस्वस्वत्वं प्रविशोक्तवम् ।
 सिंहलेश्वरसंघाधी वृत्तलाङ्गदुपागमम् ॥ ८६ ॥
 राज्ञो हृदयमृतस्नेहमङ्गदेव दत्ततोऽनितके ।
 इति मे कथितं पुनैस्त्वापाश्वप्राप्तमागतैः ॥ ८७ ॥
 तदेतं त्वरयानङ्गदेवं प्रहिणु मेऽनितकम् ।
 कस्याजमस्य वरयामि राजकार्यं हि किञ्चन ॥ ८८ ॥
 इति स्वयमवाक्यं च स दूनं सिंहलागतः ।
 सम्ममिधामे वक्ति कम तस्मै विक्रमशक्त्यै ॥ ८९ ॥
 ततो विक्रमशक्तिर्मांमपतङ्गञ्च क्षत्वरम् ।
 सिंहलेश्वरमितकं पश्य स्वमुक्ते किमपीतं स ॥ ९० ॥
 अथाहं सिंहलाधीशदूतेन सह मेन तम् ।
 अगच्छ सिंहलद्वीपं बहूनेनास्त्रिभर्त्मना ॥ ९१ ॥
 राजधानी च तत्राहमवश्यं द्वेयनिर्मिताम् ।
 विचित्ररत्नप्रसारा गीर्वाणनगरीविष ॥ ९२ ॥
 तस्यां च वीरसेनं तमहाश्व सिंहलेश्वरम् ।
 हृतं विनीतैः सचिवैः सुरैरिव शतक्रमुप ॥ ९३ ॥

तं तामुपेतवादिभ्यः दृष्टुं च कुराह्यं तथो ।
 राजा विजयवाक्यस्य संस्कारेणान्न मृषया ॥ ६४ ॥
 कर्मदेष्टुराश्वासगतो माताहूय स भूपति ।
 बुध्नास्तु दशवर्गमस्त्रिंशद्वर्गमस्त्रिंशद्वर्गम् ॥ ६५ ॥
 अस्त्रिंश मे दुहिना कन्या मत्स्यलाघेयमुत्तरी ।
 माध्वा मदनसंवेति तां च राज्ञे ददति च ॥ ६६ ॥
 तस्यानुत्तवा भावो मा व तदवाध्यायितः कति ।
 दशवर्गं तस्याहूयस्त्रिंशद्वर्गं प्रदीपसा ॥ ६७ ॥
 गच्छ च म्यामिने वक्तुं मदनं सहायकः ।
 कदा तथैवानुपदं मदनं सहायकं चाम्बुजम् ॥ ६८ ॥
 कन्येवाभावाभावाभासं च राजा तत्र तं मुताम् ।
 भूपतिमदवाध्यायं सदावाध्यायकीवति ॥ ६९ ॥
 वधवत्त च ताम्बुजे दशवर्गं सहायकम् ।
 तत्सहायिने मया दत्ता कन्यं दृष्टुं तं विधिः ॥ ७० ॥
 कदा च राजपुत्री तं दृष्टुं तस्यांशं विनयः ।
 तन्मीमित्तं राजा मयि त्वां दत्ताऽन्यम् ॥ ७१ ॥
 कान्तमयं च माध्वेविधौ बुध्नाऽन्यम् विधिः ।
 तद्वत्तमिति तं च मया कन्या विधौ तन्मा ॥ ७२ ॥
 तन्माऽहं अकलमेव राजा मयि तन्मास्तम् ।
 द्वितीयवत्तमेव तद्वत्तं सहायकम् ॥ ७३ ॥
 कान्तं तद्वत्तं चानि मयाचो कन्याऽन्यम् ।
 कान्तं तद्वत्तमेव तद्वत्तं सहायकम् ॥ ७४ ॥
 तन्माऽहं अकलमेव राजा मयि तन्मास्तम् ।
 द्वितीयवत्तमेव तद्वत्तं सहायकम् ॥ ७५ ॥
 कान्तं तद्वत्तं चानि मयाचो कन्याऽन्यम् ।
 कान्तं तद्वत्तमेव तद्वत्तं सहायकम् ॥ ७६ ॥
 तन्माऽहं अकलमेव राजा मयि तन्मास्तम् ।
 द्वितीयवत्तमेव तद्वत्तं सहायकम् ॥ ७७ ॥
 कान्तं तद्वत्तं चानि मयाचो कन्याऽन्यम् ।
 कान्तं तद्वत्तमेव तद्वत्तं सहायकम् ॥ ७८ ॥
 तन्माऽहं अकलमेव राजा मयि तन्मास्तम् ।
 द्वितीयवत्तमेव तद्वत्तं सहायकम् ॥ ७९ ॥
 कान्तं तद्वत्तं चानि मयाचो कन्याऽन्यम् ।
 कान्तं तद्वत्तमेव तद्वत्तं सहायकम् ॥ ८० ॥

इत्यादि वृत्तोरिव देव साक्ष्यमावयो ।
 वायुः प्रावर्तताकस्मात्तुमुद्देक्षिताम्बुधिः ॥ ११० ॥
 तेनास्मद्वहनं वेङ्गदीप्तिवस्तमभक्ष्यत ।
 मकरैर्भक्ष्यमाणाश्च मयस्त्रुस्तुलना जनाः ॥ १११ ॥
 आर्वाश्च ताभ्यं कम्पाभ्यामेतौ बालस्य चानुपु ।
 हरिश्चन्द्र पुष्टिनं नीतावप्राप्तमकराननी ॥ ११२ ॥
 ऊर्ध्वं च पृथमायो च तस्मिन्नेव सि विह्वली ।
 आन्ध्यास्यावां शुद्धागर्भमिव ताभ्यं प्रवेशिती ॥ ११३ ॥
 एतो बीजावहे तावद्विष्यं तातादुर्मं वनम् ।
 माग्भोभिर्न वटं नपि क्षारावो न कम्पके ॥ ११४ ॥
 विश्वं किमेतन्मायेव मूलं कापीति वाहिनी ।
 क्षणं भवन्ती तत्रावापरावाव महासर ॥ ११५ ॥
 इवच्छागभ्रीरविस्तीर्णमावाव महतामिव ।
 तुष्णासंतापशमनं मिथोजमिव मृतिमम् ॥ ११६ ॥
 तत्र च क्षातुमायातां साक्षादेव कनमिवम् ।
 परिवारावृतां कर्तव्यपरवाव वराहनाम् ॥ ११७ ॥
 कर्णैरवाचतीजो च तत्रोचितसरोक्ष्वा
 क्षावाः सरस्यतुष्णालमकरास्ता पुरद्विषः ॥ ११८ ॥
 तावदुद्गम्य सरतो विस्मयेन सञ्जायतां ।
 साक्षादुपागमिष्यन्तं तस्या किङ्काकृतिं शिव ॥ ११९ ॥
 दिक्परममर्थं तं सा मैरुनैः कथमिभोचिते
 ज्ञानमर्थं विविधैर्भोगैर्वीणामावृतं सुन्दरी ॥ १२० ॥
 आकाशस्य दक्षिणं मार्गं स्वरनामपदैः क्षया ।
 अथवानेन सा सम्यग्भाष्यन्ती तामवावयन् ॥ १२१ ॥
 यथा तच्छब्दजादुःसहृदया तामनामता ।
 तत्र सिद्धाद्वोऽऽवासजि रूपस्या लिखिता इव ॥ १२२ ॥
 अपसङ्गतयावर्षां तत्र शोचिसर्जनम् ।
 साकरास्त च तत्रैव देव सरांस मग्नवाक् ॥ १२३ ॥
 जयोऽथाय समाकृष्टं बहन् सपरिच्छदा ।
 शनैर्ननु श्रुताभूस्ता ततो हरिषोऽश्रणा ॥ १२४ ॥
 जेवमित्यसकृदवावावयोः पृथक्क्षतोरपि ।
 मोक्षार्थं तत्परिचयः कोऽप्यवावनुगच्छतो ॥ १२५ ॥

सतोऽस्य सिंहसङ्घीपपत्तिवृत्तस्य तार्क्ष्यकम् ।

प्रभावं दशविधं स्ताभिर्युक्त्वाैरहमजयम् ॥ १२६ ॥

योः शुभे विक्रमादित्यदेवाङ्गिप्रस्पर्शापिता ।

स्यैव स्यान्मन्त्रावस्य समारमान मसिष्यसि । १२७ ॥

तच्छ्रुत्वा परिवारं स्या निशार्थेषाचक्रा च ।

वह्नीन्मन्त्रागम्य गिरा मधुरयाभ्यधात् ॥ १२८ ॥

कथित्वोविक्रमाविरयैव कुरासपानप्रभु ।

किं वा पृच्छामि विविधं सर्वं मेऽनङ्गदेव यत् ॥ १२९ ॥

प्रवश्यं मायामानीतो मयैव हि मयानिह

राजोऽर्थं लक्ष्यत हि मे माभ्यक्षाता महाभयात् ॥ १३० ॥

तदेहि भवदूर्ध्वं तत्र सर्वं कथयाम्यहं तव ।

याहं यथा च राजा मे माग्यः कार्यं च तस्य यत् ॥ १३१ ॥

इत्युक्त्वा विनयेन मुक्तवह्ना पञ्चयोः प्रजन्ती पथि

प्रज्ञां ता मयति स्म तौ सुषयन् स्वर्गोपमं स्व पुरम् ।

मानारग्रपिप्रहेमरचितं द्वारेषु मानादुभे-

नानाहवधरेण वीरपुङ्गवैरभ्यासितं सर्वतः । १३२ ॥

तत्रावृते वरवभूमिशेषविषयभोगीधसिद्धिभिरिवाकृतिशक्तिनीभिः ।

ज्ञानानुज्ञेपनसदम्बरभूषणीनीं समाग्य विममयति स्म च सांप्रतं सः ॥ १३३ ॥

इति महाकविनीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे विषमशीलजम्बके

प्रथमस्तोत्रम् ।

प्रमाण ग्रंथ-सूची

(अ) शूल ग्रन्थ

- | | |
|----------------------------------|-------------------------------------|
| १. ब्राह्मण साहित्य | (क) पद्मवल्ग्वी (पद्मवल्ग्विमुक्तद |
| वेतरेष ब्राह्मण | मुनिवर्णनविजय द्वारा सम्पा- |
| २. महाकाव्य | दित, सिन्धी सीरीज़) |
| (क) रामायण | (ग) प्रभावन्द सूरिकृत प्रभावक- |
| (ख) महाभारत | चरित |
| ३. पुराण | (घ) मेरुतुल्य सूरिकृत प्रबन्ध- |
| (क) ब्रह्माण्ड | चिन्तामणि |
| (ख) भविष्य | (ङ) राजयोग्य सूरिकृत प्रबन्धकोश |
| (ग) पद्म | (च) पुरातन प्रबन्धसंग्रह |
| (घ) भरत | (इ) विविध तीर्थकवच |
| (ङ) वायु | (ज) मेरुतुल्यकार्यकृत विचारभेजी |
| (च) विष्णु | (झ) कल्पवृक्ष |
| ४. संकलनग्रंथ | (ञ) किरणियुक्त |
| हासकृत गाथासप्तशती | (ट) भविष्यपुराण |
| ५. हिन्दू कथासाहित्य | (ड) वैष्णवनामक चिन्तामणि |
| (क) गुणाकारकृत बृहत्कथा (जैसा | (ढ) वैष्णवकृत सिंहासनहासि- |
| कि दूसरे ग्रंथों में वर्णित है) | सतिका |
| (ख) वैष्णवकृत बृहत्कथामञ्जरी | (ण) रामचन्द्र सूरिकृत चिन्तामणि |
| (ग) सोमदेवकृत कथासरित्सागर | (त) राजमेरुकृत चिन्तामणि |
| (घ) भोजप्रबन्ध | (थ) इन्द्रसूरिकृत चिन्तामणि |
| (ङ) शिवदासकृत मेलाकण्ड- | (द) हिन्दी गुणसार्थ महाभारती तथा |
| विहसिका | (ध) ताम्रिक में चिन्तामणित्व पर |
| (च) बरकुकृत प्राचिनसुखलिका | अनेक ग्रंथ |
| ६. जैन साहित्य | ७. बौद्धसाहित्य |
| (क) जैन हरिवंश | (क) वीरचंस |
| | (ख) महावंश |
| | (ग) सिकन्दरचंस |

(घ) दीपनिकाय

(ङ) कुचपरित

८. भास्व के ग्रंथ

९. काशिदास के ग्रंथ

१०. रात्र्यशास्त्र के ग्रंथ

(क) बौद्धिक का भर्त्सनाक्ष

(ख) कामध्वनीय नीतिसार

११. धर्मशास्त्र साहित्य

(क) आपस्तम्ब धर्मसूत्र

(ख) बौधायन धर्मसूत्र

(ग) बसिष्ठ धर्मसूत्र

(घ) अत्रुरयति

(ङ) धातुवर्णन स्मृति

१२. उद्योतिष ग्रंथ

(क) बृहदारण्यकसंहिता

(ख) श्रुतसंहितासंहिता

१३. व्याकरण ग्रंथ :—

(क) पाणिनिवृत्त व्याख्या

(ख) वसिष्ठवृत्त महाभाष्य

(ग) काशिकावृत्ति

(घ) भट्टोजिदीक्षितवृत्त सिद्धान्त-
कीमुनी

१४. कोशग्रंथ

(क) अमरसिंहवृत्त 'अमरकोश'

(ख) अमिशान रत्नमाला

१५. भेषज ग्रंथ

(क) शरक संहिता

(ख) सुश्रुत संहिता

(भा) आधुनिक ग्रन्थ

(क) इतिहास, रात्र्यशास्त्र तथा
समाज शास्त्र(१) काशी प्रसाद जायसवाल, हिन्दू
पॉलिटीकाशी प्रसाद जायसवाल, मनु
एवं वात्सवर्धन(२) भार० ए० समूहद्वारा कार-
पोरेड काइफ एवं इन्फेण्ड
इन्फिन्ट(३) भार० के० सुकर्णी असेक
भार० के० सुकर्णी। हिन्दू
सिविलीजेशन(४) ए० एस० अल्लेकर : प्राचीन
भारतीय शासन प्रवृत्तिए० एस० अल्लेकर, पोलीटिकल
ऑफ बीमेन इन हिन्दू सिवि-
लीजेशन(५) मैकिन्डिल : एम्पेण्ड इन्फिन्ट
ऐम सिविलीजेशन आई मेमोरिअल
मैकिन्डिल : इन्फिन्ट इम्पेण्ड
आई एन्फेण्ड(६) ई० जे० रैथनन कैनिंगहम हिस्ट्री
ऑफ इन्फिन्ट, भाग १(७) वी० ए० रिमथ : अर्थ विरही
आफ इन्फिन्ट अर्थ संस्करण(८) जयचन्द्र विद्यालंकार, भारतीय
इतिहास की रूपरेखा भाग १
और २

- (०) ए० सी० चक्रवर्तः : सोपान
काव्यस्य ह्यन्येभ्यः इतिव्या
(१०) जे० जॉर्जी : हिन्दू ऑफ एण्ड
कस्तूरम्
(११) ई० जम्बू हॉरिजन्स रेडिअन्स
ऑफ इण्डिया
(१२) कार० जी० अन्धकारम् ।
मैक्सवेलस सैडिज्म एण्ड अद्व
माह्वार रेडिअन्स सिस्टम्
(१३) डी० जम्बू रीज वेडिङ्ग :
इतिव्या
(१४) बरोडिया हिस्ट्री एण्ड किटरेचर
ऑफ जैमिज्म
(१५) एम० राधाकृष्णम् : इतिव्या
मिताभ्यन्तरी, भाग १-२
(क) स्वरहित्य तथा कला
(१) एम० मिश्रमिश्र : ए हिस्ट्री
ऑफ इतिव्या किटरेचर
भाग १-२
(२) ए० बी० लीय ए हिस्ट्री ऑफ
संस्कृत किटरेचर : संस्कृत भाषा
(३) सी० जी० लीय : हिस्ट्री ऑफ
संस्कृत किटरेचर : एण्ड इतिव्या
(४) ए० के० कुमारस्वामी : ए हिस्ट्री
ऑफ इतिव्या एण्ड इतिव्या-
सिधन्त आर्ट
(५) वासुदेव एण्ड एम० के० वे
हिस्ट्री आण्ड संस्कृत किटरेचर
(६) बी० ए० सिन्धु : ए हिस्ट्री ऑफ
काव्य आर्ट्स ह्य इतिव्या
एण्ड लीकोव

- (७) ए० कृष्ण दि मिनिमिऑ ऑफ
इतिव्या आर्ट
(८) जे० कारगुसन् एण्ड जे० धुनेस :
दि वेड डेगुसन् ऑफ इतिव्या
(ग) ज्योतिष तथा तिथि-सम्बन्धी
ग्रन्थ
(१) ए० बी० वी० वी० वी० वी० वी० वी०
ऑफ इतिव्या एण्ड एण्ड
(२) सुधाकर द्विवेदी : ज्योतिष रंगिनी
(३) ए० कर्मिन्धु : ए इतिव्या
इतिव्या एण्ड
(४) बी० जी० अन्धकारम् । ऑफ एण्ड
ऑफ एण्ड इतिव्या
(५) डी० एम० एम० वाणी : दि
एण्ड आण्ड
(६) जे० वे० वे० वे० वे० वे० वे० वे०
ऑफ आण्ड
(घ) आभिलेखिक ग्रन्थ
(१) स्टैन जॉर्जो : ऑफ एण्ड
एण्ड इतिव्या, भाग २
(कारेडि अभिलेख)
(२) जे० ए० ए० ए० ए० ए० ए० ए०
एण्ड इतिव्या, भाग
३ (एण्ड अभिलेख)
(३) ए० ए० ए० ए० ए० ए० ए०
(४) गीरीशकर शीराचम् ओहा :
प्राचीन भारतीय किरिमाहा
(ङ) मुद्रासम्बन्धी ग्रन्थ
(१) बी० ए० सिन्धु : वेडिऑ ऑफ
इतिव्या आण्ड इतिव्या
एण्ड एण्ड एण्ड
भाग १

- (२) ई० जे० रैप्पन कैंटेलांग ऑफ दि कम्प्लैन्स ऑफ दि आन्ड फायनेसी आदि
- (३) कर्मिन्स क्राइस ऑफ ऐंरपेन्ड इण्डिया
- (४) जॉन एलेन कैंटेलांग आन्ड दि कम्प्लैन्स ऑफ ऐंरपेन्ड इण्डिया ह्व दि मिनिस्टर ऑफिन्स
- (घ) भूगोलसम्बन्धी ग्रन्थ
- (१) एम० एल० बे० : अर्थोप्रोफिकल विचारणी ऑफ ऐंरपेन्ड इण्डिया
- (२) कर्मिन्स ऐंरपेन्ड अर्थोप्रोफिकल ऑफ इण्डिया
- (३) मार्क कौकिन्स अर्थोप्रोफिकल वेडा ह्व दि रजिस्टर एन्ड दि एन्ड्रुमररररररर
- (छ) मुसलमान लेखकों के ग्रंथ
- (१) अन्वरुल्ला : किलाबे-उल-हिन्द (इ० सी० सलाह द्वारा प्रमुद्रित)
- (२) मिनहाजुल्लिन ।
- (ज) पत्रिकाएँ
- (१) दि जर्नल ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ इंग्लैण्ड एन्ड आयरलैण्ड
- (२) दि जर्नल ऑफ दि रायल आन्ड दि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ फ्रांस
- (३) दि जर्नल ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल
- (४) दि जर्नल ऑफ दि बिहार एन्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी
- (५) इण्डियन एन्टिकोरी
- (६) एशियाटिका इण्डिका
- (७) भागपुर यूनीवर्सिटी जर्नल
- (४) भागरीप्रचारिणी पत्रिका वाराणसी
- (५) एमबस आन्ड दि मन्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, एना
- (१०) जेड० डी० एम० डी० संख्या ३४
- (झ) स्मृति-ग्रंथ
- (१) दिव्यस्मृति-ग्रंथ वि० सं० १००१, १वाकियर
- (२) दिव्यम अन्क १९४४, १वाकियर
- (३) भागिरी प्रचारिणी पत्रिका । विमर्शक वि० सं० १०००
- (४) आर्थोप्रोफिकल सर्वे ऑफ इण्डिया रिपोर्ट्स
- (झ) गजेटिणर्स ऑफ
- (१) कम्पई
- (२) मध्यभारत
- (३) राजस्थान

अनुक्रमणिका

४२

- अंग ९९, १००, १०४, १०८
 अंतर्लिखित, लक्ष्मिका का पत्रन दाता,
 १६०,
 अथर्व ९९,
 अभिहित ९५, १३६, १४५, १९३,
 १९९,
 अभिहित ९५,
 अर्जुन १९९, १९७, १९९, २००,
 अर्ज १४७, १९३, २००,
 अर्ज मध्य ५१, ५३,
 अर्जुन ४५, ८८
 अर्जुन १९१,
 अथर्ववेद १००,
 अथर्व १०४
 अथर्व ९७, ९९, १००, १०४, १०७,
 १०८, १२८,
 अभिहित-साहित्य,
 —प्रार्थना दस्तकवि, ९५, ७८,
 ८८, ९२
 —उत्तराधिकारदशवेदी ग्राम्य, १२४
 —अथर्व साहित्य चरित्रोपलेख, १२९,
 —पति की संरक्षित के उत्तराधिकार
 में की की विधि पर, १५७,
 १९८, २०३, २३१
 अभिहितपिटक १८९, १९०,
 अभिहित-साहित्य ४४.

- अभिहितपुत्र, अथर्वपर काप्य के पुत्र
 हीकाकार १८९,
 अभिहित राम विष्णुसाहित्य का पुत्र
 विवर ११७.
 अथर्वकोश,
 —वैद्य के पत्रों १३७-१३८;
 —द्विज वर्गीकरण का अभिहित का
 उपलेख, १३९,
 —अथर्वकोश अथर्व के उपलेख का
 अर्जुन, १४०, १४१;
 —अथर्व अभिहित १४१;
 —अथर्व अभिहित अभिहित का वर्णन,
 १४३;
 —अथर्व 'अथर्व' पत्रों के अभिहित
 पर अर्जुन में अथर्व साहित्य-
 विवरण, १४४-१४५;
 —अथर्व के विभिन्न नाम, १५३-१५४;
 —अथर्व के विवरण में अथर्व साहित्य
 पत्रों, १५७;
 —अथर्व के विभिन्न नाम, १५९;
 —अथर्व के विभिन्न नाम १६१-१६२;
 —अथर्व के विवरण में अथर्व साहित्य
 पत्रों का उद्धरण तथा पत्रों
 के विभिन्न नाम, १६३;
 —अथर्व अथर्व, १८०;
 —अथर्व साहित्य, १८८;
 —अथर्व नाम, २००;
 —अथर्व नाम, २००;

- सुष्य प्रकार वर्णन, २०१;
- वायुसंघर्षी विवरण २०३;
- भूमि प्रकार वर्णन २०३-२०४;
- कोशों के आकार पर २२१;
- कार्यावगाहि का उल्लेख, २३६;
- साहित्य एवं ज्ञान की विभिन्न शाखाओं का वर्णन, १७७;

अमरसिद्ध, विक्रमादित्य के सप्त साम-
यिक, ६१;

- 'रामच' काद पर, ५४;
- राजघातों पर ११६;
- मंत्रिसूची, ११२;
- अध्वय सूची, ११०;
- विक्रमादित्य के सामन्तों की
प्रारंभिक विभाग, १५१;
- सैन्य के खंभों का वर्णन, ११८;
- वीर्य के लक्षण, १४५;
- विवाह के रथावों का उल्लेख,
१४६;
- शिव के विभिन्न नाम, १६२-१६३;
- पुत्र के नाम, १६८;
- 'संवत्सर' के नाम, १७५;
- विक्रम की राजसभा के रत्न,
१७८, १८०, १८१, १८८;
- नगर के बासी घर, १९३;
- सूर्योदय के वर्णन, १९५;
- उद्योग प्रकार वर्णन, २१०;

अमरावती, ७३, १६२, १९५,

अमर, ५१,

अयोध्या ६२, १०७, १५५, २१५,
२२८,

अवध, मोराक ५३, ५३.

अरक २२०, २२१

अरक सारा १०४.

अरजारी ४३.

अर्धशतसुप्त प्रथम, ३४.

अर्धशतक, ३५ (जो १), ११५,
१३३, १६०.

अर्ध मासकी १२१.

अर्धका २२०.

अर्धलेख, ४० अ० अ० अ० अ० (जो
३), ९ (जो ४), ३०, ६१, ६४,

अर्धली ८, ९, १०, ११, १३, १४,

२३, २४, २६, २७, २८, ३१,

४१, ४२, ४५, ५२, ५३, ५४,

५५, ५६, ५७, ५८, ५९, ६०, ६१,

६२, ६३, ६४, ६५, ६६, ६७, ६८,

६९, ७०, ७१, ७२, ७३, ७४,

७५, ७६, ७७, ७८, ७९, ८०,

८०, ८१, ८२, ८३.

अर्धली-आमर ६५.

अर्धली राष्ट्र १२१.

अर्धमासक, मास का एक मासक, १८५.

अर्धका ३८, ३९, ४०, ४१, ४२,

४३.

अर्धधीन, ५०, ५१, ५२.

अर्धपति, अर्धपति, ७०.

अर्धध्यानी ६२, ६३, ६४, ६५.

अर्धुर १५, १६, १७.

अर्धुर विजयी ९०.

अर्ध

अर्ध ५४, ५६, ५७, ५८, ५९, ६०.

अर्धका २२.

कथं ८५, १००.

कर्मसंग्रह संग्रह १=०

कपल, मासीन भारत का एक प्रसिद्ध
राजवंश, ५०९ १०३, १३२;

—वंश, ५४ १८४.

कम्पास १८९.

कम्पासशिक्षाग. होमरेश क्रिस्त, १५,
१३, १७, २०, २१ ३८, ७६,
७७, ७८ ७७, ७९, ९३, ९२,
९९, १००, १०३, १०५, १०९,
१०७, १०९, ११३, ११८,
१३८, १४४ १४७, १८९, १९७,
१९९, २३०

कम्परा अभिलेख ५८.

कर्मिचन, सर अलेक्जेंडर, ३७, ७२

कर्मिक ७२, ५०, ५२, ९७, २३१.

कर्मिक संवत् ६ ५०

कम्पेरी ५६

कम्पराकर, धर्मचर काव्य के एक
सीकाकार, १८२,

कर्मिचन ११६.

कम्पिट २९, १०२, १०४, १०५.

कर्मि ७, ६३.

कर्मिचन ५६

कर्मिलेख १०८.

कर्मि १०१, १०२, १०४, १०८,
२१२.

कर्मिसेना १०४.

कर्मिपुत्र, काकिदास के एक छोटे
समकालीन कर्मि, १८४, २०२.

कर्मि ६९.

कर्मिवाक ६०; ६१, १००.

कात्यायन १८६.

काकुल ४२, ४६, १०६

कांमल १३२.

काव्य १५७.

काव्य १०८, १०९.

काव्य ३७.

कार्तिकेय ९६.

कार्ति १२६.

कार्ति २७, २८, ४७, ४५, ७४, ८०,
१४२.

कार्ति-कथा ९९, ३०, ७०.

कार्ति २७.

कार्ति-कथा २८, २९ ३०, ३१, ३२,
४४, ८१, १६५, १६६, १६७.

कार्ति-कथा ८८, ८९, २०५.

काकिदास—

—भावि विक्रम के आगत में ११,

—अभिज्ञानशाकुन्तल का पुराना
हस्तलेख, ६५, ६७.

—के ग्रंथों में आचार्य के अनुसार
गुप्त कालीन वैभव प्रतिबिम्बित
है, ५२.

—वैभवकरके अनुसार वे गुप्तकाल
में ही हुए होते को साहित्यादि
के प्रमाणों का काव्य था, ५९.

—संक्षेप से पञ्चलित, ३०;

—और विक्रमादित्य की समकाली-
नता २१, २२, २३, २४, २५,
२६, २७, ७८, ७९, २८, १०१,
१०२, १०५, १०६, १०७,
१११, ११३, ११७, ११८.

—राजा की आज के साधनों पर,
१२३;

—सामुद्रिक व्यापारोन्मुख, १२२,
१२३;

—राज के बंगाल अभियान का वर्णन,
१२०;

—'पद्मिनी वरम' वर्णन, १२८।

—अष्टक विज्ञान उपलेख १३५;

—वर्णविभाजन पर, १२५, १३५;

—प्रमुखों के भारम आदि का
वर्णन, १३८।

—के प्रमुखों में सुभाषण भाषि का
अर्थ, १३०;

—हारा अक्षर्य भाषिओं का उपलेख
१३१;

—हारा राजाओं के सम्पादन-कीर्तन
का उपलेख, १३३;

—हारा माऊ विवाह के काव्य
पार्वती-शंकर विवाह का उपलेख,
१३३।

—हारा स्वयंवर आदि का वर्णन,
१३५;

—हारा अंतर्जातीय विवाहोपलेख,
१३४।

—उमा विवाह वर्णन, १३६।

—विविध विवाह अनुष्ठानों के अर्थ
१३७;

—स्त्रियों के भोगादि का वर्णन,
१३८।

—श्री का हस्त से प्रथम रत्न,
१५०।

—कर्म अक्षर वर्णन, १५२;

—विष्णु का उपलेख, १३१-१३२।

—स्वर्णिम धर्म, शैव धर्म, १३२;

—मेघदूत का पद्य, १३३।

—निर्वाण धारा का उपलेख, १३८,
१३९।

—साहित्य की भाषाओं का उपलेख,
१३३-१३४।

—'व्योतिर्गिरि मरु' के लेखक,
१३८, १३९।

—विक्रम की लम्ब के सातवें रत्न,
१४२।

—प्रथम साम्प्रदायिक कविता का
उपलेख, १४३-१४४।

—मातृका के नाम, १४५।

—संस्कृत साहित्य में स्थान, १४५।

—काव्य प्रतिभा, १४७-१४८।

—वार्त्तिक शिक्षा, १४८।

—हृदयती मिथन पर, १४९।

—मूर्ति पर्वत पर, १४९।

—शिव पूजा का उपलेख १४९।

—विप्रवाह उपलेख, १४९।

—वाद्य लाली पर, १५३।

—प्रमुखों से सुप्रसिद्ध कानकारी
२०३-२०४।

—मातृका के लाले से २०४-२०५।

—अक्षिप्त मार्ग, २१२-२१३।

—सुवर्ण भाषि शिक्षा का उपलेख,
२२३।

कासिका २५।

काशी १०

काश्मीर ३०, ४५, ५०, ५५, १०२,
१०३, १०४

कादमीरी १५, १६,
 काका १०१,
 किरात ६६, १०८, १०९,
 कीच १८४,
 कीकहार्न ६०, ६६, ७८, ७९,
 कुम्हकुम्ह १२१,
 कुडु ८५,
 कुवेर १५७,
 कुमारगुप्त ५, ९, ५४, ७६, ९६९,
 कुमावपाय २६,
 कुमारसंभव १४६, १५२, १८९,
 कुम्ह १००,
 कुशीमगर १९८,
 कुषज १०२,
 कुप्य संभव ५०,
 कुषाण ६८, ५०, ५२, ६०, ६१, ६२,
 १६४, २०४,
 कुसुमावुध (कामदेव), १०, ७४,
 कुत ४, ७, ६८, ७५, ८२,
 कुतलुग (श्वर्भलुग) ७, ८, ९, ६४,
 ६८, ८९,
 कुल संभव ४, ५, ६, ७, ६४, ७५,
 ७९, ९०५, २६०,
 कुल्ल, एक गणमुद्रक, १६, ९०, ९६,
 १६०, १६१, २३१,
 कुल्ल-वासुदेव, जपासभा समुद्राव,
 १६२,
 कुल्ल १०८,
 कुल्लहसित ५०,
 कुल्ल ५८,
 कुल्ल, १५, १७, ६०, ७५, १२९,
 २२०,

कीक ३७.

कौटिलीय अर्थशास्त्र १४१.

कौटिल्य २९, ११६, ११५, १२०.

कौवेरी १०१, १०८.

कीक ६९, ७७

कीकामी १८९.

जपानक विक्रम की सभा के एक वक्ता,
 ६१, १०८, १८५

कीरकामी १८०, १८१.

कुम्ह ६२, ७०, ८६, ८८, ११६.

कुम्हकर ६६.

कुम्ह १५, ७५.

ख

खडगिनि १९६.

खडगसंभव, ६१.

खडगसंभव, संविता, १८५.

खडग ६१ २२९.

ग

गंगधारा अभिलेख ५.

गंगा ६०, ११०, २२०.

गंगवर्षीय, भविष्यादि पुराणों के अनुसार
 विक्रमादित्य के पिता, ११,
 ७२, ७६ ११६, ११४.

गंगवर्षीय १०.

गंगवर्षीय ८, १५, ८७, ८८, ८९, ९१,
 ९२, ९५, ९६, ९८, १०९,
 १०६, १०५, ११०, १११, ११२,
 ११४.

गंगवर्षीय १५७, १६३.

गंगवर्षीय (संविता) १२.

गंगा १९८.

गार्गसंहिता ३२, १८८

गर्भसिद्ध २२, २४, २७, २८, २९,
३०, ३१, ३३, ३५, ३८, ४४,
४५, ४८, ४९, ५०, ५३, ५४,
५५, ८०, ८१, ८८, ८९, ९६,
११२, ११३.

गर्भसिद्ध संज्ञा ५४.

गर्भसिद्ध-मातृकोटी की एक शाखा, ८५.

गोदार ५१, १०१, १०६, १२८, १३९.

गोदासमुद्रासी १२, १३, १४, ५४,
५५, ५६.

गिरगाह ५२, ५३, ५८.

गुहारात ५२, १००

गुहिसिद्ध १२५.

गुहारात १८०.

गुलाकार—एक सैनसल, २५.

गुलाकार १५, १९, २०.

गुल ८, ९, १०, १४, ५१, ५४, ५८,
५९, ६६, ११०, ११३.

गुलकाक ५१, ६०, ६१, ६५, ६७,
१८०, १८२, २०४.

गुलसंज्ञा ५६, ७६.

गुलसंज्ञा ५५.

गुलसंज्ञा ३—४, १०, ५८.

गोदापरी १०१.

गोविंद-वटवर्षकाव्य के एक टीकाकार
१८९.

गोविंद साखी १०.

गोवाळ १०६.

गोरखपुर ७०, ८१.

गोव १०४, १०६.

गीतबहो ११०.

गीताधिराज कलियुगार ९६.

गीतम (गुह) १५८.

गीतमीशुल शातकर्त्री ५४, ५५, २३१

गीतमी वकली ५५.

गीरी १७.

गवारसपुर ६, ५८.

गीक-आक्रमण, ९२.

ग्याकिवर-वाज्य ६, ५८.



गदलपर—विष्णुमादिश्व की सभा के

एक पक्ष ६१, १०८, १८१, १८२.

गदलपरकाव्य—गदलपरकिकित एक
ग्रंथ, १८२



गदलमाहोत्सव, ६.

गदलकेतु ७.

गदलगुल ५५, ६५.

गदलगुल द्वितीय विष्णुमादिश्व ८, १४,

२१, ४२, ५५, ५६, ५७, ५८,

५९, ६१, १०९, २३१, २३२.

गदलगुल मध्यम, ५८.

गदलगुल—मध्यम मीर सभादू ५७,

१०४, २३१.

गदलमौलि १८.

गदलसंहिता १८८.

गदल ५२, ५३.

गदल संज्ञा ५२.

गदलसंज्ञा ८९

गदलसंज्ञा—मासका एक गदल, १८५.

गदलसंज्ञाकेतु पक्ष विष्णु, १३२.

वित्तौद्य ३७, ८५.

चित्तकूट २२७.

विनाय ३२.

वीज ४३, ८०, २२१

वीमोद्यक २२१.

वीमी ३३ ६३, १४.

वूर्णा ३४.

वेदि संघट ४.

वेद्य १२५.

वेददीप १४.

वीरभद्रेश विष्णु २३२

वीरभद्र—एक संस्कार, ७८

ज

जयंत (एक वाक्य), १३.

जयवाक्य ५३.

जयभक्त १२ ३७४, १०६.

जयपुर ६७.

जयसीमा १२, १३४.

जामिनी १४.

जापसवाल का० का० म०, ६३, ५४.

७१, ७२, १८४.

जिनमम दुरि १८२, १८३

जिनसेन २५.

जिनेन्द्र बुद्धि १८०

जिप्यु १८१.

जुगल १२२.

जुगाद जामिनी ६२, ८४,

जौन २२, २३ २५, २६, २७, २८,

३२, ३४, ४५, ५४, ५५, ६८,

७९, ८२, ८४, ८०, ८१, ८२,

८९, ९१, ९३, ९६, ११५, १५८,

११३, १७३, १९२, १९७,

जैनकथा २९.

जैनग्रन्थ २, ७४.

जैनधर्म २८, ४४, १३५, १३८, १४२,

१४३, १५४, १५६, १६४ १६६,

१६९, १७१, १७३.

जैनपरिभाषा ४४.

जैनसंत २३, २७, २८. ८०

जैनसाहित्य २३, ४४, १२१.

ज्योतिर्विद्याभरण, काठिवासरचित, २३,

६५, १७८, १८०, १८३.

झ

झिदू २९.

झेलम ४०, ८६.

ञ

ञोसेमी ३०.

डेसीडम ११५.

ट

टातास ७०.

टावमिष्टन १४.

ठ

ठाकसिका ५१.

ठाकार २४, २५.

ठागिल मदेश १६६.

ठागिल—चक्रवर्तिकात्म के दल दीक्षा-

कार, १८२.

ठिस्तमोष्मतिपुत्र १८९.

ठुकार २१, २८, १०२, १०६, १०८,

१९५.

ठिगरी (ठोंगरी) २९.

ठिकोचन १८१.

ठेला ७.

व

वशिष्ठापथ ९२, १००, १०४, १०८,

१०५.

वृक्षंता १००.

वृक्षस्य १९२

विश्वकर्मा समग्रदान १९५, १९९, १९१.

विष्णुनाथ ९१, ९२, ९३, ९४.

विष्णुनाथार्च ९४.

विधि १५, ३५.

'ही वेरीग्रस ब्लॉक हि इतिग्रिमल'.

अनु० स्कॉलर, १९५९.

वृक्षस्य ११०, ११५, १५१, १९०.

वैष्णवधर्मस्य (अर्चनी का एक राजा)

१३

वैष्णव (अर्चनी का एक राजा) १३.

वैष्णव १५.

वैष्णव १५

वैष्णवस्य वासुदेव १२०

वैष्णव (अर्चनी का एक राजा) १३.

वैष्णव, अलोक की रानी, १९९.

वाचिड ११५.

वाचिसनपुत्रिका ३३.

वाचर ३.

व

वसन्ति, सप्तम व्यापारी, १५१

वसन्तारि ९१, १०८.

वसन्तारि, एक विद्वत् १०९.

वसन्तारि प्रथम, काशी के एक राजा,

१०९

वसन्तारि, सुभक्त के पुत्र तथा विद्वत्

की समा के एक रत्न, १०९.

वसन्तारि, मनोवैज्ञानिक नीतिशास्त्रीय

ग्रन्थ, १०९.

वसन्तारि १०.

वसन्तारि १५.

वसन्तारि १०८.

वसन्तारि, नागपुर, १२.

वसन्तारि १०९.

वसन्तारि, अग्रिमिनी की एक रानी,

१०८.

वसन्तारि (अग्रिमिनी का उपनाम) १०९.

व

वसन्तारि १५, १२.

वसन्तारि १५, १२.

वसन्तारि पूर्य अभिलेख ४, ८ (अं. १).

१५, १२, १२, ११, १५, ११,

११२, ११४, ११५.

वसन्तारि १५.

वसन्तारि १५, एक विद्वत्, १२५

वसन्तारि ८५

वसन्तारि अभिलेख ५.

वसन्तारि १५.

वसन्तारि १२, १२.

वसन्तारि १००, ११०.

वसन्तारि पुत्र विमान, एक लैट ग्रन्थ,

१०९.

वसन्तारि ५५.

वसन्तारि, श्रीधरमण, १२०,

वसन्तारि १०८ (अग्रिमिनी), १०९.

१०८.

वसन्तारि १५.

वसन्तारि ११, १२, १०.

वसन्तारि १२.

निर्वाण २४, ३५.

मिमीष सूत्र ५३, ८०

मीतिखार, चरमपरिचित एक ग्रन्थ,
१८९.

मैत्र २५.

य

यन्त्रांत १३, १४.

यन्त्रविशालिका १८९

यन्त्राव ३८, ३९, ४०, ४३, ४५, ५५,

५१, ५५, ५१, ८२, ८६, ८७,

८८, ९०, ९१, १०३, १०९,

१०५, ११५, ११६, १२७, १३५,

१३५.

यन्त्रचरित्र (यौतचरित्र), १२१.

यन्त्राव ३९.

यन्त्राव ३९, २५, ३६, ३७, ८५, ८८.

यन्त्राव ३९, ८८.

यन्त्राव (यन्त्राव ३९, ८८)

१००.

यन्त्राव ३९, ३९, ८६, १०३, १८७.

यन्त्राव ३९, यन्त्राव ३९, ८८.

१८९.

यन्त्राव ३९, ४०, ४३, ८८, १०३, १०५,

१०९.

यन्त्राव ३८, १००

यन्त्राव १०८.

यन्त्राव २३.

यन्त्राव २१, ५५, ५५, ७३, १८९.

यन्त्राव ३९, ११९, ११९, १४३, १८७.

यन्त्राव १०१

यन्त्राव ३३.

यन्त्राव ३३, ३३, ३३, ३३, ३३,

१०९, १०९, १०५, १०९, १०८,

१०९, १२८.

यन्त्राव १२८.

यन्त्राव २३.

यन्त्राव ५५.

यन्त्राव १५, ३०, ३८, २३, ७५, ७६,

१५७, १०५.

यन्त्राव ३३, यन्त्राव ३३, १२५,

१०३.

यन्त्राव (यन्त्राव ३३) २३, २५.

यन्त्राव ३३, १०७, १०५, १२१.

—यन्त्राव १८८.

यन्त्राव ३३.

यन्त्राव ३३.

यन्त्राव ३३.

यन्त्राव ३३, ३३, ५३, ६८, ७३, १००,

१०३, १०९.

यन्त्राव ३३, ३३, ३३.

यन्त्राव (यन्त्राव) २५.

यन्त्राव ३३, यन्त्राव ३३, ३३.

२५, २३३

यन्त्राव ३३.

यन्त्राव ३.

यन्त्राव ३३.

यन्त्राव ३३.

यन्त्राव ३३, ३३, ५५, २२५, २२७.

यन्त्राव ३३, २३, ५५, २२५, २२७.

यन्त्राव ३३, २३, ११७.

यन्त्राव ३३, २३, ११७.

यन्त्राव ३३, ३३, ८३

यन्त्राव ३३, ३३.

प्रभाकराय सूरि २३.

प्रभाकरचरित ५, २३, २७, २९, ३२,
३३, ३८, ४३, ८०, ८८, १११,
२०६.

प्रमद, अमंती का एक राजा २३.

प्रमाणसमुच्चय, १२.

प्रवासा १००.

प्रसाद १००.

प्रभुत्व १७, १५, २४, ११, १०४,
१०५, १९१.

प्राक्प्रतीति १०८, १०९

प्रियंगुसंज्ञी, चिह्नमाहित्य की प्रतीति,
१८३.

प्रिथ्वी, ८१.

प्रा

प्राज्ञत्व ३७, ४८, १९८.

प्राज्ञत्व १३, ८०, १०५, २०८, २२०
२२१.

प्राज्ञत्व हस्तकेतव २९.

प्राज्ञ ४ (नो. २), १४, २३ (नो. १).
३७, ४८, ४९, ५८ (नो. १, ५).

प्रा

प्राज्ञत्व २४.

प्राज्ञत्व १५७.

प्राज्ञ २३.

प्राज्ञ २३, ४२, १३.

प्राज्ञ १०९.

प्राज्ञत्व २०, ४१

प्राज्ञ १३.

प्राज्ञत्व १४.

प्राज्ञ १, २०, २१, १५१, १६०,
१६८, १६९, १८३, १९५,
१९६, १९७, १९८.

प्राज्ञत्व १०, १२, १३.

प्राज्ञत्व १३.

प्राज्ञत्व १५.

प्राज्ञत्व १३, १४.

प्राज्ञत्व १५, १७, २०, २१, ३०७,
३३८

प्राज्ञत्व १५, २८, ४३, ४४,
४५, ४६, १०३, १०५, १०९,
१६८, १९९

प्राज्ञत्व १३, १८८.

प्राज्ञत्व १३, १५.

प्राज्ञत्व १३, १२०.

प्राज्ञत्व १, १३०, १६६.

प्राज्ञत्व १३, १०५

प्राज्ञत्व १३, १२, १०, १३, ४४, ४७,
१००, १३५, १४५, १५८,
१६२, १६८, १८१, १९१,
१९५, १९६.

प्राज्ञत्व १३.

प्राज्ञत्व १३, १३, १३५, १३८,
१४२, १४३, १५२, १५४,
१५६, १६६-१६९, १७०,
१८०, १९१

प्राज्ञत्व १३, १३.

प्राज्ञत्व १३, ४१, १००, १२३,
१८८-१९१

प्राज्ञत्व १०१

प्राज्ञत्व १५७, १५९, १६०

भास्कराचार्य ५२, ६२, १५५, १६२,

१८६

भास्करि ६७, ७५, ८७.

भास्करि वरवर्माका ४३.

भ

भट्टमाली ८२.

भट्टाक्ष, वत्साक्ष का पुत्र ११२.

भयंकर ७१

भर्गुदत्ति २६, १८१

भविष्यपुराण ३२, २३, ७३.

भोकारकर, का० ब० ६१० ६४, ५१

५५ ५६.

भोकारकर, सर बा० गोपाळ, १३,

१४.

भोगमय १५१.

भोगवत्त धर्म १६२.

भोजा १२३.

भोगुमित्र २४.

भारत ३, ७, ९, ११, २१, २८, २२

३६, ६७, ७०, ४२, ४६, ७४,

४५, ४७, ५०, ५२, ५४, ५६,

५२, ६०, ६१, ६३, ६४, ६५,

६६, ७२, ७६, ७८, ८०, ८७,

९७, ९८, १००, १०२, १०३,

१०९, ११०, ११२, ११५,

१४५, १५४, १६०, १६१,

१६५, १६८, १६९, १७५,

२२०, २२१, २२२, २२८.

भारत महासागर १०१

भारतवर्ष २७, ६६, ७२, ७६, ८०,

८७, ९०, ९७, १०८, ११७,

१२२, १२५, १२८, १२९,

१३२, १५६, १६६, १७४,

१९०, १९१, २१९, २२०,

२२१, २२९, २३२.

भारतीय संघ ४५.

भारतुल १६७, १६९, १९७, १९९,

२०४,

भारत ६३ १८६, १८७, १८५, २०४

मिथिला विधायक २९, १०९.

भीमा १९७.

भीमदेव २५

भुवनेश्वर १२६.

भैरव २५.

भोज १८०, १९५.

भोजदेव २६, २२

भोजदेव (वरार) २२०.

भ

भगवत् (मन्वीन वत्सपुर), ५. ६६,

४८ ५२, ५६, ५७, ५८.

भक्तमित्र ४०, ११६.

भक्त २१, ४१, १०२, १६२, २२८

भारत ७०, १००

भारतपुराण ५४.

भगुल ५२, ८६, १६०, १६५, १९७.

भगवत्, भगवत्, भगवत्, भगवत्, भगवत्

भगवत्, भगवत्, भगवत्, भगवत्, भगवत्

भगवत्, भगवत्, भगवत्, भगवत्, भगवत्

भगवत्, भगवत्, भगवत्, भगवत्, भगवत्

भगवत्, भगवत्, भगवत्, भगवत्, भगवत्

भगवत्, भगवत्, भगवत्, भगवत्, भगवत्

भगवत्, भगवत्, भगवत्, भगवत्, भगवत्

भगवत्, भगवत्, भगवत्, भगवत्, भगवत्

साक्ष्य-सक-सुख ईश्वर

मासिक खर्च रु. ७, ८, ९, १०, ११,
१२, १३, १४, १५, १६, १७,
१८, १९, २०.

[illegible]

माहविका १४५, १९३

महादेकाग्रिमित्र, काश्मिराक्षरित,
१८३ १८४, १८५, १८६

मासिकपत्र १५, १६, १७, १८.

माध्यमचरम् १५,

मिडिलेन्ड ग्रन्थ १९७.

मिडिह (बबलहाल मेलाहह) १५०.

प्रश्न १०६.

सूर्यव ५५५

मैत्रवर्धनीक १५०.

मैत्रवर्ग ६१, ६६, ७४६, ७६७.

संख्या १३.

वेदशांख सति ॥३॥

संस्कृत-संज्ञा-सूची १५, १६, १७

199

विषयसूची ५३

110, 111, 112, 113, 114, 115, 116, 117, 118, 119, 120, 121, 122, 123, 124, 125, 126, 127, 128, 129, 130, 131, 132, 133, 134, 135, 136, 137, 138, 139, 140, 141, 142, 143, 144, 145, 146, 147, 148, 149, 150, 151, 152, 153, 154, 155, 156, 157, 158, 159, 160, 161, 162, 163, 164, 165, 166, 167, 168, 169, 170, 171, 172, 173, 174, 175, 176, 177, 178, 179, 180, 181, 182, 183, 184, 185, 186, 187, 188, 189, 190, 191, 192, 193, 194, 195, 196, 197, 198, 199, 200, 201, 202, 203, 204, 205, 206, 207, 208, 209, 210, 211, 212, 213, 214, 215, 216, 217, 218, 219, 220, 221, 222, 223, 224, 225, 226, 227, 228, 229, 230, 231, 232, 233, 234, 235, 236, 237, 238, 239, 240, 241, 242, 243, 244, 245, 246, 247, 248, 249, 250, 251, 252, 253, 254, 255, 256, 257, 258, 259, 260, 261, 262, 263, 264, 265, 266, 267, 268, 269, 270, 271, 272, 273, 274, 275, 276, 277, 278, 279, 280, 281, 282, 283, 284, 285, 286, 287, 288, 289, 290, 291, 292, 293, 294, 295, 296, 297, 298, 299, 300, 301, 302, 303, 304, 305, 306, 307, 308, 309, 310, 311, 312, 313, 314, 315, 316, 317, 318, 319, 320, 321, 322, 323, 324, 325, 326, 327, 328, 329, 330, 331, 332, 333, 334, 335, 336, 337, 338, 339, 340, 341, 342, 343, 344, 345, 346, 347, 348, 349, 350, 351, 352, 353, 354, 355, 356, 357, 358, 359, 360, 361, 362, 363, 364, 365, 366, 367, 368, 369, 370, 371, 372, 373, 374, 375, 376, 377, 378, 379, 380, 381, 382, 383, 384, 385, 386, 387, 388, 389, 390, 391, 392, 393, 394, 395, 396, 397, 398, 399, 400, 401, 402, 403, 404, 405, 406, 407, 408, 409, 410, 411, 412, 413, 414, 415, 416, 417, 418, 419, 420, 421, 422, 423, 424, 425, 426, 427, 428, 429, 430, 431, 432, 433, 434, 435, 436, 437, 438, 439, 440, 441, 442, 443, 444, 445, 446, 447, 448, 449, 450, 451, 452, 453, 454, 455, 456, 457, 458, 459, 460, 461, 462, 463, 464, 465, 466, 467, 468, 469, 470, 471, 472, 473, 474, 475, 476, 477, 478, 479, 480, 481, 482, 483, 484, 485, 486, 487, 488, 489, 490, 491, 492, 493, 494, 495, 496, 497, 498, 499, 500, 501, 502, 503, 504, 505, 506, 507, 508, 509, 510, 511, 512, 513, 514, 515, 516, 517, 518, 519, 520, 521, 522, 523, 524, 525, 526, 527, 528, 529, 530, 531, 532, 533, 534, 535, 536, 537, 538, 539, 540, 541, 542, 543, 544, 545, 546, 547, 548, 549, 550, 551, 552, 553, 554, 555, 556, 557, 558, 559, 560, 561, 562, 563, 564, 565, 566, 567, 568, 569, 570, 571, 572, 573, 574, 575, 576, 577, 578, 579, 580, 581, 582, 583, 584, 585, 586, 587, 588, 589, 590, 591, 592, 593, 594, 595, 596, 597, 598, 599, 600, 601, 602, 603, 604, 605, 606, 607, 608, 609, 610, 611, 612, 613, 614, 615, 616, 617, 618, 619, 620, 621, 622, 623, 624, 625, 626, 627, 628, 629, 630, 631, 632, 633, 634, 635, 636, 637, 638, 639, 640, 641, 642, 643, 644, 645, 646, 647, 648, 649, 650, 651, 652, 653, 654, 655, 656, 657, 658, 659, 660, 661, 662, 663, 664, 665, 666, 667, 668, 669, 670, 671, 672, 673, 674, 675, 676, 677, 678, 679, 680, 681, 682, 683, 684, 685, 686, 687, 688, 689, 690, 691, 692, 693, 694, 695, 696, 697, 698, 699, 700, 701, 702, 703, 704, 705, 706, 707, 708, 709, 710, 711, 712, 713, 714, 715, 716, 717, 718, 719, 720, 721, 722, 723, 724, 725, 726, 727, 728, 729, 730, 731, 732, 733, 734, 735, 736, 737, 738, 739, 740, 741, 742, 743, 744, 745, 746, 747, 748, 749, 750, 751, 752, 753, 754, 755, 756, 757, 758, 759, 760, 761, 762, 763, 764, 765, 766, 767, 768, 769, 770, 771, 772, 773, 774, 775, 776, 777, 778, 779, 780, 781, 782, 783, 784, 785, 786, 787, 788, 789, 790, 791, 792, 793, 794, 795, 796, 797, 798, 799, 800, 801, 802, 803, 804, 805, 806, 807, 808, 809, 810, 811, 812, 813, 814, 815, 816, 817, 818, 819, 820, 821, 822, 823, 824, 825, 826, 827, 828, 829, 830, 831, 832, 833, 834, 835, 836, 837, 838, 839, 840, 841, 842, 843, 844, 845, 846, 847, 848, 849, 850, 851, 852, 853, 854, 855, 856, 857, 858, 859, 860, 861, 862, 863, 864, 865, 866, 867, 868, 869, 870, 871, 872, 873, 874, 875, 876, 877, 878, 879, 880, 881, 882, 883, 884, 885, 886, 887, 888, 889, 890, 891, 892, 893, 894, 895, 896, 897, 898, 899, 900, 901, 902, 903, 904, 905, 906, 907, 908, 909, 910, 911, 912, 913, 914, 915, 916, 917, 918, 919, 920, 921, 922, 923, 924, 925, 926, 927, 928,

શ્રી સંપત્તિ, ૧૯૭૭

१३, १५, १६, १७, १८, २०,
 २५, २६, २७, २९, ३०, ३६,
 ३९, ४१, ४८.

पृष्ठ १५७.

समक, एक औद्योगिक, १४९

संस्कृत, ६५

८७, ९८, १०९, १०९, १०८,
 १०९, १०८ १०९, १०८, १०८, १०८

ସମ୍ବଳ-ଆକାର ୫୫, ୫୫, ୨୫୫

बसोबसो ५, ३४, ५६, ३३०.

पक्षीयार्थम् ११०

बभोसुसं ३३०

साङ्ख्यवचनप्रमाणानि ६३

४७५५, ११५, ११५

भागप्रमाण २०५.

पृष्ठान्तर २३, ५०५.

मुंबिष्टिर संवत् १९९१

ਪ੍ਰਾਚੀਨ ਕਲਾ, ਖਾੜ

सुभाष ६० अ०, ११०

१०५, १०६, १०७, १०८, १०९, ११०, १११, ११२, ११३

प्राप्त की आवश्यकता है।

ਪੰਜਾਬੀ ਸੈਕਸ਼ਨ ੧੯੪. ੧੯੫.

परागरी भाषित्व ३०.

योग (भाग १) १५५

मोक्ष (१५५) १५५

1990

5

१४ ६०, ६१, ६२, ६५, ७०६, ७०७,
१०७, १०८, १०९, १११, ११७,
११९, १८७, २२३, २६१.

रघुवंश ६०, ६१, ६३, ६४, १०५,
१०७, १०८, ११६, ११९,
१६२, १६७, १४०, १५५,
१७८, १८०.

रत्न, कामदेव की कौ १५२.

राजतरंगिणी, १०७.

राजपूताना ५६, ६२, ६३, ६५, ६७,
४१, ५०, ७१, ७२, ७४, ८४,
८५, ८६, ८७, ८८, १६५, १५२,
१५४, २२०, २२९

राजर्विंश ६९

राजर्षिशिख संवत् ५०.

राजर्षीवत् सुरि ३२, १८०.

राजसूय १५५.

राजसूय ४१, ४२, ४५, ५९, ९०,
९७, १०२, ११६, ११६, ११४,
१२१.

राधासमवाय १७,

राधिका १६, १४,

राम १९, ७८, १४७, १४८, १५१,
१६२, १६६, २३०, २३१,

रामगिरि (रामदेव) २१०.

रामगिरि ११७

रामायण ६२, ६४, १७४ १८५, १८७,
२३१

राष्ट्रकूट ६,

रासम (गर्वमिह) २५, २६, ६८,

रासजी मिश्रा ६८,

राम १५४, १५५

रामराम १४, ५२, ५६, ६२, ८४,
८५,

रैलम २९, ६७, ४४ (दाव० १), ५१,

रोम ६०, २२०,

रोमवासी ३४,

रोहिणितिथि १८२.

रा

रंका १०१,

रक्तुकीरा, पाण्डव भर्ष के मकारक,
१६४.

राजमण ७१, ९३, १४८.

राजमलसेम, राजा, १८६,

राट ४८, ९२, १०४, १०६, १६४,

रॉकेट, रॉकेट-संग्रह का फालीसी
संग्राहक १५,

रिंतागुसासन, वररुचि रचित १८६,

रिंदि-विज्ञान ६७.

रुचिमाना ६९,

रुचिस्थ (महापुत्र) ११०,

रु

रु ६९, १०१, १०४, १०८, १०९,

रु २५,

रुचागुचरित २२,

रुचि ४५, ८८,

रुचागुच विज्ञानादिव के मरीटार,
१७, ११९,

रुचागु (रुचि) १२८.

रुचि, विज्ञान की राजसभा के एक
१४१, १४२, १४३, १८९,
१८३

रुचागुचिहिर, विज्ञान की सभा के एक
१४१, १४२, १४३, १८४, १८९,
१८१, १८२, १८८.

रुचि १५४, १५७.

रुचिगुचरित १६५.

प्रसंगिक अभिलेख ३.

समुद्रमित्र २५.

साकाटक २१

साकप्रतिज्ञा ११०.

सागरप, एक गणतन्त्रिका जय ८१

साधु १५४, १५७.

साधनासी १९, ८१.

साधनीकिन्नामामल ७१.

सावित्रीपुत्र पुत्रमात्रि ५३.

साधुदेव १३१

साधु ८१, ८७, ११८,

साधु-ममल १०२, १०५, १०९

विहारमाल १८४, १९२.

विष्णु ४, ९, ७, ९, ११, १९, १७
४७.

विक्रमकाक (जंगल) ९.

विक्रमचरित १५, १२ १३०, १८०.

विक्रमचरित ३९.

विक्रम-वैभव-वैभव-वैभव ३९,

विक्रम संवत् १, ४, ६, ८, ९, १०,

१४, १५, २० ३०, ३४, ३५, ३६,

३८, ४१, ४७, ४८, ४९ ५०,

५१, ५२, ५३, ५४ ५९ ६५,

६६, ८९ ९३०.

विक्रमादित्य :—

—काक १. ६७.

—माम से संवत् संवत् ४

—विक्रम संवत् के विषय में जाने
वाले लोगों का संवत् ४. ६.

—आरम्भिक समय में विक्रम नाम
के लक्षण का कारण, ७. १०

—के विषय में प्रचलित लोकप्रिय
कथाएँ, १०-१२

—विक्रम साहित्यिक परंपरा १२-
३३.

—से संबंध पौराणिक साधक
२२-२४.

—विक्रम के साहित्य, २४ ३३.

—विक्रम में पुराणविषय साधक
३३-४२

—सुधा-साधक ३०-४२

—विक्रम में वाक प्रसरण का साधक

—विभिन्न विवरण ४५, ४६.

—विक्रम में प्रचलित मिथ्याओं की
समीक्षा ४७-५७,

—विक्रम में कर्तव्य का मत,
४७, ४८,

—कीर्तन का मत, ४८, ४९.

—कर्मिष्ठमन्त्रकीर्तन का मत ४९, ५०

—मार्ग का मत ५१

—तोषाक अन्वय का मत ५२, ५३.

—साधकवाक का मत ५३, ५५.

—भक्तिवाद का मत ५५, ५६.

—कालिका से समसामयिकता ५१.

—व्यक्ति लक्षण साधक विता
५८-७४

—संवा ५८-७५.

—साधक विता, ७५-७७.

—अर्थ एवं आरम्भिक जीवन
७७-८९.

३ —अर्थ की प्रवृत्ति, ७७, ७८,

—अर्थ ७८, ७९.

- नाम और विवर ७७, ७८.
- सिद्धा ७८, ७९.
- विवाद और परिणाम ७९.
- वैश्व सिद्धांत ७९-८१.
- शक्ति-संघर्ष ८१, ८२.
- अमरी की पुनर्प्राप्ति तथा साक्ष्य
तान-स्थापना ८३-९०.
- इस संकल्प ८३.
- सिद्ध-गण ८४-८७.
- संघ-निर्माण, ८७, ८८.
- प्राप्ति का सिद्धांत ८८, ८९.
- राष्ट्रीय संघर्ष प्रवर्तन ८९, ९०.
- राष्ट्राधिकार एवं अन्तर्राष्ट्रिय
९१-९२.
- सिद्धांत ९१.
- राष्ट्राधिकार अन्तर्राष्ट्रिय सिद्धांत ९२.
- अन्तर्राष्ट्रिय, ९२-९३.
- पुनः तथा प्रत्यक्ष ९३-११३.
- सक आक्रमणों से पुनः अन्तर्राष्ट्रिय
९३, ९४.
- पुनः विचार के साहित्यिक उत्प्रेरण
९४, ९५.
- विहित प्रवेष्टों और कोर्तों का
समीकरण १००-१०२.
- विस्तृत विचार की संभावना
१०२, १०३.
- भारत के बाह्य आक्रमण १०३.
- अन्तर्राष्ट्रिय-पथ १०३-१०४.
- विचार एकतावाद १०५, १०६.
- पुनः के विचार से प्रेरणा १०७-
१०९.
- विचारों के समानांतर व्यवहार
१०९, ११०.
- पुनः का स्वरूप ११०, १११.
- के समय साक्ष्यवाद ११२-११३.
- गणसामयिक विचार ११२.
- राज्य के स्वरूप ११२, ११३.
- राज्य का संविधान ११३-११५.
- गणों का संघ ११५, ११६.
- राष्ट्रियपुनः ११६, ११७.
- आदर्श ११७, ११८.
- पुनःनिर्माण ११८.
- कर्तव्य ११८, ११९.
- संविधानिक ११९.
- केन्द्रीय सातल का गठन ११९-
१२१.
- सांकेतिक विभागा १२१.
- राष्ट्रवाद-संघर्षी प्रशासन १२१,
१२२.
- प्रशासनशासन १२२-१२५.
- सैनिक प्रशासन १२५-१२६.
- आर्थिक प्रशासन १२६, १२७.
- वैदेशिक नीति १२७-१२८.
- समय में सामाजिक जीवन १२८-
१२९.
- समय में आर्थिक जीवन १२९-
१३३.
- समय में आर्थिक और साहित्य
१३३, १३४.
- समय में अर्थ और कला १३४-
१३५.
- पुनः में आर्थिक दशा १३५-१३६.
- अन्तिम दिन १३६-१३७.

—जीवनकी विशेषताएँ २५८, २६२.

विक्रमादित्य संक्षेप ६

विक्रमांक सप्तमस्तम्भ ७२, ८१, ८६.

विश्वमोर्वशीय, आकित्वाप्त कृत, १८६

विचारलेखी ६५, ६९, ८८.

विजय गङ्गा अभिलेख ५.

विजयवर्मन् २९, १०६.

विदम्बना ५.

विदर्भ १०१, १०२, १०३, २२७.

विदित्ता ७३, १६०, १६९, १७५, १६६.

विद्यासुन्दर, वारवधि कृत १८६.

विमलसूरी १९१.

विदित्य तीर्थविवरण, भिन्नप्रमदुरिकृत

१८२, १८६.

विताका (वज्रविनी) २८, ६८, ६९.

विश्वकर्मा १७

विश्वविद (वज्र) १५५.

विषमसीक, विक्रमादित्य का एक विद्वद्,

१६ १८, १९, ५०, ७७, ७८ ९२,

९८.

विष्णु १७, ७५, १५४, १५७, १५९,

१६०, १६१, १६२.

वीरभक्त १९१

वीरमती २३, ७६.

वीरविजय काक २५.

वीरसिंह २७.

वृद्धपादित्य (हरि पादलित्य का एक संज्ञा) १७०

वृष्णि ८५.

वेताक १९.

वेताक भद्र ६१, १०८, १८१.

वेत्तव, मो० १३.

वैतरणी नदी १०१.

वेताक वंशविरसति २१.

वेताक २३.

वैदिक धर्म १५४.

वेद्य, वि० विनायक, ५५.

वैष्णव सप्तमस्तम्भ १६०, १६१

व्यास तर्ही ११५.

या

याकट १८, ५६.

याज्ञिक, विक्रम की सभा के एक स्तम्भ, ६१,

१७८, १८१.

संज्ञा भवतिशत गंधर्वात्मिका सुप्त २३

याक ७, ८, ९, १०, २२, २३, २४, २५,

२५, २७, २८, २९, ३०, ३१, ३२,

३३, ३४, ३५, ३६, ३७, ३८, ३९,

४०, ४१, ४२, ४३, ४४, ४५, ४६,

४७, ४८, ४९, ५०, ५१, ५२, ५३,

५४, ५५, ५६, ५७, ५८, ५९,

६०, ६१, ६२, ६३, ६४, ६५,

६६, ६७, ६८, ६९, ७०, ७१, ७२,

७३, ७४, ७५, ७६, ७७, ७८,

७९, ८०, ८१, ८२.

सक अभिषेक २०५.

सक आत्मज्ञान २७, २८, ७९, ८०, ८१,

८२, १८८, २०६.

सक वंशव १४

सक वीर १९, ४३.

सक सुकृष्ण १०९.

सक ग्लोबल १९१.

सक वंश ८८.

सक विलय २०.

सक विलय ८९.

शक्तसंभव ३, ४, ९, १०, २५, ५३,
६१, ६५, ६६, १०९.

शक्तसाधन ३०.

शक्तवृत्ति ६५.

शक्ति ४८, ५१, ५३, ५४, ५६, ५७,
८५, ९२.

शक्तिशक्ति १४५, १४७, १८६

शक्तिशक्ति १०५.

शक्ति (शक्ति) २७.

शक्ति १०.

शक्तिशक्ति, शक्तिशक्ति काव्य के एक
शक्तिशक्ति, १८९

शक्ति १२०

शक्ति १४५.

शक्तिशक्ति ८६.

शक्तिशक्ति (शक्तिशक्ति), १०, ११,
५५, ६५.

शक्ति, शक्ति, १८४.

शक्ति शक्ति शक्ति, ५५.

शक्तिशक्ति ४५.

शक्ति ३१, ४५.

शक्ति ३९, ८४

शक्ति १५, १७, १८, १९, २३, ४५,
७६, ७७, १५४, १५७, १६३,
१६४, १७९, १८०.

शक्तिशक्ति, शक्ति का एक शक्ति २३

शक्तिशक्ति १२७.

शक्तिशक्ति १०१

शक्ति ३०, ३२, ३५, ८७, १५४, १५६,
१६०, १६५, १६७, १७५, १८३,
१८७, २०५.

शक्तिशक्ति ३५, ३६, ११३, १८७, १९३

शक्तिशक्ति ३५.

शक्तिशक्ति २१

शक्तिशक्ति १००

शक्तिशक्ति १००

शक्ति, शक्तिशक्ति, ११८, १२२, १२५.

शक्ति ३७, २८, १९, ४४.

शक्तिशक्ति १०, १६३, १६९, १७३.

शक्तिशक्तिशक्ति ४४.

शक्तिशक्तिशक्ति १६९

शक्तिशक्ति शक्तिशक्ति ४४.

शक्तिशक्ति १, ८५.

शक्तिशक्ति १९.

शक्ति शक्तिशक्ति, शक्ति शक्ति, १४.

शक्तिशक्ति ५५.

शक्ति (शक्ति) १०.

शक्तिशक्ति, शक्ति शक्ति शक्ति एक
शक्ति, १५.

शक्ति शक्ति २०

शक्तिशक्ति ११, १२५, १६९, १९१.

शक्ति

शक्तिशक्ति १६१.

शक्तिशक्ति, शक्ति शक्ति १६५.

शक्तिशक्ति १८०

शक्ति ३, ५, ७, ८, ९, १०, ३८,
२९, ३०, ३१, ३२, ३८, ४२,
४७, ४८, ४९, ५०, ५१, ५२,
५३, ५४, ५८, ६९, ९०.

शक्तिशक्ति ३९, ४८, ५३, ५४, १२८,
१७४, १७५, १८७.

शक्तिशक्ति शक्तिशक्ति १८७.

शक्तिशक्ति शक्तिशक्ति १९, ५९, ६०, ६२,
६७, ७९.

सुक्त (१० चरण) १०८.

सूत्रसाहित्य ६९.

सूक्त, सुक्तवादिन् के सुक्त, १७१

सूति सुहसितम् १७१.

सूर्य १८, १९, ७७, ७९.

सूर्यवंश ६९, ७०.

सूर्यवंशी ७१, ७२.

सोतकर्मिणः सगर, १००.

सोनी, मातर्गो की एक माता, ६५.

६९, ७२, १४४

सोम ६२, १४४, १५४.

सोमदेव १५, १६, १७, ६१, ७४,

७५, ९१, १०४, १०५ १९२.

सोमदेव भद्र ७३.

सौप्रसिक्त, सभरिवाद् की एक शाखा,
१९७.

सौमिक ६३, १८४.

सौमिकन १०२.

सौमिकवंश, गणेशादित्य की शाखा,
१७, ७३.

सौराष्ट्र ८, १७, ६७, ६८, ८७,
८८, ८९, ९०, ९१, १००,

१०३, १२८, १३५.

सकल १५७, १६३.

सकलपुत्र, ५५, ५८, ६०, ७३, ९३९

सकलपुत्रा २३.

सकलको ३०.

सूर्य १६६.

सपदिवाद्, बौद्ध धर्म का एक सप्त-
वाद्, १६७.

सभरिवादी चरित २९.

सिन्ध, वि० पृ०, ६०, ६७, ५५, ७१,
७२, १२०, १३७.

सिन्धकोट (स्यामकोट) ३९.

सिन्धवासपदसूत्र, संग्रहण, १८५.

॥

सिन्धुमा २३.

सिन्धुमा २५, २६, २९, ६८.

सिन्धुमा १८१.

सिन्धुमा १३, १४.

सिन्धुमा २९, २३१

सिन्धुमा २६.

सिन्धुमा १३, १३, १४, १५,
५५ ५५.

सिन्धुमा (हुण) २३.

सिन्धुमा ४, १२, ६८, ७४, ८१, ९९.

सिन्धुमा ७३, ८०, १०६, २३०.

सिन्धुमा २७, ११०, १२८, २३०.

सिन्धुमा ४४

सिन्धुमा ९, ४७, ४८, ४८, ५७, ६९,

६३, ६४, ९८, १०२, १०९,

१०८, १०९, १२५.

सिन्धुमा ७२.

सिन्धुमा ४८

सिन्धुमा २३, २३२.

सिन्धुमा २९.

सिन्धुमा १३०.

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ,	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४२,	३,	छेदना	छोड़नी
४९,	७,	भी बाद	बाद भी
५५,	११,	भारतीय इतिहास	भारतीय इतिहासकारी
५५,	२३,	भाषाशास्त्रादी	भाषाशास्त्रादी
२१,	१०,	मातृभाषा संघ	मातृभाषा संघ
१०-	२२,	पुराविदों	पुराविदों
४०,	१३,	अभिमत	अभिमत
६७,	१,	मातृभाषा	मातृभाषा
९३,	१,	करने	करने
१०७,	१,	बंशावली	बंशावली
१०९,	२४,	विच्छेद	विच्छेद
१०९,	२४,	बत	बत
११९,	५,	एक तांत्रिक	एकतांत्रिक
१२०,	७,	देही	दे ही
१२१,	१०,	राज्य करके	राज्य-कर के
१२१,	१९,	कालिदास निम्नलिखित	कालिदास ने निम्न-
		अवतरण,	लिखित अवतरण
१२९,	२०,	रघु की,	रघु के
११४,	११,	पार्श्वनाथ	पार्श्वनाथ
११७,	१,	वि० ए० रिमथ	वि० ए० रिमथ
१७७,	१,	भाषापूर्ण	भाषापूर्ण
१८२,	७,	होने की	होने की
१८४,	२१,	ने नाम से	के नाम से
१८७,	२६,	की रचना	की रचना
१८९,		मनोवैज्ञानिक	मनोवैज्ञानिक
१९१,		कियाये	कियाये
१९४,		र	रुद्ध
१९६,		प्रतिनिधित्व	प्रतिनिधित्व







Central Archaeological Library,
NEW DELHI

Call No.

179/3.
934-6193/P94.

Author—

Rasbali Pandey

Title—

Vikramaditya.

"A book that is shut is but a block"

CENTRAL ARCHAEOLOGICAL LIBRARY

GOVT. OF INDIA
Department of Archaeology
NEW DELHI.

Please help us to keep the book
clean and moving.